पत्रिका के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

निवेदन

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है, और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास के भीतर भेजी जाती है।

(४) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है; परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

संपादक

हजारीप्रसाद द्विवेदी : कृष्णानंद

सहायक संपादक

पुरुषोत्तम

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५८] संवत् २०१० [अंक १-२

सभासदों को सूचना

सभा की प्रबंध समिति सभा की नियमावली में कुछ संशोधन कर रही है, जो सभासदों के पास भेजने के लिये पत्रिका के इसी अंक (अंक १-२, सं० २०१०) में छपने को थे, और इसी लिये पत्रिका अभी तक सभासदों के पास नहीं भेजी गई थी। परंतु संपूर्ण संशोधन प्रस्तुत होने में अभी कुछ विलंब की संभावना है, अतः यह अंक भेज दिया जा रहा है। शीघ्र ही इसका परिशिष्ट अंक भी, जिसमें सभा की नियमावली के लिये प्रस्तावित संशोधन होंगे, सभासदों के पास भेज दिया जायगा।

प्रधान मंत्री
नागरीप्रचारिणी सभा
काशी

(२) श्लोकों का क्रम भी दो या तीनों पाठों में अलग-अलग है।

यदि ये पाठांतर केवल द्वितीय वर्ग के होते तो यह माना जा सकता था कि ये अंश कहीं जोड़े या निकाले गए हैं, किंतु प्रथम और तृतीय श्रेणी के पाठांतर यह प्रमाणित करते हैं कि ये पाठ किसी चली आती हुई मौखिक परंपरा के ही आधार पर स्वतंत्र रूप से लिपिबद्ध किए गए हैं। भिन्न श्लोकों की संख्या के दृष्टिकोण से पाठांतर बहुत महत्त्वपूर्ण जान पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, पश्चिमोत्तरीय पाठ में जहाँ सुंदरकांड में ४२०२½ श्लोक हैं वहाँ गौडीय में २३०८½ श्लोक तथा

पत्रिका के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

हजारीप्रसाद द्विवेदी : कृष्णानंद

सहायक संपादक

पुरुषोत्तम

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५८] संवत् २०१० [अंक १-२

वाल्मीकि रामायण के तीन पाठ

[श्री कामिल बुल्के, एस्० जे०]

वाल्मीकि रामायण के तीन पाठों की विभिन्नताओं का विश्लेषण करते हुए डा० एच० याकोबी (डस रामायण, पृ० ३) ने उन्हें तीन वर्गों के अंतर्गत रखा है—

(१) जो श्लोक दो या तीन पाठों में मिलते हैं उनमें भी पर्याप्त मात्रा में अंतर पाया जाता है, किंतु दाक्षिणात्य पाठ में मौलिक श्लोक दूसरों की अपेक्षा अधिक हैं।

(२) प्रत्येक पाठ में बहुत से श्लोक, बड़े-बड़े अवतरण तथा पूरे सर्ग तक ऐसे हैं जो किसी एक या शेष दोनों पाठों में नहीं पाए जाते। दाक्षिणात्य और गौड़ीय पाठों की तुलना से विदित होता है कि प्रत्येक की लगभग एक तिहाई अन्य पाठ में नहीं मिलती।

(३) श्लोकों का क्रम भी दो या तीनों पाठों में अलग-अलग है।

यदि ये पाठांतर केवल द्वितीय वर्ग के होते तो यह माना जा सकता था कि ये अंश कहीं जोड़े या निकाले गए हैं, किंतु प्रथम और तृतीय श्रेणी के पाठांतर यह प्रमाणित करते हैं कि ये पाठ किसी चली आती हुई मौखिक परंपरा के ही आधार पर स्वतंत्र रूप से लिपिबद्ध किए गए हैं। भिन्न श्लोकों की संख्या के दृष्टिकोण से पाठांतर बहुत महत्त्वपूर्ण जान पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, पश्चिमोत्तरीय पाठ में जहाँ सुंदरकांड में ४२०२½ श्लोक हैं वहाँ गौड़ीय में २३८५½ श्लोक तथा

दाक्षिणात्य में ३६४८ श्लोक हैं। पश्चिमोत्तरीय पाठ के श्लोकों के लगभग ३१ प्रतिशत श्लोक गौडीय पाठ में तथा २८ प्रतिशत श्लोक दाक्षिणात्य पाठ में नहीं पाए जाते और १३ प्रतिशत श्लोक तो केवल पश्चिमोत्तरीय पाठ में ही पाए जाते हैं (द्रष्ट० सुंदरकांड, लाहौर संस्करण, प्रस्तावना, पृ० ६२)। दाक्षिणात्य और गौडीय पाठों की तुलना करते हुए डा० याकोबी ने किष्किंधाकांड के प्रथम तीस सर्गों के श्लोकों की गणना की थी और पाया था कि दाक्षिणात्य पाठ के १३०३ श्लोकों और गौडीय पाठ के १२२८ श्लोकों में केवल ७४६ श्लोक ऐसे थे जो उभयनिष्ठ थे (द्रष्ट० वही, पृ० ४)।

इन अंकों से पाठांतरों का एक भ्रामक रूप उपस्थित हो सकता है, किंतु उसके निराकरण के लिये हमें इन पाठभेदों को कथावस्तु की दृष्टि से देखने की आवश्यकता है। तब यह स्पष्ट हो जायगा कि इन पाठांतरों के होते हुए भी कथानक में अपेक्षाकृत कम परिवर्तन हो सका है। नीचे एक तालिका दी गई है जिसमें उस दृष्टिकोण से पाठांतरों की एक वैज्ञानिक तथा पूर्ण तुलना है। अंत में प्रस्तुत तुलना के आधार पर तीनों पाठों की उत्पत्ति का निरूपण करने का प्रयास किया गया है। इन पाठांतरों में कुछ विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। अतः उनकी ओर यहाँ संकेत कर देना आवश्यक है।

दाक्षिणात्य पाठ के बालकांड में पौराणिक कथाओं का समावेश हुआ है (द्रष्ट० तालिका, सं० २) और राशिचक्र के नक्षत्रों का भी उल्लेख है (सं० १)। अन्य पाठों में एक तीसरी अनुक्रमणिका (सं० ६) और दो सर्ग हैं, जिनमें भरत के ननिहाल जाने की कथा का वर्णन है (सं० १०)। इसके अतिरिक्त इन दोनों पाठों में इसका उल्लेख किया गया है कि दशरथ ने अपनी पुत्री शांता को लोमपाद को प्रदान किया था (सं० १० अ)।

दाक्षिणात्य पाठ के अयोध्याकांड में वाल्मीकि से रामादि की भेंट (सं० २६) तथा राम कृत बुद्ध-निंदा का (सं० ३०) उल्लेख है। अन्य पाठों में सीता को जनक और मेनका की मानस पुत्री बना दिया गया है (सं० ५८)।

दाक्षिणात्य पाठ ही अरण्यकांड में शूर्पणखा के आगमन के पूर्व रावण के मारीच से भेंट करने का उल्लेख करता है (सं० ६०)।

दाक्षिणात्य पाठ के किष्किंधाकांड में कहा गया है कि जब लक्ष्मण क्रुद्ध होकर किष्किंधा आते हैं तो सुग्रीव उनको शांत करने के लिये तारा को भेजता है (सं० ७७)।

युद्धकांड में पाठांतरों की अधिकता है। अनेक युद्धों की पुनरावृत्ति के साथ ही दाक्षिणात्य पाठ में निम्नलिखित प्रक्षेप भी हैं—

हनुमान का लंका-देवी से युद्ध (सं० ८६), रावण की दूसरी सभा (सं० ११०), रावण द्वारा गुप्तचरों का दुबारा भेजा जाना (सं० १११), राम के बाण से द्रुमकुल्य का संहार (सं० ११२), तथा अगस्त्य का राम को आदित्यहृदय नामक स्तोत्र सिखाना (सं० ११६)।

दूसरी ओर अन्य दोनों पाठों में इन प्रसंगों का उल्लेख है—विभीषण की माता का हस्तक्षेप (सं० १२२, १२४), रावण की प्रथम सभा की परिसमाप्ति पर विभीषण को रावण का पाद-प्रहार (सं० १२३), संजीवनी लाते समय हनुमान को मारने के लिये कालनेमि को भेजने का प्रसंग, और उसी समय हनुमान और गंधर्वों का युद्ध (सं० १३४)

केवल गौड़ीय पाठ में विभीषण की अपने भाई वैश्रवण से भेंट (सं० १२५) तथा संजीवनी लाकर लौटते हुए हनुमान और भरत का संवाद (सं० १३४) ये दो प्रसंग प्राप्त होते हैं। पश्चिमोत्तरीय पाठ में बिल्कुल स्वतंत्र सामग्री है—समुद्र राम और लक्ष्मण को कवच देता है (सं० १२७) और मंदोदरी पर अत्याचार करने से रावण का यज्ञ भंग होता है (सं० १३५)।

उत्तरकांड में केवल एक पाठभेद विचारणीय है। दाक्षिणात्य पाठ में भृगु का विष्णु को शाप ही सीता के परित्याग का कारण बनता है (सं० १४६)। उत्तरकांड के सभी पाठों में इतना साम्य क्यों है, इसके विषय में डा० याकोबी का मत है कि अपने लिखित रूप के पूर्व अन्य कांड उत्तरकांड की अपेक्षा अधिक समय तक मौखिक परंपरा के रूप में प्रचलित थे (डस रामायण, पृ० २५४), किंतु पाठों में इस साम्य को देखकर उत्तरकांड की कोई मौखिक परंपरा अत्यधिक संदिग्ध हो जाती है।

प्रस्तुत तुलनात्मक तालिका का निर्माण डा० याकोबी द्वारा प्रकाशित (वही, पृ० २२०) दाक्षिणात्य और गौडीय पाठों की तुलना तथा पश्चिमोत्तरीय पाठ के संस्करण में दिए हुए पार्श्विक उल्लेखों के आधार पर ही संभव हो सका है (ये उल्लेख अयोध्याकांड के प्रथम ६६ सर्गों में नहीं मिलते)। डा० याकोबी की तुलना बहुत विश्वसनीय है। उसमें मुद्रण की त्रुटियों को छोड़कर बहुत कम त्रुटियाँ हैं; जैसे दाक्षिणात्य में अयोध्याकांड का चौवालीसवाँ सर्ग गौड़ीय के चौंसठवें सर्ग से मिलता

है (द्रष्टव्य तालिका सं० ४६)। लाहौर संस्करण की सामग्री का उपयोग करने में कुछ अधिक सावधानी की आवश्यकता है, उसमें मुद्रण की त्रुटियों के अतिरिक्त बहुत-कुछ छूट भी गया है; जैसे सुंदरकांड का सत्ताईसवाँ सर्ग दोनों अन्य पाठों में अविद्यमान कहा गया है, पर वास्तव में वह दाक्षिणात्य का तैंतीसवाँ और गौडीय का इकतीसवाँ सर्ग है। कहा गया है कि अट्ठाईसवाँ सर्ग दाक्षिणात्य पाठ में नहीं है, किंतु वह उसमें उपलब्ध है (द्रष्ट० सर्ग ३४)। सैंतीसवाँ सर्ग गौडीय पाठ में अनुपलब्ध माना गया है, पर वह उसमें है (द्रष्ट० सर्ग ३७)।

जी० गोरेसियो ने दाक्षिणात्य तथा गौडीय के प्रथम दो कांडों की तुलना अपने संस्करण की भूमिका में दी है (पृ० ४५)। इससे इन दो कांडों का कार्य सुगम हो गया है। सी० वी० वैद्य कृत तुलना यद्यपि अपूर्ण है, तथापि उनकी 'रिड्ल ऑव दि रामायण' में दिया हुआ परिशिष्ट 'दि एक्सटेंट ऑव् दि रामायण इन इट्स बांबे ऐंड बंगाल रिसेंशन्स' बहुत महत्त्वपूर्ण है (द्रष्ट० पृ० १८१-१६०)। जिन पाठभेदों की ओर उन्होंने निर्देश किया है उनके आगे तालिका में 'वैद्य' लिखा है। इस संबंध में एच० विर्ट्ज द्वारा पश्चिमोत्तरीय पाठ पर लिखित निबंध (H. WIRTZ, Die Westliche Rezension des Ramayana) मैं नहीं प्राप्त कर सका।

तुलनात्मक तालिका

प्रस्तुत तुलना में सर्वाधिक प्रचलित दाक्षिणात्य पाठ को तुलना के मापदंड के रूप में लेकर प्रत्येक कांड के लिये निम्नलिखित विभिन्नताओं का उल्लेख किया गया है—

(अ) वह सामग्री जो दाक्षिणात्य पाठ में है और शेष एक या दोनों में नहीं है।

(आ) वह सामग्री जो दाक्षिणात्य पाठ में नहीं है और शेष एक या दोनों में पाई जाती है।

(इ) अन्य पाठांतर जो (अ) या (आ) के अंतर्गत नहीं आते या जो क्रम महत्त्वपूर्ण हैं।

जहाँ कहीं पूर्ण सर्ग या लंबे अवतरण सब पाठों में नहीं मिलते, चाहे उनमें कोई नवीन सामग्री हो या न हो उनका निर्देश कर दिया गया है; जहाँ भी रामायण-

मंजरी का उल्लेख नहीं है वहाँ उसका अर्थ है कि या तो उसका पश्चिमोत्तरीय पाठ से साम्य है या उसमें पश्चिमोत्तरीय से विरोध नहीं है।

संकेत-चिह्न—निम्नलिखित संकेत-चिह्नों का प्रयोग किया गया है—

दा०—दाक्षिणात्य पाठ, प्रकाशक गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बंबई, १९१२ ई०; यह संस्करण निर्णयसागर संस्करण से लगभग पूरा पूरा मेल खाता है।

गौ०—गौडीय पाठ, संपादक जी० गोरेसियो, पेरिस, १८४३ ई०।

प०—पश्चिमोत्तरीय पाठ, प्रकाशक डी० ए० वी० कॉलेज, लाहौर, १९२३ई०।

इन संकेत-चिह्नों के साथ दी हुई संख्याओं में पहली सर्गों तथा दूसरी श्लोकों के लिये प्रयुक्त है (जैसे दा० १८।८)। जहाँ केवल एक ही संख्या है (जैसे दा० ५३) वहाँ वह पूरे सर्ग के लिये दी गई है। जहाँ कांडों का निर्देश आवश्यक है वहाँ बाल०, अयो०, अर० आदि संकेत-चिह्नों का प्रयोग हुआ है (जैसे दा० बाल० १४।३५)।

बालकांड

(अ) वह सामग्री जो दाक्षिणात्य पाठ में है और शेष एक या दोनों में नहीं है

१—राजकुमारों के जन्म के समय राशिचक्र के नक्षत्रों तथा तिथि (चैत्र नवमी) का उल्लेख करते हुए, ग्रहों का शुभ संयोग (दा० १८।८ आदि)। यह गौ० तथा प० में नहीं है।

२—कश्यप की तपस्या, जिसके फलस्वरूप उन्हें हरि वामनावतार में पुत्र रूप में प्राप्त हुए (दा० २९।१०–१७)। गौ० तथा प० में नहीं है।

३—उमा और शिव का विवाह (दा० ३५।१९-२२ तथा प० ३२। २४–२६)। गौ० में नहीं है।

४—जह्नु का गंगा-पान, (दा० ४३।३४-४१)। गौ० तथा प० में नहीं है।

५—विष्णु का मोहिनी-माया रूप धारण करके अमृत चुराना (दा० ४५।४०-४३)। गौ० तथा प० में नहीं है।

६—विष्णु का कच्छपावतार (दा० ४५।२७–३२)। गौ० तथा प० में नहीं है।

७—इंद्र का विप्र-रूप धारण करना और विश्वामित्र से ओदन माँगना (दा० ६५।३–१०)। गौ० तथा प० में नहीं है।

८—सगर की उत्पत्ति की कथा (दा० ७०।२८-३७)। गौ० तथा प० में नहीं है।

(आ) वह सामग्री जो दाक्षिणात्य पाठ में नहीं है और शेष एक या दोनों में है

९—तीसरी अनुक्रमणिका जिसमें सातों कांडों की कथावस्तु का निर्देश है (गौ० ४, प० ३)।

१०—भरत की राजगृह-यात्रा से संबंधित दो सर्ग; दा० में उस यात्रा का उल्लेख मात्र मिलता है (दा० ७७)। भरतस्य मातामहगृहप्रवेश—दशरथ भरत और शत्रुघ्न को राजगृह भेजते हैं (गौ० बाल० ७९ तथा प० अयो० १)। भरतदूतागमन—भरत और शत्रुघ्न की शिक्षा, भरत के भेजे हुए दूतों का अयोध्या समाचार लाना (गौ० बाल० ८० तथा प० अयो० २)।

१०अ—गौडीय (सर्ग १०) तथा पश्चिमोत्तरीय (सर्ग ९) पाठों में इसका स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया गया है कि दशरथ ने अपनी पुत्री शांता को निस्संतान लोमपाद को दे दिया था। दा० में दशरथ तथा रोमपाद के किसी विशेष संबंध की ओर निर्देश किया गया है (दा० ११।१७) फिर भी दशरथ तथा शांता के किसी संबंध का उल्लेख नहीं मिलता; शांता रोमपाद की कन्या मानी गई है (दा० ९।१६)।

(इ) अन्य भेद

११—अश्वमेध-यज्ञ। दाक्षिणात्य पाठ में अधिक विस्तार है। कौशल्या का तीन आघातों में घोड़े को मारना (दा० १४।३३); दा० का यह उल्लेख गौ० (१३।३२) और प० (१०।३३) में परिवर्तित कर दिया गया है (वैद्य)।

११अ—पायस-विभाजन। दाक्षिणात्य पाठ के अनुसार दशरथ कौशल्या को आधा भाग देते हैं, सुमित्रा को चतुर्थांश (अर्धादर्धम), कैकेयी को अष्टमांश (अवशिष्टार्धम्) तथा पुनः सुमित्रा को अष्टमांश (दा० १६।२७–२९)। गौडीय तथा पश्चिमोत्तरीय पाठों में कैकेयी का महत्त्व बढ़ाने के उद्देश्य से विभाजन में इस प्रकार परिवर्तन कर दिया गया है—कौशल्या को आधा भाग मिलता है, कैकेयी को चतुर्थांश तथा सुमित्रा को अंतिम चतुर्थांश के दोनों भाग—

चतुर्भागं द्विधा कृत्वा सुमित्रायै ददौ तदा।
प्रददौ चावशिष्टं तत् पायसं देवनिर्मितं।
अनुचिन्त्य सुमित्रायै पुनरेव नराधिपः ॥२३॥ (गौ० १५, प० ११)

१२—ऋष्यश्रृंग का प्रसंग। गौ० तथा प० में अधिक विस्तृत है; यहाँ तक कि दोनों में दो अतिरिक्त सर्ग मिलते हैं—ऋष्यश्रृंग-प्रयाणम् (गौ० १७, प० १२) और ऋष्यश्रृंगोपाख्यानम् (गौ० १८, प० १३)।

१२अ—उत्तरीय पाठों में भरत को लक्ष्मण का अनुज माना गया है (गौ० १६।१०), जब कि दा० पाठ में लक्ष्मण भरत के अनुज हैं। फिर भी दा० के एक उल्लेख से यह आभास मिलता है कि भरत ही अनुज हैं (द्रष्टव्य युद्धकांड १२। ४१, जहाँ भरत राम तथा लक्ष्मण दोनों को प्रणाम करते हैं)।

१३—ताड़का-वध (दा० २८)। दाक्षिणात्य पाठ में अधिक ब्योरा तथा अलौकिक तत्त्व मिलते हैं।

१४—गंगावतरण। दाक्षिणात्य पाठ में शिव जी के मस्तक से सात नदियों के निकलने का उल्लेख है (दा० ४३।११); अन्य पाठों में केवल एक का उल्लेख है (गौ० ४५ तथा प० ४०)।

१५—समुद्र-मंथन। दाक्षिणात्य पाठ में सर्प के विष-वमन तथा शिव जी के विष-पान की कथा है (दा० ४५।१६–२६); अन्य पाठों में विष महासागर से आता है और उसको नाग पीते हैं (गौ० ४६।३१ और प० ४१।३०–३१)।

१६—दिति के पुत्र। दा० पाठ (४६।१८) के अनुसार इंद्र दिति के भ्रूण को सात भागों में किंतु अन्यों के अनुसार उनचास भागों में (गौ० ४७।१७–१८; प० ४२।१८-१६) विभक्त कहते हैं। इस विषय में रामायण-मंजरी दा० का अनुसरण करती है (श्लोक २८६)।

१७—अंबरीष का यज्ञ। कुछ गौण अंतर। दा० में विष्णु और इंद्र के प्रति दो मंत्रों का उल्लेख है (६२।२५), जब कि दूसरों में केवल इंद्र के ही प्रति एक है (गौ० ६४।२५, प० ५८।२५)। यहाँ रामायण-मंजरी ने दा० पाठ का अनुसरण किया है, क्योंकि उसमें 'गाथाद्वयम्' का उल्लेख है (श्लोक ४४४)।

१८—वंशावली तथा विवाह-रीतियों में कुछ गौण परिवर्तन (दा० ७०,७१ तथा ७३)।

१९—सी० वी० वैद्य का कथन है कि 'अपने पतियों के साथ युवतियों की क्रीड़ा' के विषय में लिखित श्लोक—

रेमिरे मुदिताः सर्वा भर्तृभिः सहिता रहः। (दा० ७७।१४)

गौड़ीय (७८।१२) और पश्चिमोत्तरीय (७२।११) पाठ में इस प्रकार परिवर्तित कर दिया है—

रेमिरे मुदितास्तत्र भर्तृप्रियहिते रताः ।

यह बाद में प्रचलित बाल-विवाह की प्रथा के कारण हुआ होगा ।

अयोध्याकांड

(अ) वह सामग्री जो दा० पाठ में है और शेष एक या दोनों में नहीं है

२०—सर्ग ३५; सुमंत्र का कैकेयी को धिक्कारना तथा उसके पिता द्वारा उसकी माता के त्याग की कथा बताना । गौ० तथा प० दोनों में नहीं है ।

२१—सर्ग ४७; प्रातःकाल राम को न पाकर लोगों का विलाप । गौ० तथा प० दोनों में नहीं है ।

२२—राम का अयोध्या से बिदा लेना तथा लोगों को लौटाना (दा० ५०।१-११ तथा प० ५०।१७–२३) । गौ० ४७ में नहीं है ।

२३—गंगा का व्याख्यात्मक वर्णन (दा० ५०।१३-२४) । अन्य दोनों पाठों में नहीं है ।

२४—वत्स-देश का उल्लेख (दा० ५२।१०१) । गौ० तथा प० दोनो में नहीं है (वैद्य) ।

२५—यमुना पार करने के लिये बेड़ा बनाने का वर्णन ; सीता द्वारा यमुना को सौ घट सुरा चढ़ाने की मनौती । अंतिम प्रसंग गंगा की मनौती का अनुकरण है (दा० ५५।१३-२१) । गौ० ५५ तथा प० ५६, दोनों में नहीं है ।

२६—वाल्मीकि से भेंट (दा ० ५६।१६-१७) । गौ० ५६ और प० ६० में नहीं है ।

२७—सीता का मांस खाना (दा० ९६।१–६) । गौ० १०६ और प० ११० में नहीं है, किंतु गो० और प० दोनों में ही अन्यत्र सीता के मांस खाने का उल्लेख है । उदाहरणार्थ द्रष्टव्य गौ० (५२।३८) ।

२८—सर्ग ९८; भरत गुह और शत्रुघ्न को वन में राम का पता लगाने के लिये भेज देते हैं और स्वयं वृक्ष पर चढ़कर राम की कुटी के ऊपर धूम्र देखते हैं । यह प्रसंग प० ११२ में हैं; वहाँ भरत वृक्ष पर न चढ़कर चित्रकूट के शृंगों पर खोजते हैं । यह गौ० में नहीं है ।

२९—राम का जाबालि को उत्तर (दा० १०९ और गौ० ११८) । प० में नहीं हैं, परंतु रामायण-मंजरी में है ।

३०—बुद्ध-निंद्रा (दा० १०९।३४) । गौ० ११८ तथा रामायण-मंजरी में नहीं है; प० में भी नहीं है, जहाँ पूरे सर्ग का अभाव है (द्रष्टव्य ऊपर सं० २९) ।

(आ) वह सामग्री जो दा० पाठ में नहीं है और शेष एक या दोनों में है

३१—एक ब्राह्मण का कैकेयी को शाप देना। कैकेयी ने एक बार एक ब्राह्मण को अपशब्द कहे, उसने उसको शाप दिया; इसी लिये 'शापदोषमोहिता' होकर वह मंथरा के प्रभाव में आ जाती है (गौ० ८।३३–३७ तथा प० ११।३७-४१)। दा० में इसके विषय में कुछ नहीं है (दा० ९)।

३२—कैकेयी के दशरथ को राक्षसों से बचाने तथा दो वरदान पाने की कथा। उसने एक बार एक ब्राह्मण को हँसाकर विद्या-बल प्राप्त किया था, उसी के द्वारा वह अपने पति को बचा सकी थी (प० ११।४२आदि)। यह अन्य पाठों में नहीं है।

३३—निम्नलिखित तीन सर्ग दा० पाठ में पूर्ण रूप से अविद्यमान हैं—गौ० २१, प० २४, राम द्वारा लक्ष्मण के वक्तव्य (दा० २३, गौ० २० और प० २३) का उत्तर; गौ० २२, प० २५, कौशल्या का कथन कि पिता की अपेक्षा माता की आज्ञा अधिक मान्य होती है; गौ० २३, प० २६, राम का कौशल्या को उत्तर।

३४—राम का गमन के पूर्व माता को पिता को सौंपना। (गौ० ३७।२०-२४ और प० ४०। २० आदि)। दा० ३७ में नहीं है।

३५—लक्ष्मण-संदेश। लक्ष्मण दशरथ के प्रति अपना क्रोधपूर्ण संदेश सुनाते हैं; राम लक्ष्मण को शांत करते हैं (गौ० ५० और प० ५४)।

३६—गुह से बिदा लेकर तीनों निर्वासित एक सरोवर पर आते हैं; वहाँ के कमलगट्टे खाकर तीन रात निवास करते हैं (गौ० ५२। २९–३८, प० ५६। २७–३८)। दा० ५२ में नहीं है।

३७—कौशल्या-विलाप (गौ० ६१ और प० ६५)।

३८—भरत का अपनी माता की निंदा करना (गौ० ७८।२-९ और प० ८२।२–९)। दा० ७५ में नहीं है।

३९—भरत-शपथ (दा० ७५) के पश्चात् गौ० तथा प० दोनों में दो सर्ग (वसिष्ठ-वाक्य तथा भरत-विलाप) जोड़ दिए गए हैं (गौ० ८०–८१, प० ८४–८५)।

४०—दशरथ की अंत्येष्टि तथा भरत-शत्रुघ्न के विलाप के पश्चात् दोनों उत्तरीय पाठों में (गौ० ८५ और प० ८६) एक सर्ग पाया जाता है जिसमें भरत

के प्रायोपवेशन के संकल्प तथा धर्मपाल के धैर्य-प्रदान के साथ जल-क्रिया का भी उल्लेख किया गया है।

४१—गुह-वाक्य। गुह का भरत की प्रशंसा करना (गौ० ९३ और प० ९७)।

४२—प्रयाग-प्रवेश। गुह मार्ग बताता है तब भरत प्रयाग-वन में प्रवेश करते हैं और भारद्वाज-आश्रम पहुँचते हैं (गौ० ६८, प० १०२)।

४३—जाबालि द्वारा इक्ष्वाकु-वंश के राजाओं का उल्लेख (गौ० ११६।२८ आदि)। यह दा० और प० दोनों में नहीं है।

४४—गौड़ीय पाठ में भरत के राज्य अस्वीकार करने पर एक सर्ग है (गौ० ११७)। यह सर्ग प० में बिल्कुल नहीं है, कुछ अंशों में दा० १०५ में उपस्थित है।

(इ) अन्य भेद

४५—दाक्षिणात्य पाठ में मंथरा राम की पत्नियों का उल्लेख करती है—"हृष्टाः खलु भविष्यन्ति रामस्य परमाः स्त्रियः" (दा० ८।१२)। दूसरे पाठ में यह पंक्ति इस प्रकार देते हैं—"ऋद्धियुक्ता श्रिया जुष्टा रामपत्नी भविष्यति" (गौ० ७.६ और प० १०।६; वैद्य)।

४६—कैकेयी-निंदा। दाक्षिणात्य पाठ में बारहवाँ सर्ग अर्थात् दशरथ का कैकेयी की निंदा करना अन्य पाठों के समानांतर सर्गों की अपेक्षा बहुत बड़ा है। लेकिन गौ० और प० दोनों में इसी विषय पर एक अन्य सर्ग है (गौ० ४४ और प० ३७), जो दाक्षिणात्य पाठ के बारहवें सर्ग से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

४६ अ—दा० १४।५५ में कैकेयी सुमंत्र को राम को लौटा लाने की आज्ञा देती है; अन्य पाठों में दशरथ आज्ञा देते हैं (गौ० ११, प० १५)।

४७—दाक्षिणात्य पाठ का वह श्लोक जिसमें राम अपनी माता को आहुति करते देखते हैं (ददर्श मातरं हवयन्तीं हुताशनम् , दा० २०।१६), दोनों अन्य पाठों में परिवर्तित हो गया है (गौ० १७।८ तथा प० २०।८); उनमें वह इस प्रकार है—"ददर्श मातरम् तत्र देवागारे यतव्रताम्" (वैद्य)।

४८—जब रामादि वल्कल धारण कर चुके तो वसिष्ठ कैकेयी को डाँटते हैं (दा० ३७।१४ आदि)। अन्य पाठों में स्वयं दशरथ ही डाँटते हैं (गौ० ३७।१५ आदि तथा प० ४०।१५ आदि)। इसके अतिरिक्त दा० में राम सीता को वल्कल पहनने में सहायता देते हैं; गौ० तथा प० में सीता स्वयं पहनती हैं (वैद्य)।

४६—दाक्षिणात्य का चौबीसवाँ सर्ग जिसमें सुमित्रा कौसल्या को समझाती हैं और जिसको गौ० ४२ के पश्चात् आना चाहिए, अन्य पाठों में बहुत बाद में है (गौ० ६४; प० ६८)।

५०—सीता की गंगा से मनौती (सुराघटसहस्र, दा० ५२।८९) अन्य-पाठों में परिवर्तित हो गई है (गौ० ५२ तथा प० ५६); इन दोनों में सुरा का उल्लेख नहीं है (वैद्य) ।

५१—दाक्षिणात्य पाठ की एक ही पर्ण-कुटी के स्थान पर (दा० ५६।२०) अन्य पाठों में दो का उल्लेख है (गौ० ५६ । २० और प० ६०.२०)।

५२—कौसल्या के विलाप में स्त्री के तीन आश्रयों का उल्लेख है—पति, पुत्र, संबंधी (दा० ६१.२४)। यह अन्य दोनों पाठों में परिवर्तित हो गया है (गौ० ६२।३८ और प० ६६।३६)। इनमें मनुष्य की चार गतियों (आज्ञा, पुत्र, संत और धर्मसंचय) का उल्लेख हुआ है।

५३—दशरथ द्वारा मुनि-पुत्र का वध। तीनों पाठ उसकी माता को शूद्रा कहते हैं; दाक्षिणात्य उसके पिता को वैश्य (६३ । ५१) और अन्य दोनों पाठ उसे ब्राह्मण कहते हैं (गौ० ६५ । ४३ और प० ६९ । ४४)। ये दोनों उसको यज्ञदत्त नाम देते हैं (गौ० ६६।६ तथा प० ७०।६)। दाक्षिणात्य में नाम का उल्लेख ही नहीं है।

५४—दशरथ का अंतिम संस्कार तथा भरत-शत्रुघ्न का विलाप (दा० ७६ और ७७)। अन्य पाठों में भिन्न-भिन्न शब्दों में हैं (गौ० ८३-८४ और प० ८७-८८)।

५५—दाक्षिणात्य के सर्ग १०१ का प्रथम श्लोक, सौवें सर्ग के प्रक्षिप्त होने के कारण, असंगत है और अन्य पाठों में परिवर्तित कर दिया गया है (वैद्य; गौ० ११०, प० ११४)।

५६—दाक्षिणात्य पाठ में जो ब्रह्मा के वराहावतार का उल्लेख है (दा० ११०।३) वह अन्य पाठों में परिवर्तित हो गया है (वैद्य)। दाक्षिणात्य पाठ में शतपथ ब्राह्मण (१४।१।२।११) का अनुसरण किया गया है। पाठ इस प्रकार है—

ततः समभवद् ब्रह्मा स्वयंभूर्दैवतैः सह ॥ ३ ॥
स वराहस्ततो भूत्वा प्रोज्जहार वसुन्धराम्।
असृजच्च जगत्सर्वं सह पुत्रैः कृतात्मभिः ॥ ४ ॥

अन्य दोनों पाठ (गौ० ११६ तथा प० १२३) बाद को सर्वमान्य मत को ही आश्रय देते हैं, जिसके अनुसार विष्णु ने ही वराह का अवतार धारण किया था। अत: उनमें लिखा है—

ततः समभवद् ब्रह्मा स्वयंभूर्विष्णुरव्ययः ॥
स वराहोऽथ भूत्वा···। (गौ० ११६।३-४)

५७—पादुकाओं का प्रसंग तीनों पाठों में भिन्न भिन्न है। दाक्षिणात्य पाठ में (११२.२१ आदि) भरत राम से उनकी 'हेमभूषित' पादुकाएँ माँगते हैं, जिनमें वे शासन का अधिकार रखना चाहते हैं। गौडीय पाठ में (१२३।१६-२१) शरभंग ऋषि राम को "कुशपादुका" भेजते हैं और वसिष्ठ राम से उन्हें भरत को दे देने के लिये कहते हैं (गौद्य)। पश्चिमोत्तरीय पाठ में शरभंग और कुशपादुका का उल्लेख ही नहीं है, किंतु गौडीय पाठ की भाँति उसमें भी वसिष्ठ ही राम से पादुकाएँ देने के लिये कहते हैं (प० १२५।१९ आदि)।

५८—दाक्षिणात्य पाठ (११८।२८ आदि) में सीता अपनी उत्पत्ति की कथा अनसूया को इस प्रकार बताती हैं कि जब जनक हल चला रहे थे तो मैं भूमि से ही निकली थी और आकाशवाणी हुई थी कि यह धर्म से तुम्हारी पुत्री है (धर्मेण तनया तव)। गौडीय (अर० ४) तथा पश्चिमोत्तरीय (अर० २) दोनों में कथा इस प्रकार है कि जनक मेनका को आकाश में देखकर मोहित हो जाते हैं और सोचते हैं—

अस्यां नाम ममोत्पद्येदपत्यं कीर्त्तिवर्धनम्।
ममापत्यविहीनस्य महान् स स्यादनुग्रहः ॥ १० ॥ (गौ० ४)

आकाशवाणी से उनको आश्वासन मिलता है कि उनकी आकांक्षा पूर्ण होगी। इसके अनंतर वे खेत में एक बालिका पाते हैं, उस समय फिर आकाशवाणी होती है कि यह तुम्हारी मानस तनया है जो मेनका से उत्पन्न हुई है—"मेनकायाः समुत्पन्ना कन्येयं मानसी तव" (गौ० अर० ४।१६)। प० में पंक्ति वही है परंतु 'मानसी' को 'मानुषी' कर दिया गया है।

अरण्यकांड

(अ) वह सामग्री जो दा० में है और शेष एक या दो में नहीं है

५९—राम द्वारा कैकेयी की निंदा (दा० २।१८-२५)। गौ० ७ में है किंतु प० ५ में नहीं है।

६०—अकंपन रावण के पास जनस्थान से समाचार लाता है और सीता-हरण की सम्मति देता है; इसपर रावण मारीच से भेंट करता है (दा० ३१)। गौ० तथा प० दोनों में नहीं है।

६१—सीता के लिये राम का विलाप दाक्षिणात्य में सबसे विस्तृत है। दाक्षिणात्य में गौड़ीय से तीन सर्ग और पश्चिमोत्तरीय से दो सर्ग अधिक हैं।

(अ) दा० ६० में राम सीता को खोजते हुए वृक्षों और पशु-पक्षियों से पूछते हैं। यह गौ० में नहीं है किंतु प० में है।

(आ) दा० ६२, साठवें सर्ग की पुनरावृत्ति। अन्य दोनों पाठों में नहीं है।

(इ) दा० ६३, राम का त्रिष्टुभ् छंद में विलाप। गौ० तथा प० में नहीं है।

६२—अयोमुखी राक्षसी की कथा; लक्ष्मण इसका अंग-भंग करते हैं (दा० ६६।११-१८)। गौ० ७४ तथा प० ७६ में नहीं है।

६३—कबंध को शाप देनेवाले ऋषि स्थूलशिरस् की कथा (दा० ७१।२-७)। गौ० ७५ में यह प्रसंग नहीं मिलता, किंतु गोरेसियो का कथन है कि यह कथा प्रक्षिप्त प्रतीत होती है, अतः उसे मैंने काट दिया है। प० ७८ में भी है इसलिये यद्यपि यह कथा प्रक्षिप्त है, किंतु विभिन्न पाठों के पृथक् हो जाने के पूर्व की है।

६४—शबरी का राम को 'देववर' कहना (दा० ७४।११-१३)। यह न तो गौ० ७७ में है और न प० ८० में।

(आ) वह सामग्री जो दा० पाठ में नहीं है और शेष एक या दोनों में है

६५—प० पाठ में अगस्त्य राम को दंडक वन की कथा सुनाते हैं (प० १७।१० आदि)। यह दा० तथा गौ० के समानांतर सर्गों में नहीं है। प० के संग्रहकर्ताओं ने इस प्रसंग को उत्तरकांड से लेकर यहाँ रख दिया है (दा० उत्तर० ७९-८१)।

६६—शूर्पणखा रावण-चरित्र के वर्णन में कहती है कि रावण ने गोकर्ण पर तपस्या की और उसने कामरूपत्व का वरदान पाया। (गौ० ३६। १८-२२ तथा प० ३६)। ये दोनों बातें दा० ३२ में नहीं हैं।

६७—रावण-मारीच-संवाद पर गौ० तथा प० में दा० की अपेक्षा दो सर्ग अधिक हैं—

गौ० ४६ और प० ४५-रावण के प्रस्ताव पर मारीच की और आपत्तियाँ;

गौ० ४७ और प० ४६—रावण मारीच को विश्वास दिलाता है कि उसे राम से डरने का कोई कारण नहीं है।

(इ) अन्य भेद

६८—विराध। दाक्षिणात्य पाठ के अनुसार विराध राम और लक्ष्मण को ले जाता है। वह शस्त्रों द्वारा मारा नहीं जा सकता और जीवित ही एक गड्ढे में फेंक दिया जाता है (दा० ३-४)। ये सब बातें गौ० ८ और प० ५ में नहीं हैं। दूसरी ओर इन दोनों में कुछ ऐसी सामग्री है जो दा० में नहीं है। विराध श्वेत रक्त वमन करता है और स्वर्ग जाते समय दिव्य रूप धारण करता है।

६९—जटायु। तीनों पाठों में जटायु से प्रथम भेंट, प्रजापति के प्रति उसका भाषण तथा सीता-रक्षण की उसकी प्रतिज्ञा वर्णित है (दा० १४, गौ० २० तथा प० १९)। गौ० (२३।३-१०) में जटायु अपने घर जाने और मित्रों तथा संबंधियों से भेंट करने की अनुमति लेता है। यह प्रसं। प्रत्यक्ष रूप से सीताहरण के पूर्व उसकी असावधानी तथा निष्क्रियता का कारण दिखाने के लिये जोड़ा गया है। दाक्षिणात्य (दा० ४३) तथा पश्चिमोत्तरीय (प० ४८) दोनों में राम स्वर्ण-मृग को मारने के लिये प्रस्थान करने के पूर्व सीता को लक्ष्मण तथा जटायु को सौंपते हैं। यह गौ० में नहीं है, क्योंकि जटायु का गृह-गमन उसमें स्पष्ट ही वर्णित है। केवल दाक्षिणात्य पाठ में ही सीता सोते हुए जटायु को राम-लक्ष्मण से कहने के लिये संदेश देती है (दा० ४९।३६-४०)। तीनों पाठ जटायु के जागकर रावण को ललकारने का वर्णन करते हैं (दा० ५०, गौ० ५६ तथा प० ५५)।

७०—राम का दिव्य पराक्रम। दाक्षिणात्य पाठ के एक श्लोक में राम के दिव्य और मानवीय पराक्रम का उल्लेख है (दा० ६६।१९); अन्य पाठों में राम के पराक्रम तथा उनके दिव्य एवं मानवीय शस्त्रों का उल्लेख है (गौ० ७१ प० ७२)।

७० अ—केवल गौडीय पाठ में ही यह पाया जाता है कि राम के गांधर्व अस्त्र से मोहित होकर राक्षस अपने पक्षवालों में ही राम की प्रतिमूर्ति पाते हैं और एक दूसरे का वध करते हैं (गौ० ३१।४६-४७)।

७१—पंपासर का वर्णन। यह वर्णन दाक्षिणात्य पाठ में (७५।१३-५०) पश्चिमोत्तरीय (८१) की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। गौडीय पाठ के समानांतर

सर्ग में यह बिल्कुल नहीं है (गौ० ७८)। दाक्षिणात्य के इस विषय संबंधी अगले सर्ग में १३० श्लोक (दा० कि०, सर्ग १) गौडीय पाठ में घटकर ५१ (गौ० ७९) और पश्चिमोत्तारीय में ५९ रह गए हैं (प० ७९)।

किष्किंधाकांड

(अ) वह सामग्री जो दा० पाठ में है और शेष एक या दोनों में नहीं है।

७२—राम का हनुमान की वाक्पटुता तथा व्याकरण-ज्ञान की प्रशंसा करना (दा० ३।२८-३८) । गौ० २ तथा प० २ में नहीं है।

७३—राम और सुग्रीव में मित्रता हो जाने के पश्चात् सुग्रीव राम से बालि के अन्याय का वर्णन करते हैं और राम सुग्रीव की सहायता करने की प्रतिज्ञा करते हैं (दा० ५।१७-३१)। ये श्लोक गौ० ४ तथा प० ४ दोनों में नहीं हैं।

७४—हनुमान का तारा को ढाढ़स देना। एक पूरा सर्ग है (दा० २१, गौ० २३)। प० में नहीं है।

७५—दाक्षिणात्य पाठ में बालि की मृत्यु तथा तारा को राम के धैर्य-प्रदान के पश्चात् सुग्रीव के पश्चात्ताप पर एक सर्ग है (दा० २४)। गौ० तथा प० में नहीं है।

७६—दाक्षिणात्य पाठ के तीन बड़े बड़े वर्णन—

(अ) प्रस्रवण गिरि का वर्णन (दा० २७।५-३०)। गौ० २६ तथा प० २० में नहीं है।

(आ)—त्रिष्टुभ् में वर्षा-वर्णन (दा० २८।१४-५२)। गौ० २७ मे नहीं है, आंशिक रूप से प० २१ में है।

(इ)—त्रिष्टुभ् में शरत् का वर्णन (दा०३०।२८-५७)। गौ० २६ तथा प० २३ में नहीं है।

७७—तारा-लक्ष्मण-संवाद। जब क्रुद्ध लक्ष्मण सुग्रीव के राजभवन में आते हैं तो सुग्रीव उनको शांत करने के लिये तारा को भेजते हैं। (दा० ३३।२५-६२)। गौ० ३३ तथा प० २६ में नहीं।

७८—प० में एक पूरा सर्ग छूट गया है—राम का अपनी सफलता की आशा प्रकट करना तथा वानर-सेना का आगमन (दा० ३९, गौ० ४३)। रामायण-मंजरी में इसी विषय पर कुछ सामग्री है (२।२१८)।

(आ) वह सामग्री जो दा० पाठ में नहीं है किंतु शेष दोनों या एक में है

७९—बालि द्वारा रावण की पराजय (गौ० १०)। यह दा० तथा प० के किष्किंधाकांड में नहीं है और उत्तरकांड से लिया गया है (दा० उत्तर० ३४)।

८०—तारा-वाक्य। प० के सर्ग ११ में तारा बालि से द्वंद्व-युद्ध न करने के लिये आग्रह करती है। यह गौ० पाठ (१४।२५-३२ तथा १५।५-६) में है। दाक्षिणात्य में ये पंक्तियाँ नहीं हैं।

८१—जब लक्ष्मण सुग्रीव से राम के पास जाने को कहते हैं तो सुग्रीव अपनी शंका प्रकट करते हैं और हनुमान फिर विश्वास दिलाते हैं (गौ० ३८।६-२२ तथा प० ३१)। दाक्षिणात्य में यह प्रसंग नहीं है।

८२—उत्तर दिशा के वर्णन का एक अंश दा० ४३ में नहीं है। इसमें संपूर्ण वर्णन ६१ श्लोकों में आ जाता है, जब कि गौडीय में १३० श्लोक हैं। मैनाक के उत्तर में इन पर्वतों का गौ० तथा प० में उल्लेख है और दा० में नहीं है—त्रिशृंग, गंधमादन, मंदर और बहुकेतु (गौ० ४४।४६-७७ तथा प० ३६)।

८३—सुपार्श्व का प्रकट होना (गौ० ६२ तथा प० ५५।१९ आदि)। दा० ६३ में नहीं है। जब जांबवान् संपाति से समुद्र पार करने में सहायता माँगता है तो वह अपने को असमर्थ पाकर अपने पुत्र का स्मरण करता है (मनसाऽस्मरत्)। सुपार्श्व आता है और अंगद से अपनी पीठ पर उस पार ले चलने के लिये कहता है। अंगद अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि अब हममें फिर साहस आ गया है।

८४—धवल-वध। हनुमान कहते हैं कि उनके पिता ने धवल नाम के दिग्गज को मार डाला था, क्योंकि वह ऋषियों को सताता था (प० में शंखशवल, रामायण-मंजरी में शंखधवल है)। इससे उनको वरदान मिला; उन्होंने एक "मरुत्-विक्रम कामरूपी तथा अव्यय" पुत्र माँगा। इसी के बाद अंजना की कथा प्रारंभ होती है (गौ० सुं० ३।७-३४ ; प० कि० ५८)। यह दा० कि० ६७ में नहीं है।

८५—हनुमन्मंगलम्। हनुमान के वक्तव्य के पश्चात् वानर लोग हनुमान की वीरता की प्रशंसा करते हैं (प० कि० ५६)। यह दा० कि० ६७, गौ० सुं० ३ और रामायण-मंजरी तीनों में नहीं है।

(इ) अन्य भेद

८६—तारा-विलाप। गौडीय तथा पश्चिमोत्तरीय पाठों में अधिक विस्तार

से है। इसपर गौ० तथा प० में ११८ श्लोक हैं (गौ० १६-२०, प० १५।२६-६१ और १६), जब कि दा० में केवल २६ श्लोक हैं (दा० २०)।

८७—सुपार्श्व ने अपने पिता संपाति से बताया कि जब मैं शिकार की ताक में महेंद्र पर्वत पर बैठा हुआ था तभी मैंने किसी को घाटी में होकर जाते हुए देखा—

तत्र कश्चिन् मया दृष्टः सूर्योदयसमप्रभाम् ।
स्त्रियमादाय गच्छन्वै भिन्नांजनचयोपमः ॥१४॥ (दा० ५६)

इसके अनुसार रावण उस दर्रे से होकर पैदल जा रहा था। इसलिये यह अन्य पाठों में परिवर्तित कर दिया गया है—

तत्र कश्चिन्मया दृष्टः सूर्योदयसमप्रभः ।
खमावृत्याभिधावंश्च स्त्रियमाहृत्य वीर्यवान् ॥
(गौ० ६१।४१ और प० ५१।१६)

८८—दाक्षिणात्य पाठ में जब संपाति के पंख निकल आते हैं तो वह बंदरों के सामने अपने स्वास्थ्य-लाभ का श्रेय ऋषि निशाकर को देता है और उनको सीता की खोज में सफल होने का विश्वास दिलाता है। उसके पश्चात् वह उड़कर ओझल हो जाता है (दा० ६३।६ आदि)।

अन्य पाठों में, जब उसके पंख निकल आते हैं तो सब वानर उसके स्वस्थ हो जाने का श्रेय राम को देते हुए उनकी प्रशंसा करते हैं। आकाशवाणी में भी सुना जाता है—'एवमेतत्'। संपाति उड़ जाता है किंतु बंदरों को मार्ग सुझाने के लिये लौट आता है; अंत में हिमालय की ओर फिर उड़ जाता है (गौ० ६३ तथा प० ५५)।

सुंदरकांड

(अ) वह सामग्री जो दा० पाठ में है और शेष एक या दोनों में नहीं है

८९—हनुमान का लंका-देवी से युद्ध (दा० ३।२०–५१)। गौ० ६ तथा प० २, दोनों में नहीं है।

९०—रावण के प्रासाद तथा पुष्पक का वर्णन (दा० ७-८)। प० में है, किंतु गोरेसियो ने उसे प्रक्षिप्त समझकर काट दिया था, यद्यपि वह गौड़ीय पाठ की हस्तलिपि में था।

९१—अशोक वन में प्रवेश करने के पूर्व राम, लक्ष्मण और सीता को देवताओं की श्रेणी में रखकर हनुमान देवताओं की स्तुति करते हैं (दा० १३।५४-६७ और प० ८।६४-७७)। यह गौ० १५ में नहीं है।

९२—एक श्लोक जिसमें संध्या करने के लिये सीता के नदी-किनारे जाने का उल्लेख है (दा० १४।४९ तथा प० ६।५८)। यह गौ० १६ में नहीं है (वैद्य)।

९३—सीता का अपने तथा रावण के बीच में तृण रखना (दा० २१।२; प० १६।३)। यह गौ० में नहीं है।

९४—कई राक्षसियाँ सीता को विचलित करने का प्रयत्न करती हैं; उनके नामों का भी उल्लेख है (दा० २३, प० १८)। यह गौ० में नहीं है।

९५—सीता का हनुमान को रावण समझ लेना (दा० ३४।९-१०, प० २८। ११-१२)। यह गौ० में नहीं है।

९६—चैत्यप्रासाद का विनाश (दा० ४३)। गौ० तथा प० दोनों में नहीं है।

(आ) वह सामग्री जो दा० पाठ में नहीं है और शेष दोनों या एक में है

९७—हनुमान द्वारा चंद्रास्त तथा सूर्योदय का वर्णन (प० ११।१९-४८)। अन्य पाठों में इन्हीं सर्गों में नहीं है (दा० १६ तथा गौ० १६)।

९८—हनुमान का सीता को विश्वास दिलाने के लिये राम की प्रशंसा करना (गौ० ३३।१-१३)। आंशिक रूप से प० ३१ में है, किंतु दा० में नहीं है।

९९—सीता का राम के प्रति संदेश। हनुमान जब अभिज्ञान माँग लेते हैं तो सीता तुरंत ही काक कथा न कहकर एक बड़ा संदेश राम को भेजती है। उसमें वे अपनी दुर्दशा का उल्लेख करके राम से अनुरोध करते हुए कई तर्क देती हैं; जैसे, वीर लोग अपनी पत्नियों की रक्षा करते हैं, आदि (गौ० ३६।११-३०)। यह दा० ३८ तथा प० ३४ में नहीं है।

१००—माली का रावण को समाचार देना (गौ० ३९।१-१४)। यह दा० तथा प० में नहीं है।

१०१—सरमा-वाक्यम्। सरमा सीता से लंका के जलने का वर्णन करती हैं (गौ० ५२ तथा प० ५१)। यह दा० में नहीं है।

१०२—हनुमान सुरसा के साथ हुए युद्ध का वर्णन करते हैं (गौ० ५६।१५-२९)। यह दा० ५८ या प० ५६ में नहीं है।

(इ) अन्य भेद

१०३—दाक्षिणात्य पाठ के प्रथम सर्ग के प्रारंभ में (दा० १।१ ५०) महेंद्र-गिरि का काँपना और उसका जीवों पर प्रभाव वर्णित है। इसके संबंध में अन्य पाठों में प्रायः कुछ नहीं है। दा० में हनुमान क्रमशः मैनाक, सुरसा तथा सिंहिका से मुठभेड़ करते हैं। अन्य पाठों में क्रम इस प्रकार है—सुरसा, मैनाक, सिंहिका।

१०४—सीता का वर्णन। दा० तथा प० में गौ० की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। दा० १५।४१-५४ और दा० १७।२६–३२ का एक भी श्लोक गौ० १८ तथा १७ में नहीं है। वे श्लोक प० १० और १२ में हैं।

१०५—सीता-विलाप। अन्य पाठों से गौ० में छोटा है। दा० २६।२८-४७ तथा दा० २८।११-१९ का कोई भी अंश गौ० में नहीं है। वे दोनों अंश प० २० तथा २२ में पाए जाते हैं।

१०६—काक का प्रसंग। दा० ३८।२१-३७ में दिया गया है। यह प० ३५ में है, किंतु गौ० ३६ में इसका बहुत थोड़ा अंश है। वह अयोध्याकांड के सर्ग ९५ के बाद के प्रक्षिप्त सर्ग की कथा से भिन्न है।

१०७—सीता-हनुमान-संवाद का एक अंश दा० तथा प० में तीन बार तथा गौ० में दो बार पाया जाता है। सीता हनुमान से एक दिन रुकने के लिये कहती हैं और युद्ध के परिणाम के विषय में अपनी आशंका प्रकट करती हैं; इसपर हनुमान उन्हें विश्वास दिलाते हैं। यह लंका-दहन के पूर्व प्रथम बार दा० ३९।१९ आदि तथा प० ३६।१९ आदि में मिलता है, किंतु गौ० ३७ के समानांतर सर्ग में नहीं है। दा० ५६ और ६८ में यह फिर मिलता है तथा अन्य पाठों के समानांतर स्थलों में भी है।

१०८—तीनों पाठ रावण को हनुमान की चेतावनी का वर्णन करते हैं, किंतु दा० का एक अंश प० तथा गौ० में से किसी में नहीं है। उस अंश में हनुमान राम के लोक-संहार एवं लोक-रचना में समर्थ, विष्णु के समान पराक्रमी, तीनों लोकों के नायक, तथा युद्ध में रुद्र, ब्रह्मा एवं इंद्र द्वारा भी अजेय होने का वर्णन करते हैं (दा० ५१।३९-४५)।

१०९—लंका-दहन के वर्णन में एक बड़ा अवतरण (दा० ५४।३०-५०)। गौ० तथा प० में नहीं है

युद्धकांड

(अ) वह सामग्री जो दा० पाठ में है और शेष एक या दोनों में नहीं है

११०—रावण की दूसरी सभा से संबंधित छः सर्ग गौ० में बिल्कुल नहीं हैं और प० में केवल आंशिक रूप में हैं।

(अ) दा० १०, प्रथम सभा के पश्चात् प्रातःकाल विभीषण रावण और उसके दरबारियों को फिर चेतावनी देता है और लंका में होनेवाले अपशकुनों का उल्लेख करता है। प० सु० ७६ में है।

(आ) दा० ११, रावण सभाभवन में जाता है। गौ० तथा प० में नहीं है।

(इ) दा० १२, कुंभकर्ण रावण को दोष देते हुए सहायता की प्रतिज्ञा करता है। गौ० तथा प० में नहीं है।

(ई) दा० १३, जब महापार्श्व सीता पर बल-प्रयोग की सम्मति देता है तो रावण पुंजिकस्थला के कारण दिए गए पितामह के शाप का उल्लेख करता है। यह अन्य दोनों पाठों में नहीं है।

(उ) दा० १४, विभीषण अपनी चेतावनियाँ दुहराता है। प० सु० ८७ में है और दा० की अपेक्षा अधिक विस्तृत है।

(ऊ) दा० १५, इंद्रजित् का विभीषण को कायर कहना। प० सु० ८६ में है।

१११—रावण के गुप्तचर। दाक्षिणात्य ने इसका दो बार वर्णन किया है। दा० २० में शार्दूल नामक गुप्तचर रावण को समाचार देता है। शुक नाम का एक अन्य गुप्तचर राम द्वारा पकड़ा और छोड़ा जाता है। दा० २४ में शुक रावण को समाचार देता है। ये दोनों सर्ग अन्य सर्गों में बिल्कुल नहीं हैं। पर दाक्षिणात्य के २५ से ३० तक के सर्गों में जो गुप्तचरों का उल्लेख है उसके विषय में तीनों पाठों में साम्य है।

११२—दा० २२ की कथावस्तु गौ० में बिल्कुल नहीं है, अंशतः प० में है।

(अ) दा० २२।१-१७, समस्त सृष्टि पर राम के धनुष खींचने के प्रभाव का वर्णन। प० सु० ९६ में है।

(आ) दा० २२।२५-४०, ब्रह्मास्त्र द्वारा द्रुमकुल्य का विनाश। प० सु० ९६ में है, जिसमें तिमिकुल पाठ है; रामायण-मंजरी (२४१) में क्रमिकुल मिलता है।

(इ) दा० २२।७८-८९, सुग्रीव का यह सुझाव रखना कि राम और लक्ष्मण हनुमान और अंगद की पीठों पर चढ़ें। गौ० तथा प० में नहीं है।

११३—युद्ध के पूर्व शकुनों का वर्णन (निमित्तानि, दा० २३)। अन्य दोनों पाठों में नहीं है।

११४—सुग्रीव-रावण-युद्ध। राम और सुग्रीव सुवेल पर्वत पर चढ़ जाते हैं। सुग्रीव रावण से उलझता है और भागता है। राम सुग्रीव को अविवेक के कारण डाँटते हैं (दा० ४० तथा ४१।१-१०)। गौ० तथा प० में नहीं हैं।

११५—दक्षिण द्वार से अंगद पर वज्रदंष्ट्र का आक्रमण। अंगद बहुत लोगों को मारते हैं और बाद में वज्रदंष्ट्र का द्वंद्व-युद्ध में वध करते हैं (दा० ५३-५४)। गौ० तथा प० में नहीं है।

११६—अनरण्य, वेदवती, उमा, नंदीश्वर, रंभा तथा वरुण-पुत्री पुंजिकस्थला द्वारा रावण को दिए गए शापों का उल्लेख (दा० ६०।८-१२)। गौ० में केवल नंदी का शाप उल्लिखित है (गौ० ३७।८)। प० ३८ में किसी शाप का उल्लेख नहीं है।

११७—लक्ष्मण-कुंभकर्ण-युद्ध (दा० ६७।९८-११५)। गौ० ४६ तथा प० ४६ में नहीं है।

११८—रावण का विलाप तथा सतर्कता के लिये आदेश (दा० ७२) गौ० तथा प० में नहीं है।

११९—आदित्यहृदय नामक स्तोत्र, जिसे अगस्त्य राम को सिखाते हैं (दा० १०५)। गौ० तथा प० में नहीं है।

१२०—रावण की मृत्यु पर विभीषण का विलाप (दा० १०९; गौ० ९३)। प० पाठ में नहीं है, किंतु प० ९० के पश्चात् एक पादटिप्पणी में दिया गया है।

१२१—सीता राम से तारा आदि अनेक वानर सैनिकों की पत्नियों को अयोध्या ले चलने का आग्रह करती हैं (दा० १२३।२९-३८)। गौ० १०८ तथा प० १०४ में नहीं है।

(आ) वह सामग्री जो दा० पाठ में नहीं है और शेष दोनों या एक में है

१२२—निकषा-वाक्यम्। समुद्र-तट पर राम-विलाप के पश्चात् गौ० तथा प० में एक सर्ग मिलता है जिसमें निकषा अपने पुत्र विभीषण से रावण को होश में लाने को कहती है (गौ० सु० ९६; प० सु० ७५)।

१२३—दाक्षिणात्य में रावण की सभा स्थगित हो जाती है (युद्ध० ९)। अन्य पाठों में सभा समाप्त नहीं होती; गौडीय पाठ में ७ सर्गों तक उसका वर्णन है। उन सर्गों की कथावस्तु प० में है किंतु दा० में बिलकुल नहीं है।

गौ० सु० ८१.१-३१, रावण विभीषण को उत्तर देता है तथा सभासदों की सम्मति माँगता है (प० ८१)।

गौ० ८१।३२-५५, प्रहस्त-वाक्य (प० ८२)।

गौ० ८२, महोदर-वाक्य (प० ८३)।

गौ० ८३, विरूपाक्ष वाक्य (प० ८४)।

गौ० ८४, विभीषण-वाक्य (प० ८५)। विभीषण सीता को लौटा देने की फिर सम्मति देता है।

गौ० ८५, रावण-वाक्य (प० ८६)। रावण साहस की प्रशंसा तथा कायरता की निंदा करता है।

गौ० ८६, विभीषण-वाक्य (प० ८६)। नीति-वचन; अंत में विभीषण राम के पास जाने का अपना निर्णय प्रकट करता है।

गौ० ८७, रावण क्रोध के मारे विभीषण पर पाद-प्रहार करता है; विभीषण भूमिशायी हो जाता है और रावण के परित्याग की बात फिर कहता है (प० ९०।१–२८)।

इसके पश्चात् विभीषण का प्रस्थान वर्णित है; इसमें तीनों पाठों में साम्य है (दा० युद्ध० १६; गौ० सु० ८८ तथा प० सु० ९०।२९–८१)।

१२४—विभीषण का अपनी माता के पास जाना। यह दा० में बिलकुल नहीं है, गौ० ८९।४ में उल्लिखित है और प० ९१।४–६२ में विस्तार से वर्णित है। विभीषण सभा का पूरा हाल बताता है। निकषा उसे यह कहकर सांत्वना देती है कि अंत में राम उसी को लंका का राज्य देंगे।

१२५—विभीषण की कैलास-यात्रा। लंका से चलकर विभीषण कैलास पर अपने भाई वैश्रवण से भेंट करता है। शिव भी वहीं हैं; दोनों उसे राम के पास जाने की सम्मति देते हैं और कहते हैं कि अंत में राम रावण को हराकर लंका तुम्हें दे देंगे (गौ० सु० ८९।५–४२)। यह प० तथा दा० में बिलकुल नहीं है।

१२६—गौडीय पाठ में जो दशरथ तथा सागर की मित्रता का उल्लेख है (गौ० ९४।२१–२२) उसका पूरा वर्णन प० में (९६।४६–६८) मिलता है।

देवताओं की ओर से लड़कर दशरथ ने एक वरदान पाया था। उन्होंने एक पुत्र माँगा था और उसको एक के स्थान पर चार दिए गए।

१२७—पश्चिमोत्तरीय पाठ के दो सर्ग दा० तथा गौ० में बिल्कुल नहीं है। इन सर्गों में सेतुबंध के पश्चात् समुद्र प्रकट होकर राम और लक्ष्मण को अस्त्र तथा कवच प्रदान करता है; राम के लंका पहुँचने पर रावण सभा बुलाता है; मेघनाद, प्रहस्त, धूम्राक्ष तथा महोदर, सब बड़ी-बड़ी बातें करके रावण को विजय का विश्वास दिलाते हैं; केवल अतिकाय ही सीता को लौटाने को कहता है (प० सु० ९९-१००)।

१२८—बालि तथा सुग्रीव की उत्पत्ति की कथा दाक्षिणात्य पाठ (उत्तरकांड, सर्ग ३७ के बाद प्रथम प्रक्षिप्त सर्ग) से ली गई है, और अन्य दोनों में (गौ० ४।३०–५० तथा प० ४) शुक के मुँह से कहलाई गई है। दाक्षिणात्य के समानांतर सर्ग में नहीं है (दा० २३)।

१२९—सुग्रीव-गर्जन। सुग्रीव सेना को चले जाने को कहता है और हनुमान को साथ लेकर रावण को मार डालने की बात करता है (गौ० २५।२७–४१)। दा० तथा प० में नहीं है।

१३०—नारद-वाक्य। जब सुषेण संजीवनी लाने के लिये कहता है उसी समय नारद का आगमन होता है। नारद राम को सुधि दिलाते हैं कि आप नारायण हैं, और उन्हें सहायता के लिये गरुड़ को स्मरण करने की सम्मति देते हैं (प० २७।७–४१)। दा० तथा गौ० में बिल्कुल नहीं है।

१३१—मंदोदरी-वाक्य। प्रहस्त की मृत्यु के पश्चात् रावण स्वयं युद्धक्षेत्र में जाने की सोचता है। मंदोदरी यह सुनकर सभासदों के साथ रावण के पास आती है और राम से संधि करने के लिये आग्रह करती है—यह कहकर कि राम मनुष्य-मात्र नहीं हैं। (गौ० ३३, प० ३५)

रावण-वाक्य। इसका उत्तर देते हुए रावण कहता है कि मैंने पहले देवताओं को हराया है; इस बार राम को भी हरा दूँगा (गौ० ३४, प० ३६)।

१३२—कुंभकर्ण का भाषण तथा रावण का उत्तर। यह दा० में नहीं है। रावण ने जब कुंभकर्ण से कहा कि मुझे सहायता चाहिए, सम्मति नहीं, उसके पश्चात् गौ० तथा प० में कुंभकर्ण का एक भाषण है। वह रावण से कहता है कि "नारद ने मुझे एक दिन बताया था कि 'मैं अभी अभी देवताओं की सभा से आ रहा हूँ, वहाँ रावण की मृत्यु का आयोजन विष्णु के अवतार द्वारा किया गया है।'

यह राम हम सबको मारने ही आया है, हम लोगों को संधि कर लेनी चाहिए" (गौ० ४०।३०-५३; प० ४१।३३-५६)। रावण उत्तर देता है—"अब यदि मैं सीता को लौटाता हूँ तो मेरी बड़ी हँसी होगी। इसके अतिरिक्त मैं विष्णु से क्यों डरूँ; मैंने पहले भी देवताओं को पराजित किया है।" अंत में वह यह भी कहता है कि मैं विष्णु के हाथ से मरकर स्वर्ग जाना चाहता हूँ—निहतो गन्तुमिच्छामि तद् विष्णोः परमं पदम् (गौ० ४१; प० ४२।१-२४)।

१३३—युद्ध-क्षेत्र में विभीषण से मिलकर कुंभकर्ण उसकी प्रशंसा करता है कि तुमने राम की शरण लेकर बड़ी बुद्धिमानी की (प० ४६।८२-६१)। अन्य दोनों पाठों में नहीं है।

१३४—हनुमान का संजीवनी लाना। दाक्षिणात्य (१०१) की अपेक्षा यह गौ० तथा प० दोनों में अधिक विस्तार से वर्णित है। निम्नलिखित बातें दाक्षिणात्य में नहीं है—

(अ) भरत हनुमान पर बाण चलाने ही वाले हैं कि हनुमान अपना परिचय देकर राम के कार्यों का विवरण देते हैं। यह प० में नहीं है (गौ० ८२, ६० आदि)।

(आ) रावण हनुमान को मारने के लिये कालनेमि को भेजता है (गौ० ८२।६४ आदि)। कालनेमि गंधमादन पर्वत पर एक आश्रम में साधु का वेश धारण कर लेता है। वह हनुमान को एक झील के पास लाता है जहाँ एक मकरी उनपर आक्रमण करती है। हनुमान उसे मार डालते हैं। मकरी एक अप्सरा का रूप धारण करके अपनी सारी कथा बताती है—वह एक मुनि द्वारा शप्त गंधकाली है—तब हनुमान आश्रम में आकर कालनेमि का वध करते हैं (गौ० ८२। १४२ आदि)। यह प० ८१ में है।

(इ) हनुमान को हाहा तथा हूहू की प्रजा की चुनौती। गौ० के अनुसार हनुमान तीन कोटि गंधर्वों को मार डालते हैं (गौ० ८३)। प० ८१ में यह संख्या चौबीस हजार है।

(ई) रावण के भेजे हुए राक्षसों को मार कर हनुमान का पर्वत को लौटा लाना (गौ० ८४, प० ८१)।

(उ) प० में ८१ के पश्चात् एक प्रक्षिप्त सर्ग है जिसमें पर्वत को फिर उसी स्थान पर रखने का वर्णन है। यह गौ० में नहीं है।

१३५—मंदोदरी-वेश-ग्रहणम्। लक्ष्मण को संज्ञा प्राप्त होने के बाद राम पूछते हैं कि रावण कहाँ है। विभीषण बतलाते हैं कि वह यज्ञ कर रहा है जिसका भंग होना आवश्यक है, अन्यथा वह शिव जी के वरदान द्वारा एक दिव्य रथ तथा अभेद्य कवच प्राप्त करके अजेय हो जायगा। तब राम हनुमान, अंगद तथा कुछ अन्य योद्धाओं को रावण का यज्ञ भंग करने के लिये भेजते हैं। रावण को कुपित करने में असफल होकर हनुमान अंगद को मंदोदरी को लाने की सलाह देते हैं। अंगद मंदोदरी के बालों को खींचते हुए उसे वहाँ लाते हैं और रावण को ललकारते हैं। इससे रावण क्रुद्ध होकर उठता है और अंगद को गिरा देता है। इसी बीच सब वानर यज्ञ विध्वंस करके भाग जाते हैं (प० ८२)। यह गौ० तथा दा० में नहीं है।

(इ) अन्य भेद

१३६—गौ० ९० तथा प० ९८ दोनों में इसका उल्लेख मात्र है कि सुग्रीव ने विभीषण को ग्रहण करने में आपत्ति की। सुग्रीव का पूरा भाषण दा० १८।४-२१ में है।

१३७—सेतुबंध का वर्णन पश्चिमोत्तरीय पाठ में (प० सुं० ६७ और ६८) अन्य पाठों की अपेक्षा (गौ० सुं० ६५ और दा० युद्ध २२) अधिक विस्तार से है। प० का एक पूरा अंश (प० सुं० ६७।३५-५३) अन्य दोनों पाठों में बिल्कुल नहीं है।

१३८—पश्चिमोत्तरीय पाठ (प० युद्ध० १८।२७-५२) के एक अंश में द्वंद्वयुद्ध करनेवाले भिन्न-भिन्न योद्धाओं के नाम दिए गए हैं। यह दा० ४२ तथा गौ० १७ में नहीं है।

१३८ अ—दाक्षिणात्य पाठ का वह श्लोक (५०।२२) जिसमें राम-लक्ष्मण को 'गरुड़ाधिष्ठितौ' कहा गया है, गौ० २५ तथा प० २६ दोनों में नहीं है।

१३९—कुंभकर्ण का जागना। दाक्षिणात्य पाठ के अनुसार एक सहस्र हाथी कुंभकर्ण को जगा पाते थे (दा० ६०।५५)।

अन्य पाठों में हाथी भी असफल हो जाते हैं। तब नवयुवतियों को बुलाया जाता है। वे अपने नूपुरों की ध्वनि, संगीत, वाद्य-ध्वनि, दिव्य गंध तथा विविध स्पर्श आदि के द्वारा जगाने में सफल होती हैं (गौ० ३७।५५-६३, प० ३८।५४-६२)।

१४०—इंद्रजित् के विभिन्न युद्ध। दाक्षिणात्य पाठ के अनुसार इंद्रजित् युद्धक्षेत्र में पाँच बार प्रवेश करता है। ये पाँचों युद्ध लगभग उन्हीं शब्दों में अन्य पाठों में भी प्राप्य हैं, किंतु दा० के कई अंश अन्य पाठों में या तो दूसरे प्रसंग में रखे हुए हैं या बिल्कुल नहीं हैं।

(अ) प्रथम युद्ध (दा० ४४ आदि, गौ० २० आदि, प० २१ आदि)।

(आ) द्वितीय युद्ध (दा० ७३, गौ० ५२ तथा प० ५३)। इसका एक बड़ा अंश (दा० ७३।२६-५०) अन्य पाठों के समांतर सर्गों में नहीं प्राप्त होता, परंतु इस अंश के बहुत से श्लोक उन पाठों के तृतीय युद्ध में प्राप्य हैं।

(इ)—तृतीय युद्ध। दा० में इसके दो भाग हैं—

दा० ८०।१-१२, जो प० ५८।१-११ में हैं और गौ० में नहीं है।

दा० ८०।१३-४३; यह अंश दोनों अन्य पाठों में प्रथम युद्ध के पूर्व रख दिया गया है (गौ० १६।४०-७५, प० २०)। उसके स्थान पर गौ० तथा प० में (गौ० ५९, प० ५८।१६-४०) तृतीय युद्ध के नाम पर एक अंश है जिसके अधिकांश श्लोक दा० ७३।२६-५० से लिए गए हैं।

(ई)—चतुर्थ युद्ध। इंद्रजित् एक माया-सीता का सिर काटकर युद्ध प्रारंभ करता है (दा० ८१)। यह अन्य पाठों में भी है (गौ० ६० तथा प० ५९)।

(उ)—पंचम युद्ध। इंद्रजित् का निकुंभिला पर यज्ञ करना, लक्ष्मण से युद्ध तथा इंद्रजित् की मृत्यु (दा० ८४ आदि)। अन्य पाठों में भी यही है। दा० पाठ (६०।४-३१) का एक अंश गौ० ७० तथा प० ६९ में प्राप्त नहीं होता।

१४१—राम-विलाप का एक अंश (दा० १०१।१२-२२) गौडीय पाठ में नहीं मिलता (गौ० ८२), लेकिन पश्चिमोत्तरीय में है (८१)।

१४२—मंदोदरी-विलाप। दा० १११ में अधिक विस्तृत है। इसमें १२६ श्लोक हैं, गौ० ९५-९६ में केवल ८२ श्लोक हैं तथा प० ९२ में केवल ६३ श्लोक। गौ० ९६ तथा दा० १११।११२-१२० की सामग्री का प० में नितांत अभाव है; दा० के वे श्लोक जिनमें राम के विष्णु के अवतार होने का उल्लेख है, गौ० तथा प० में या तो हैं ही नहीं या भिन्न शब्दों में मिलते हैं।

१४३—रावण-वध के पश्चात् दशरथ राम से कहते हैं कि अब मैं देवताओं के द्वारा यह जान गया हूँ कि राम रावण-संहार के लिये गुप्त रूप में पुरुषोत्तम ही हैं—

इदानीं च विजानामि यथा सौम्य सुरेश्वरैः ।
वधार्थं रावणस्येह पिहितं पुरुषोत्तमम् ॥ (दा० ११६।१७)

गौडीय पाठ में इस श्लोक का पूर्व रूप सुरक्षित है—

इदानीं चैव जानामि यथा सौम्य सुरेश्वरैः ॥१८॥
वधार्थं रावणस्य त्वं वनवासाय दीक्षितः । (गौ० १०४)

प० में वही पाठ है; उसकी कई हस्तलिपियों में ऐसा पाठ भी है—"त्वमिह चैवावतारितः" (प० १००) । वह अंश तीनों पाठों में है जिसमें दशरथ लक्ष्मण से राम के अवतार होने का उल्लेख करते हैं।

१४४—महादेव का उल्लेख (दा० १२३) । यह दोनों अन्य पाठों (गौ० १०८, प० १०४) में नहीं है (वैद्य) ।

दाक्षिणात्य पाठ-"अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोन्मम" (दे० १२३।२०) ।

गौडीय पाठ—"अत्राहं शयितो देवि कुशास्तीर्णे महीतले" (१०८।२२) ।

१४५—फलस्तुति । दा० (१२८।११०-१२२) तथा प० (११०) में गौडीय (११३) की अपेक्षा अधिक लंबी है। दा० १२८।११७ का श्लोक जिसमें राम के विष्णु होने का उल्लेख है, गौ० में नहीं है किंतु प० में है।

उत्तरकांड

(अ) वह सामग्री जो दा० में है और शेष एक या दोनों में नहीं है

१४६—सुमंत्र द्वारा लक्ष्मण को सांत्वना तीनों पाठों में है। किंतु दाक्षिणात्य में एक अंश और है जिसमें राम द्वारा सीता के परित्याग का कारण भृगु का शाप है, क्योंकि विष्णु ने उनकी पत्नी को मार डाला था (५१।११-१९) ।

यह गौ० में नहीं है, किंतु प० ५३ की एक पादटिप्पणी में है। दा० में अन्यत्र विश्वामित्र शाप का उल्लेख न करके इस घटना को एक तर्क के रूप में उस समय प्रस्तुत करते हैं जब राम ताड़का-वध में आपत्ति करते हैं (बाल० २५।२१) । यह गौडीय में भी प्राप्य है (गौ० बाल० २८।२०) ।

१४७—दाक्षिणात्य के प्रक्षिप्त सर्गों में हमें कुछ ऐसी सामग्री मिलती है जो अन्य पाठों में नहीं है। दा० २३ के आगे प्रथम प्रक्षिप्त सर्ग में एक अंश है जिसमें रावण बालि के किसी पूर्वज के एक आभूषण को उठाने का असफल प्रयास करता है (दा० २३, प्र० १।५३–६६) । यह गौ० २८ तथा प० २७ में नहीं है।

१४८—रावण की सूर्यलोक-यात्रा (दा० २३,प्र० २) अन्य दोनों पाठों में नहीं है।

१४९—दा० ३७ के आगे के पाँच प्रक्षिप्त सर्ग गौडीय के उत्तरकांड में नहीं हैं। वे प० ३९ की पाद-टिप्पणी में दिए हैं। उनकी कथावस्तु निम्नलिखित है—बालि तथा सुग्रीव की उत्पत्ति (दा० ३७, प्र० १), यह अन्य पाठों में युद्धकांड में मिलती है (गौ० ४ तथा प० ४); रावण ने विष्णु के हाथ से मृत्यु पाकर स्वर्ग जाने की लालसा से सीता का अपहरण किया (दा० ३७, प्र० २-४); श्वेतद्वीप की स्त्रियों से रावण की हार (दा० ३७; प्र० ५)।

(आ) वह सामग्री जो दा० पाठ में नहीं है और शेष दोनों या एक में है

उत्तरकांड में इस प्रकार की सामग्री का अभाव है।

(इ) अन्य भेद

१५०—अर्जुन कार्तवीर्य तथा बालि से रावण की पराजयों को दाक्षिणात्य (दा० ३१-३४) की अपेक्षा अन्य पाठों में बहुत पहले रख दिया गया है। अन्य पाठों में यह सोलहवें सर्ग के बाद है।

१५१—दाक्षिणात्य (दा० १११) में फलस्तुति प० ११२ की अपेक्षा बहुत बड़ी है। यह गौ० १११ में है ही नहीं।

१५२—अयोध्या का पुनर्निर्माण। दा० १११।१० में है कि अयोध्या का पुनर्निर्माण ऋषभ के द्वारा होगा, किंतु प० ११२।३० में कुश का नाम है। रामायण-मंजरी में ऋषभ है (१२६१)। यह संभव है कि प० पाठ अति प्रसिद्ध रघुवंश के आधार पर परिवर्तित कर दिया गया हो। रघुवंश में कुश ही अयोध्या का पुनर्निर्माण करते हैं (रघुवंश, सर्ग १६)।

पाठों का उत्पत्ति-क्रम

कथावस्तु को दृष्टि में रखकर ऊपर जो तीनों पाठों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है उससे इन पाठों की उत्पत्ति के संबंध में भी पर्याप्त संकेत प्राप्त होते हैं। विभिन्न पाठों में विभक्त हो जाने के समय तक वाल्मीकि कृत रामायण का कलेवर बहुत कुछ बढ़ गया होगा। तीनों पाठों के इस पूर्व रूप को 'क' नाम दिया जा सकता है। प्रस्तुत अध्ययन से अत्यंत स्पष्ट हो जाता है कि पश्चिमोत्तरीय तथा गौडीय पाठों का आपस में गहरा संबंध है; दोनों का स्रोत एक ही है, जिसे हम उदीच्य पाठ (उ०) कह सकते हैं। यदि प्रचलित दाक्षिणात्य के पूर्व रूप के लिये 'ख' नाम रखा जाय, तो कहा जा सकता है कि पूर्व रूप 'क' प्रारंभ में दो शाखाओं में विभक्त हुआ था—(१) 'ख', दाक्षिणात्य पाठ का पूर्व रूप, जिसने बाद में प्रचलित

पाठ का रूप (दा०) धारण किया और (२) उ०, उदीच्य पाठ जो धीरे धीरे प्रचलित पश्चिमोत्तरीय (प०) तथा गौडीय (गौ०) पाठों में विभक्त हुआ।

एक अन्य तथ्य ध्यान देने योग्य है—उत्तरकांड का कोई भी महत्त्वपूर्ण पाठांतर नहीं है। इससे यह धारणा दृढ़ हो जाती है कि उत्तरकांड केवल क्षेपक ही नहीं है, अपितु इसकी रचना मूल काव्य के दो (या तीन) पाठों में विभक्त हो जाने के पश्चात् ही हुई होगी।

यदि उत्तरकांड पूर्व रूप 'क' का एक अंश होता, तो इसमें भी अन्य कांडों की ही भाँति परिवर्तन या परिवर्धन हो जाते। पाठांतरों के अभाव का एक मात्र कारण यही हो सकता है कि इसकी रचना बहुत बाद में हुई और 'ख' तथा उ० दोनों में इन पाठों के लिपिबद्ध होने के कुछ पूर्व ही अथवा उसके बाद जोड़ दिया गया।

तुलनात्मक अध्ययन का एक तीसरा संकेत भी उल्लेखनीय है। पश्चिमोत्तरीय पाठ में ऐसी बहुत सी सामग्री है जो गौडीय में नहीं, किंतु दाक्षिणात्य में पाई जाती है। इसका अर्थ होता है कि पश्चिमोत्तरीय पाठ (लाहौर संस्करण) दाक्षिणात्य पाठ से बहुत कुछ प्रभावित है। यह प्रभाव साथ दिए गए चित्र में एक विंदु-रेखा द्वारा निर्दिष्ट है।

उपर्युक्त संकेतों से विभिन्न पाठों का जो उत्पत्ति-क्रम प्रतीत होता है उसे यहाँ एक चित्र द्वारा स्पष्ट किया जाता है—
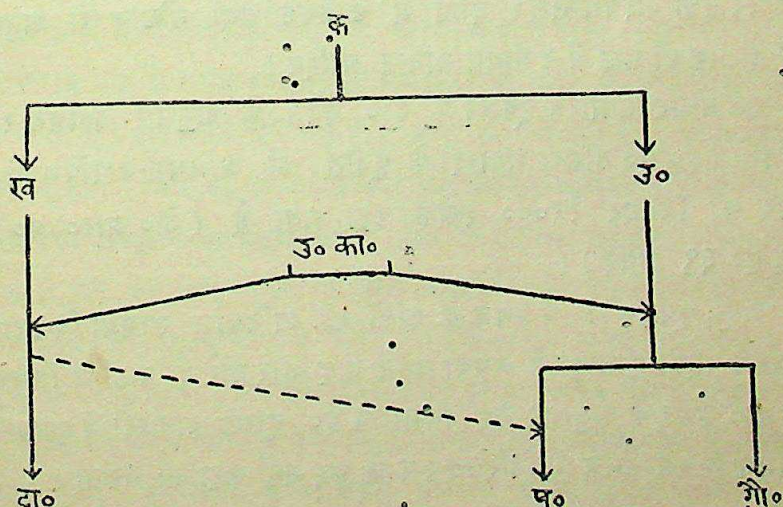
वाल्मीकि रामायण के पाठों का उत्पत्ति-क्रम

क—तीनों पाठों का सामान्य पूर्व रूप ; ख—दाक्षिणात्य पाठ (दा०) का पूर्व रूप ; उ०—उदीच्य पाठ, अर्थात् पश्चिमोत्तरीय (प०) तथा गौडीय (गौ०) पाठों का स्रोत; उ० कां०—उत्तर कांड।

पूर्वरूप 'क'

बहुत संभव है कि वाल्मीकि ने रामायण की रचना ई० पू० ३०० के लगभग की हो (जे० आर० ए० एस०, १९१५, पृ० ३१८)। विद्वन्मंडली में यह सर्वमान्य है कि इस आदि रामायण में वर्तमान रामायण की दूसरे से लेकर छठे कांड तक की ही सामग्री थी; उत्तरकांड तथा बालकांड बाद में जोड़े गए।

तुलनात्मक तालिका से ज्ञात होता है कि बालकांड में भी अन्य कांडों की ही भाँति परिवर्तन हुए हैं। इससे यह आभास मिलता है कि बालकांड रामायण के दाक्षिणात्य तथा उदीच्य पाठों में विभक्त होने के पूर्व ही रामायण में जोड़ दिया गया था। उत्तरकांड अवश्य ही उपर्युक्त कारणों से पूर्वरूप 'क' का मौलिक अंश नहीं था।

डा० डब्ल्यू० रुबेन (W. Ruben, STUDIEN ZUR TEXT-GESCHICHTE DES RAMAYANA. STUTTGART, 1936, पृ० ५३) ने इस पूर्वरूप के पुनर्निमाण के विषय में विचार किया है। उनके अनुसार जो श्लोक एक ही पाठ में हैं उनको प्रक्षिप्त मानना चाहिए और जो श्लोक तीनों या दो पाठों में हैं उनको प्रामाणिक मानना चाहिए। जैसा ऊपर कहा गया है, लाहौर से प्रकाशित पश्चिमोत्तरीय पाठ दाक्षिणात्य पाठ से प्रभावित है, अतः दाक्षिणात्य तथा पश्चिमोत्तरीय दोनों में उपस्थित तथा गौडीय में अनुपस्थित श्लोकों को एक ही पाठ में उपस्थित मानना चाहिए।

इस प्रकार निर्धारित पूर्वरूप में डा० रुबेन के अनुसार लगभग १२००० श्लोक होंगे। ई० पू० तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की अभिधर्म-महाविभाषा में भी रामायण का विस्तार १२००० श्लोक कहा गया है (जे० आर० ए० एस० १९०७, पृ० ६९ आदि)।

अस्तु, पूर्वरूप 'क' में प्रथम छः कांडों की अधिकांश सामग्री विद्यमान थी; वह पूर्वरूप पहली शताब्दी में अथवा उसके बाद धीरे-धीरे दो पाठों में विभक्त होने लगा। डा० रुबेन के अनुसार यह विभाजन ई० दूसरी शताब्दी में हुआ था। मेरी समझ में इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

दाक्षिणात्य पाठ (दा०)

दाक्षिणात्य पाठ के पूर्वरूप 'ख' ने शताब्दियों के अंतर में धीरे-धीरे रामायण के अत्यंत प्रचलित दाक्षिणात्य पाठ (दा०) का रूप धारण कर लिया।

उसी पाठ में अन्य पाठों की अपेक्षा अधिक क्षेपक भी जुड़े हैं। फिर भी जो श्लोक तीनों पाठों में प्राप्य हैं, उनका प्राचीनतम रूप प्रायः दाक्षिणात्य पाठ का ही रूप है। यह बात तभी स्पष्ट होगी जब हम यह देख लें कि किस प्रकार उदीच्य पाठ के पूर्वरूप में परिवर्तन हुआ है। इसपर बाद में प्रकाश डाला जायगा। महाभारत के रामोपाख्यान का पाठ गौडीय तथा पश्चिमोत्तरीय पाठ की अपेक्षा दाक्षिणात्य के अधिक निकट है। डा० रुबेन के अनुसार इसका कारण यही है कि उक्त रामोपाख्यान पूर्वरूप 'क' के एक पाठ पर आधृत है।

दाक्षिणात्य के कुछ क्षेपक गौड़ीय में भी पाए जाते हैं। इनमें से राम का जाबालि को उत्तर (सं० २९) और वानर-सेना का आगमन (सं० ७८) रामायण-मंजरी में भी हैं जो पश्चिमोत्तरीय पाठ की एक हस्तलिपि पर आधृत है। कैकेयी की निंदा का प्रसंग (सं० ५९), हो सकता है, जान-बूझकर दबा दिया गया हो, क्योंकि कैकेयी स्वयं उत्तर-पश्चिम की रहनेवाली थी। अब केवल तीन क्षेपक रह जाते हैं जिसमें कोई नई सामग्री नहीं है—(१) वह सर्ग जिसमें भरत राज्य अस्वीकार करते हैं (सं० ४४); (२) हनुमान का तारा को सांत्वना देना (सं० ७४); और (३) मंदोदरी-विलाप का एक अंश (सं० १४२)।

जैसा ऊपर कहा गया है, दाक्षिणात्य में बहुत से क्षेपक मिलते हैं जो पश्चिमोत्तरीय में भी हैं। इसके अतिरिक्त अरण्यकांड से लेकर बहुत से स्थलों पर पश्चिमोत्तरीय पाठ के श्लोक गौडीय की अपेक्षा दाक्षिणात्य के श्लोकों से अधिक सादृश्य रखते हैं। इस प्रकार पूरे सर्ग दा० और प० में ही हैं [द्रष्टव्य सं० २८, ६१ (अ), ६४, ११० (अ, इ, उ)] और कुछ विशिष्ट घटनाएँ भी, जैसे राम का धनुष खींचकर द्रुमकुल्य का संहार करना [सं० ११२ (अ, आ) और सं० ३, २२, ७६ (आ), ६१, ६३, ६५, १५१]। अन्य स्थल जिनमें पश्चिमोत्तरीय पाठ का गौडीय को छोड़कर, दाक्षिणात्य से साम्य है, ये हैं—सं० १०४, १०५, १०६, १०७, १४० (इ), १४१, १४५, १४६ और १४६। इन अंकों से यह बात निश्चित रूप से सिद्ध होती है कि पश्चिमोत्तरीय पाठ पर दाक्षिणात्य का प्रभाव पड़ा है। फिर भी दाक्षिणात्य पाठ के अधिकांश क्षेपक केवल उसी में पाए जाते हैं। उनमें निम्न-लिखित प्रसंग ध्यान देने योग्य हैं—

राम आदि की वाल्मीकि मुनि से भेंट (सं० २६); अयोमुखी का अंग भंग करना (सं० ६२); लक्ष्मण को शांत करने के लिये तारा का भेजा जाना

(सं० ७७); हनुमान का लंका-देवी से युद्ध (सं० ८६); अगस्त्य द्वारा राम को आदित्यहृदय दिया जाना (सं० ११६); मुख्य वानर सेनापतियों की पत्नियों का अयोध्या जाना (सं० १२१)।

दूसरे प्रकार के क्षेपक प्रसंगों की पुनरावृत्ति मात्र हैं। यथा—सीता की यमुना-स्तुति (सं० २५), रावण की मारीच से भेंट (सं० ६०), रावण की दूसरी सभा (सं० ११० आ, इ), रावण के गुप्तचर (सं० १११), विभिन्न युद्ध (सं० ११४, ११५, ११७)। कभी-कभी पुराने प्रसंगों का ही बढ़ाया हुआ वर्णन मिलता है; यथा लंका-दहन (सं० १०६ और ६६), युद्ध के पहले शकुन (सं० ११३) और सं० ७३, १४० (उ) तथा २७। विलाप तथा सांत्वना के अवसरों पर भी प्रायः प्रक्षिप्त अंशों की सृष्टि हो गई है, पर उससे कथावस्तु पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है; [सं० २१,६१ (आ, इ), ७५ और ११८]। प्रकृति-वर्णन भी इसी श्रेणी में आते हैं (सं० २३ तथा ७६ अ, इ) ।

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित सामग्री केवल दाक्षिणात्य में मिलती है—

राशिचक्र के तारों का उल्लेख (सं० १); पौराणिक कथाएँ, जो बालकांड में जोड़ दी गई हैं (सं० २, ४, ५, ६, ७, ८); कैकेयी की माता का उसके पति द्वारा परित्याग (सं० २०), बुद्ध-निंदा (सं० ३०); हनुमान जी का व्याकरण-ज्ञान (सं० ७२); रावण को दिए गए शाप (सं० ११० ई और ११६) तथा अन्य छोटी-छोटी बातें (सं० २४, ६४, ११२ इ, १४७, १४८)।

उदीच्य पाठ (उ०)

गौडीय तथा पश्चिमोत्तरीय पाठ का गहरा संबंध प्रस्तुत तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है। इन दोनों का स्रोत एक ही है; उसे उदीच्य पाठ नाम दिया जा सकता है। उस उदीच्य पाठ का अस्तित्व इस बात से प्रमाणित है कि बहुत से प्रसंग जो दाक्षिणात्य में नहीं हैं, इन दोनों में समान रूप से उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर इन दोनों में साम्य है और साथ ही दाक्षिणात्य से विभिन्नता।

डा० एस० लेवी ने प्रमाणित किया है कि हरिवंश का दो - सौ - छत्तीसवाँ अध्याय, जिसमें हिरण्यकशिपु के द्वारा उत्पन्न भूकाल का वर्णन है, दाक्षिणात्य पाठ के दिग्वर्णन (दा० कि० ४:) की अपेक्षा पश्चिमोत्तरीय तथा गौडीय (अर्थात्

उदीच्य) पाठ से ही अधिक साम्य रखता है। दूसरी ओर सद्धर्म-स्मृति-उपाख्यान-सूत्र में (इसका चीनी में ५३९ ई० में अनुवाद हुआ) जो जंबूद्वीप का वर्णन है, वह स्पष्टतया गौड़ीय पाठ से भिन्न पश्चिमोत्तरीय पाठ की किसी हस्तलिपि पर आधृत है। इससे यह सिद्ध होता है कि उदीच्य पाठ, जो संभवतः प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी में उत्पन्न हुआ, आगे चलकर विकसित हुआ और छठी शताब्दी के पूर्व गौडीय तथा पश्चिमोत्तरीय पाठों में विभक्त हो गया था।

दाक्षिणात्य में गौडीय तथा पश्चिमोत्तरीय की अपेक्षा अधिक आर्ष प्रयोगों की उपस्थिति ही इस बात का प्रमाण है कि दाक्षिणात्य पाठ अन्य पाठों की अपेक्षा पूर्वरूप के अधिक निकट है। डा० एच० याकोबी के अनुसार इसका कारण यह है कि चारण लोग, यद्यपि ये स्वयं अधिक शिक्षित नहीं थे, अपने को तत्कालीन प्रभाव से बचा न सकते थे और बहुत से आर्ष प्रयोगों तथा व्याकरण की अशुद्धियों को ठीक कर लेते थे। ऐसा विशेष रूप से उन क्षेत्रों में होता था जो परिष्कृत संस्कृत साहित्य के केंद्र थे, जैसे पूर्व और पश्चिम। फलस्वरूप गौडीय तथा पश्चिमोत्तरीय पाठों में आर्ष प्रयोग अपेक्षाकृत कम हैं।

तुलनात्मक अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि मूल पाठ को बाद के रीति-रिवाजों तथा विश्वासों के अनुकूल बनाने अथवा कुछ परस्पर विरोधी कथनों को निकालने के लिये, उदीच्य पाठ परिवर्तित किया गया था (द्रष्ट० सं० ११, १६, ४५, ४७, ५०, ५१, ५५, ५६, ८७)। इस संबंध में तृतीय अनुक्रमणिका का भी उल्लेख किया जा सकता है (सं० ६)।

गौडीय तथा पश्चिमोत्तरीय दोनों की उभयनिष्ठ प्रक्षिप्त सामग्री का (जो उदीच्य पाठ में थी), वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) नवीन घटनाएँ—राम का अपनी माता को दशरथ को सौंपना (सं० ३४); राम लक्ष्मण आदि का कमलगट्टे खाकर तीन दिन व्यतीत करना (सं० ३६); सुपार्श्व का प्रकट होना (सं० ८३); रावण और विभीषण की माँ का हस्तक्षेप (सं० १२२, १२४); कालनेमि - कथा तथा हनुमान का गंधर्वों से युद्ध (सं० १३४ आ, इ, ई,); रावण की, प्रथम सभा की, अधिक समय तक चलकर विभीषण पर पाद-प्रहार के बाद समाप्ति (सं० १२३)।

(२) पूर्णतः नवीन कथावस्तु—कैकेयी के दोष-निवारण का प्रथम प्रयास (सं० ३१); सीता की जन्म-कथा (सं० ५८); हनुमान के पिता की (सं० ८४)

और दशरथ की वर-प्राप्ति (सं० १२६); उत्तरीय प्रदेश के वर्णन के संबंध में एक अवतरण, जिसमें अनेक पर्वतों के नाम हैं जो दाक्षिणात्य में नहीं हैं (सं० ८२)। एक स्थान पर उत्तरकांड की सामग्री को युद्धकांड में रखा गया है (सं० १२८)।

(३) अन्य क्षेपक पूर्वरूप 'क' में वर्णित अथवा इंगित कथाओं के अधिक विस्तार अथवा व्याख्या स्वरूप ही हैं। इन्हीं के अंतर्गत वे सर्ग आते हैं जिनमें भरत का ननिहाल जाना वर्णित है (सं० १०)। इसका दाक्षिणात्य में उल्लेख मात्र है। सं० ३३, ४०, ४१, ४२, ६६, ६७, ८०, ८१, ९८, १०१, १३१ और १३२ भी द्रष्टव्य हैं। संख्या ३५, ३७, ३८ और ३९ में जो उपालंभ, विलाप तथा सांत्वना के प्रसंग मिलते हैं, वे सब इसी श्रेणी में आते हैं।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक स्थलों पर गौड़ीय तथा पश्चिमोत्तरीय में साम्य है एवं इनमें तथा दाक्षिणात्य में विषमता। ये स्थल अवश्य ही उदीच्य पाठ से ही संबंधित हैं (द्रष्टव्य संख्या १० अ, ११ अ, १२, १२ अ, १३, १४, १५, १६, १७, १८, ४६ अ, ४८, ५२, ५३, ५४, ५७, ६८, ८६, ८८, १०३, १०४, १३८ अ, १३९, १४४)।

गौड़ीय पाठ (गौ०)

गोरेसियो का गौड़ीय पाठ का प्रामाणिक संस्करण निस्संदेह पश्चिमोत्तरीय की अपेक्षा प्राचीन उदीच्य पाठ (उ०) के अधिक निकट है। कारण यह है कि जैसा ऊपर दिखाया गया है, पश्चिमोत्तरीय पर दाक्षिणात्य का प्रभाव स्पष्ट है।

ऐसे स्थलों का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है जो गौड़ीय तथा दाक्षिणात्य दोनों में हैं पर पश्चिमोत्तरीय में नहीं। ऐसे स्थल बहुत कम हैं (द्रष्ट० ऊपर दाक्षिणात्य पाठ)। गौड़ीय में ऐसी बहुत कम सामग्री है जो केवल उसी में मिलती है।

नवीन प्रसंग—विभीषण का राम की शरण में जाने के पूर्व कैलास पर अपने भाई से मिलना (सं० १२५); संजीवनी लाकर लौटते समय भरत-हनुमान-संवाद (सं० १३४ अ); जटायु का अपने घर जाना (सं० ६९)।

अन्य प्रक्षेप—इक्ष्वाकु-वंश के राजाओं की नामावली (सं० ४३); राम के गांधर्वास्त्र का प्रभाव (सं० ७० अ); सीता का राम के प्रति संदेश (सं० ९९); हनुमान का सुरसा-युद्ध वर्णन (सं० १०२); सुग्रीव-गर्जन (सं० १२९); माली

का रावण को समाचार देना (सं० १००)। इसके अतिरिक्त गौड़ीय पाठ में सीता के संध्या संबंधी श्लोक नहीं हैं (सं० ६२) और उत्तरकांड की कुछ सामग्री किष्किंधा कांड में आ गई है (सं० ७९)।

पश्चिमोत्तरीय पाठ (प०)

डा० एस० लेवी की खोजों के अनुसार गौड़ीय पाठ से भिन्न यह पश्चिमोत्तरीय पाठ छठी शताब्दी में उपस्थित था। क्षेमेंद्र (बारहवीं शताब्दी) ने अवश्य ही पश्चिमोत्तरीय पाठ की किसी हस्तलिपि का प्रयोग किया है। हमारी तुलनात्मक तालिका में केवल पाँच स्थल ऐसे हैं जहाँ रामायण-मंजरी और पश्चिमोत्तरीय में विभेद है। सं० २६ तथा ७८ में रामायण-मंजरी का साम्य दा० तथा गौ० से है; यह ऐसी सामग्री है जो प० में बिल्कुल नहीं है। सं० १६, १७ में बहुत ही गौण बातें हैं, जिनपर रामायण-मंजरी का गौ० तथा प० से विभेद है और दा० से साम्य है। सं० १५२ में रामायण-मंजरी का साम्य दा० से है, प० से नहीं; संभव है कि इस विषय में प० पाठ रघुवंश के प्रभाव के कारण बदल दिया गया हो।

ऊपर गौ० तथा प० की उभयनिष्ठ सामग्री पर विचार किया गया है (द्रष्ट० उदीच्य पाठ) और दा० तथा प० की उभयनिष्ठ सामग्री भी दे दी गई है (द्रष्ट० दाक्षिणात्य पाठ)। अब केवल इतना ही बताने की आवश्यकता है कि प० में कौन सी सामग्री ऐसी है जो किसी अन्य पाठ में नहीं है। ऐसे प्रसंग प० में ये हैं— समुद्र का राम-लक्ष्मण को अस्त्र तथा कवच देना (सं० १२७), नारद का राम को उनके नारायण होने का स्मरण दिलाना (सं० १३०), कुंभकर्ण का युद्धक्षेत्र में विभीषण की प्रशंसा करना (सं० १३३), मंदोदरी-केश-ग्रहण (सं० १३५), कैकेयी के दशरथ की सहायता करने योग्य होने का कारण (सं० ३२) और हनुमन्मंगलम् (सं० ८५)। इनमें मंदोदरी-केश-ग्रहण का प्रसंग संभवतः विमलसूरि के पउमचरिउ से लिया गया है (अध्याय ६८)। शेष क्षेपक जो केवल प० में पाए जाते हैं, अन्यत्र उपलब्ध प्रसंगों तथा कथाओं की पुनरावृत्ति या विस्तृत रूप ही हैं (सं० ६७ १२७, १३४ उ, १३६, १३७ तथा १३८)। प० के किष्किंधाकांड में दंडक वन की कथा मिलती है, जो उत्तरकांड से ली गई है (सं० ६८)।

भारतीय नाट्य-परंपरा

[श्री कुँवर चंद्रप्रकाश सिंह]

देश-विदेश के अनेक विद्वानों ने भारतीय नाटक की उत्पत्ति के संबंध में अनेक मतवादों की सृष्टि की है। इन सभी लोगों का ध्यान सबसे पहले भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध उस रूपक की ओर जाता है जिसमें ब्रह्मा द्वारा योगस्थ होकर ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गान और अथर्ववेद से रस लेकर एक सार्ववर्णिक नाट्यवेद के रचे जाने की कथा कही गई है।[1] विद्वानों ने प्रायः इसे भारतीय नाटक की दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत मान लिया है, और इसकी ऐतिहासिक समीक्षा में प्रवृत्त होकर विभिन्न अभिनव निष्कर्ष निकाले हैं। वस्तुतः इस प्रकार इस रूपक का वास्तविक रूप उपेक्षित हुआ है और अनेक निराधार और अनावश्यक[2] कल्पनाओं को आधार मिला है। यह कथा एक रूपक-मात्र है, और इसका नाटक के जन्म अथवा विकास की परंपरा के विवरण में कोई विशेष स्थान नहीं है। इसमें केवल नाट्यकला के स्वरूप और उसके आदर्श का निर्देश किया गया है।

वैदिक संवाद-सूक्त

नाटक की उत्पत्ति के विषय में अनुसंधान करने का उद्देश्य है उसके पूर्वतम रूप को जान लेना। भारतीय नाटक का पूर्वतम रूप हमें वैदिक संवाद-सूक्तों में मिलता है। अकेले ऋग्वेद में ही इस प्रकार के प्रायः पंद्रह संवाद-सूक्त मिलते हैं, जिनमें यम-यमी, पूरूरवा-उर्वशी, अगस्त्य-लोपामुद्रा, विश्वामित्र-नदी, इंद्र-वामदेव आदि के संवाद हैं। निर्विवाद रूप से इन संवाद-सूक्तों में नाटकीय कथोपकथन के गुण विद्यमान हैं।

मैक्समूलर[3] का अनुमान है कि ऋग्वेद का इंद्र-मरुत् संवाद मरुतों के

१—नाट्य शास्त्र, १।११-२२

२—द्रष्ट० कीथ, संस्कृत ड्रामा, पृ० १३

३—Die Sagenst offe des Rigveda, p. 27.

सम्मान में होनेवाले यज्ञों के अवसर पर दुहराया जाता था। संभवतः दो दलों द्वारा इसका अभिनय भी होता था, जिनमें एक इंद्र और दूसरा मरुतों और उनके अनुचरों का प्रतिनिधित्व करता था। प्रोफेसर लेवी ने भी इस धारणा की पुष्टि की है। इसे दुहराते हुए उन्होंने कहा है कि सामवेद से प्रकट है कि संगीत-कला वैदिक काल में पूर्ण विकास को प्राप्त कर चुकी थी। ऋग्वेद[४] में ऐसी कुमारियों का उल्लेख है, जो वस्त्रालंकारों से सुसज्जित होकर नृत्य करती हैं और अपने प्रेमियों को आकर्षित करती हैं। अथर्ववेद में संगीत के साथ नृत्य करनेवाले पुरुषों का विवरण मिलता है। अतएव यह मान लेने में कोई विशेष आपत्ति नहीं हो सकती कि ऋग्वेद-काल में नाटकीय प्रदर्शन होते रहते थे, जिनका स्वरूप धार्मिक था। इनमें पुरोहित पृथ्वी पर स्वर्ग की घटनाओं का अनुकरण करने के लिये देवताओं और ऋषियों की भूमिका ग्रहण करते थे। इस मत का स्वाभाविक निष्कर्ष प्रोफेसर फान श्रायडेर के सिद्धांत में मिलता है। उनका कथन है कि संवाद-सूक्त और लव-सूक्त (ऋग्वेद १०।११९) जैसे कुछ स्वगत-सूक्त भी वैदिक अध्यात्म-रूपकों के अवशेष हैं, जो बीजरूप में भारोपीय काल से चले आ रहे हैं। इन रूपकों की परंपरा का जन-साधारण में प्रचलित लोकप्रिय रूप हजारों वर्ष बाद आज भी बंगाल की यात्राओं में मिलता है। इसके विपरीत सुसंस्कृत तथा पुरोहित वर्ग के आश्रय में पोषित वैदिक नाटक बिना किसी उत्तराधिकारी के ही समाप्त हो गया।

संवाद-सूक्त आध्यात्मिक नाटक (रूपक) हैं, इस मत के समर्थन में डा० हर्टल ने एक नवीन तर्क उपस्थित किया है। उनका कहना है कि वैदिक सूक्त गाए जाते थे। गाने में एकाधिक व्यक्तियों की आवश्यकता होती थी; क्योंकि गाते समय एक ही गायक के लिये विभिन्न वक्ताओं के बीच आवश्यक अंतर स्पष्ट कर सकना असंभव था। एक व्यक्ति ऐसा तभी कर सकता था, जब ये सूक्त गाए न जाते होते। अतएव इन सूक्तों में नाट्यकला का प्रारंभिक रूप मिलता है, जिसकी तुलना गीत-गोविंद से की जा सकती है। हर्टल सुपर्णाध्याय को अधिक विकसित रूप में एक पूरा नाटक मानते हैं। उनके मत से वैदिक नाटक का पृथक् अस्तित्व नहीं, उसके विकास की एक शृंखला है। ऋग्वेद में वह केवल अपने प्रारंभिक रूप में दिखाई देता है, सुपर्णाध्याय में वह विकास के पथ पर है और

४—१।९२।४

यात्राओं में हम पुरानी शैली की परंपरा पाते हैं, जिससे हमें वैदिक नाटक से भारत के शास्त्रीय नाटक के विकास को समझने में सहायता मिलती है। इस दृष्टि से यह मत फान श्रॉयडेर के मत से सर्वथा भिन्न है। श्रॉयडेर यात्राओं का प्रकृत संबंध परवर्ती नाटक से मानते हैं, जिसका विकास विष्णु-कृष्ण और रुद्र-शिव संप्रदायों के घनिष्ठ संपर्क में हुआ। उनके अनुसार यात्राओं तथा वैदिक संवाद-सूक्तों का मूल तो एक ही है, पर विकास भिन्न है।

कीथ[५] ने श्रॉयडेर के मत का खंडन किया है और इन सूक्तों की नाटकीयता को अमान्य ठहराया है। अपने मत का प्रतिपादन करते हुए श्रॉयडेर ने ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों को प्रजनन-कर्मकांड (Fertility-ritual) के अंतर्गत होनेवाले नाटक का अंग माना है। कारण, उन्होंने भारतीय नाटक की उत्पत्ति भी पाश्चात्य नाटक के उद्भव की भाँति प्रजनन-कर्मकांड से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। कीथ का यह कहना ठीक ही है कि इन नाटकों में प्रजनन-कर्मकांड को खींच लाने का विफल प्रयास किया गया है। परंतु प्रजनन-कर्मकांड के अभाव में भी इन सूक्तों की नाटकीयता कम नहीं हो जाती। यथार्थ में जैसा कि नाट्यशास्त्र में कहा गया है, भारतीय नाटक का आदर्श वेद-व्यवहार को सार्ववर्णिक बनाना है।[६] अतः वेद के आध्यात्मिक और दार्शनिक तथ्यों को अभिनय द्वारा जन-साधारण के लिये भी ग्राह्य बनाने का प्रयत्न ऋग्वेद-काल से ही चला आता प्रतीत होता है। वे संवाद-सूक्त इन्हीं अध्यात्म-नाटकों के कथोपकथन माने जा सकते हैं। वेद के आध्यात्मिक और दार्शनिक तथ्यों को नाटकीय रूप देकर जन-साधारण में उनका प्रचार करने की यह परंपरा ही यात्रा, रामलीला आदि में चली आ रही है। इस प्रकार श्रॉयडेर द्वारा कल्पित प्रजनन-कर्मकांड तथा हर्टल[७] द्वारा प्रतिपादित गेयता के अभाव में भी संवाद-सूक्तों की नाटकीयता अक्षुण्ण बनी रहती है।

परंतु संवाद-सूक्तों की उक्त नाटकीयता का निर्णय हठवादिता से नहीं किया जा सकता। शुनःशेप-सूक्त[८] अथवा अगस्त्य-लोपामुद्रा[९]-संवाद जैसे स्थलों में

५—सं० ड्रा०, पृ० १७-२०

६—ना० शा० १।१२

७—द्रष्ट० हर्टल के मत पर कीथ की आपत्ति, सं० ड्रा०, पृ० २०-२१

८—ऋग्वेद १।२४ से १।३० तक।

९—वही, १।१७९

विंडिश, पिशल और ओल्डनबर्ग आदि विद्वानों के मत के लिये पर्याप्त अवकाश मिल सकता है, जिसके अनुसार ये संवाद-सूक्त भारोपीय काल से चली आनेवाली एक प्राचीन गद्य-पद्यमयी महाकाव्य-परंपरा के अंतर्गत आते हैं, जिसमें से पद्य-भाग सुव्यवस्थित और अधिक रसात्मक होने के कारण अवशिष्ट रह गया और गद्य-भाग अव्यवस्थित और अस्थिर होने के कारण पद्यात्मक संहिताओं में स्थान न पा सका। वह केवल अनुश्रुति द्वारा चलता हुआ ब्राह्मण-ग्रंथों में पृथक् रूप से सुरक्षित हो गया। ऋग्वेद ४।१८, ४।४२ तथा इंद्र-वैकुंठ और सौचीक-अग्नि के सूक्तों में गेल्डनर द्वारा प्रतिपादित वीरगाथाओं का स्वरूप भी देखा जा सकता है, और यह संभव है कि आगे चलकर रामायण से लेकर ढोला-मारू और गोपीचंद-भर्थरी तक वीरगाथा को नाटकीय ढंग से पढ़ने या गाने की जो परंपरा पाई जाती है, उसका यह पूर्वरूप हो। इसके अतिरिक्त यम-यमी, पुरूरवा-उर्वशी, नदी-विश्वामित्र आदि के संवाद स्वयं पूर्ण हैं और इनको ज्यों-का-त्यों अभिनीत किया जा सकता था।

वैदिक कर्मकांड

इन नाटकीय संवाद-सूक्तों के अतिरिक्त वैदिक कर्मकांड में भी कुछ ऐसी लीलाएँ होती थीं जिनको नाटक कहा जा सकता है। उदाहरण के लिये सोम-क्रयण[१०] को ले सकते हैं। सोम-यज्ञ के प्रारंभ में एक शूद्र सोम बेचने के लिये आता है और मोल के पश्चात् मूल्य देकर सोम खरीद लिया जाता है। परंतु अंत में वह मूल्य भी उससे छीन लिया जाता है और उसको पत्थरों और ढेलों से मार-मारकर भगा दिया जाता है। बेचारा शूद्र उसी प्रकार हाथ मलता रह जाता है जिस प्रकार मधु लूट लिए जाने पर मधु-मक्षिका। इस लीला में न केवल संघर्ष, कथोपकथन, अभिनय तथा वस्तु-विकास की विविध अवस्थाएँ आदि नाटकीय कथानक के आवश्यक अंग उपलब्ध हैं, अपितु नाटक का चरम लक्ष्य रस भी प्रचुर मात्रा में मिल जाता है। कीथ[११] का कहना है कि यथार्थ नाटक की उपलब्धि तभी हो सकती है, जब अभिनेता ज्ञान-बूझकर प्रदर्शन के लिये ही अभिनय करे और उसका लक्ष्य यदि अर्थ-प्राप्ति नहीं, तो कम से कम अपना और दूसरों का मनोविनोद करना हो। उनके मतानुसार वैदिक कर्मकांड में अभिनेता

१०—शत० ब्रा०, ३।३।२।६; गो० २।३।३।६

११—सं० ड्रा०, पृ० २४

किसी ऐसे लक्ष्य को सामने न रखकर केवल धार्मिक अथवा तांत्रिक सिद्धि के लिये प्रयत्न करते हैं, इसलिये उसे नाटक नहीं माना जा सकता। कीथ के इस कथन के मूल में फ्रेज़र आदि द्वारा प्रतिपादित वह मत प्रतीत होता है जिसके अनुसार संसार की दूसरी जातियों की धार्मिक क्रियाओं के समान वैदिक यज्ञ भी यंत्र-तंत्र और जादू-टोना मात्र रह जाते हैं। परंतु ऐसा मानने में कीथ स्वयं अपने उस मत को छोड़ते हुए प्रतीत होते हैं जो उन्होंने आगे चलकर वैदिक यज्ञों के संबंध में 'फ़िलासफ़ी ऑव वेद ऐंड उपनिषद'[12] में निर्धारित किया है, और जिसके अनुसार वे वैदिक यज्ञों को आध्यात्मिक नहीं तो कम से कम प्राकृतिक तथ्यों का अनुकरण मानने को तैयार हो गए हैं। यथार्थ में वैदिक यज्ञ स्वयं सूक्ष्म आध्यात्मिक सत्यों को सर्वसाधारण के लिये बोधगम्य बनाने के लिये ही प्रचलित किया गया था।[13] जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, नाट्य-शास्त्र के अनुसार नाटक का भी लगभग यही उद्देश्य है। अतः जब एक दृष्टि से सारे वैदिक यज्ञों को ही 'वेद-व्यवहार को सार्ववर्णिक बनानेवाले नाटक' माना जा सकता है, तो उसके अंतर्गत आनेवाले सोम-क्रयण या महाव्रत आदि क्रियाओं की नाटकीयता में तो कोई संदेह रह ही नहीं जाता। यह बात अवश्य है कि यज्ञ कोरे मनोविनोदकारी नाटक ही नहीं हैं, अपितु उनके अंतर्गत सोम-याग आदि जी उकतानेवाला अनेक प्रकार का धार्मिक कर्मकांड भी आता है और उनका यह रूप ही आगे चलकर अधिकाधिक विकसित होता हुआ अवशिष्ट रह जाता है, जिसका उद्देश्य कोई अलौकिक सिद्धि मात्र समझ लिया जाता है। परंतु यज्ञों का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर यह बात भली भाँति समझी जा सकती है कि प्रारंभ में उनका लक्ष्य केवल सूक्ष्म आध्यात्मिक तथ्यों को अभिनय या कर्मकांड द्वारा सर्वग्राही बनाना ही था।[14] पीछे, कर्मकांड के अत्यंत विस्तृत और जटिल हो जाने के कारण यह प्रधान लक्ष्य विस्मृत हो गया और नाटक से सादृश्य रखनेवाला यज्ञों का लोकप्रिय रूप प्रायः नष्ट हो गया। फिर भी नाटक को यज्ञों से पूरी तरह नहीं निकाला जा सका और जी उकतानेवाले लंबे-लंबे यज्ञों के बीच-बीच ऋत्विजों और यजमानों के मनोरंजन के लिये ब्रह्मोद्य-कथाओं के साथ-साथ कुछ मोटे-मोटे नाटक के ढंग के प्रदर्शन

१२—पृ० ३५५-३५६,

१३—डा० फतहसिंह, 'वैदिक दर्शन'।

१४—वही, 'दि कंसेप्ट ऑव वेदिक सोश्यालॉजी'।

भी होते रहे। सोम-क्रयण तथा महाव्रत के साथ होनेवाली नृत्य आदि क्रियाओं को हम इसी प्रकार के प्रदर्शनों में गिन सकते हैं। अतः प्रोफेसर हिलेब्राँ और कोनो का कथन ठीक ही है कि इस प्रकार की क्रियाएँ पूर्णरूपेण कर्मकांडीय नाटक हैं, चाहे, जैसा कोनो का कथन है, इनकी रचना समाज में प्रचलित लोकप्रिय स्वांगों के अनुकरण में हुई हो अथवा स्वतंत्र रूप से।

अपने उद्भव-काल में नाटक और यज्ञ के इस अभिन्न संबंध का प्रमाण हमें नाट्यशास्त्र में सुरक्षित परंपरा से भली भाँति मिल जाता है। यह बात निर्विवाद रूप से मानी जा सकती है कि वैदिक साहित्य और उसको व्यावहारिक रूप देनेवाले यज्ञों के मूल में देवासुर-संग्राम तथा उसके अंत में होनेवाली इंद्र की विजय ही है। नाट्यशास्त्र से भी यही पता चलता है कि नाट्य प्रयोग का प्रारंभ देवासुर-संग्राम में असुर और दानवों की पराजय के पश्चात् होनेवाले महेंद्र-विजयोत्सव के समय ही हुआ, जिसकी नांदी में देवों द्वारा दैत्यों पर प्राप्त विजय के अनुकरण का समावेश था—

अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम्।
ततस्तस्मिन् ध्वजमहे निहतासुरदानवे ॥
प्रहृष्टामरसंकीर्णे महेन्द्रविजयोत्सवे।
पूर्वं कृता मया नान्दी आशीर्वचन संयुता ॥
अष्टाङ्गपदसंयुक्ता विचित्रा देवसंमता।
तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथा दैत्याः सुरैर्जिताः ॥

(ना० शा०, १।५५-५७)

नांदी के पश्चात् जो नाटक अभिनीत किया गया, उसमें भी देवों द्वारा दैत्यों और दानवों का विनाश दिखलाया गया ('एवं प्रयोगे प्रारब्धे दैत्य-दानव-नाशने') जिससे कहा जाता है कि इस अभिनय से असुर लोग अप्रसन्न हुए, और उन्होंने विघ्न करना आरंभ कर दिया। परंतु इंद्र ने वहीं गड़े हुए अपने ध्वज को उठाकर उससे सारे विघ्नकारी असुरों को नष्ट कर दिया। यह देखकर देवता लोग बहुत प्रसन्न होकर बोले—'तुम्हारे दिव्य शस्त्र को धन्यवाद है। इसने सारे दानवों के सभी अंग जर्जर कर डाले हैं। यतः इसने सारे विघ्नों और असुरों को जर्जर कर डाला है, इसलिये इसका नाम 'जर्जर' होगा। और जो भी हिंसक बच रहे हैं

वे हिंसा के प्रयोजन से आने पर इस 'जर्जर' को देखकर इसी अवस्था को प्राप्त हो जायँगे।[१५]

कहा जाता है कि उक्त 'जर्जर' नाम का इंद्र-ध्वज असुरों से रक्षा करने के लिये ही रंगशाला में स्थापित किया जाता था।[१६] संभवतः यज्ञों में स्थापित यूपों का भी प्रारंभ में यही आशय था, पीछे जब यज्ञों में हिंसा का प्रयोग होने लगा[१७] तो उससे पशु बाँधने का काम भी लिया जाने लगा, जिसके कारण यूप की आकृति भी कुछ विशेष प्रकार की होने लगी। इस विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि ब्राह्मण ग्रंथों में यूप को प्रायः इंद्र का वज्र कहा गया है,[१८] और फलतः उसका विघातक रूप नाट्यशास्त्र के उक्त जर्जर-ध्वज से पूर्णतया मिलता है। यज्ञ-यूप के अनुकरण-स्वरूप उक्त ध्वज को स्थापित करने की प्रथा केवल नाट्यशालाओं में ही नहीं, अपितु नाटक की भाँति ही वैदिक साहित्य तथा वैदिक कर्मकांड से उद्भूत और प्रभावित इसी प्रकार की अन्य क्रियाओं में भी प्राप्त होती है। उदाहरण के लिये वीरगाथात्मक वैदिक संवाद-सूक्तों की परंपरा में चली आती हुई पौराणिक कथाओं के प्रवचन में भी इसी प्रकार का एक ध्वज गाड़ा जाता है; वहाँ यदि कोई अंतर है तो इतना ही कि वैदिक देव और असुर के स्थान पर क्रमशः देवोपम गोकर्ण[१९] और असुरोपम धुंधुकारी अथवा इसी प्रकार के अन्य मानवीय प्रतीकों का उल्लेख मिलता है।

देवासुर-संग्राम, महेंद्र-विजय तथा यूपोपम जर्जर-ध्वज के साथ-साथ यदि हम वेद-व्यवहार को सार्ववर्णिक बनाने का नाटक का नाट्यशास्त्रोक्त उद्देश्य भी सामने रक्खें तो यह बात सहज में ही स्पष्ट हो जाती है कि जिस नाटकीय परंपरा के लिये भरत का नाट्य-शास्त्र लिखा गया, उसका जन्म, परिवर्द्धन तथा परिष्कार वैदिक दर्शन, साहित्य तथा कर्मकांड के उदात्त और ओजस्वी उत्संग में हुआ। आगे चलकर रंगमंच के निरूपण में यह भली भाँति दर्शाया गया है कि नाट्यशास्त्र में वर्णित रंगशाला के स्वरूप का निर्धारण भी वैदिक यज्ञ-मंडपों के

१५—ना० शा०, १।७०-७४

१६—वही, १।७६; तुलनीय हेमेंद्रनाथ, 'इंडियन स्टेज', पृ० ४-६

१७—डा० फतहसिंह, 'दि कंसेप्ट ऑव यज्ञ इन वेदिक सोश्यालॉजी'।

१८—वज्रो यूपः, शत० ३।६।४।१६

१९—श्रीमद्भागवत-माहात्म्य।

अनुकरण पर ही हुआ और नाटकीय प्रयोग से संबंध रखनेवाली अनेक धार्मिक क्रियाओं का उद्भव भी वैदिक कर्मकांड से हुआ।

परंतु उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना ठीक न होगा कि संस्कृत नाटक तात्त्विक दृष्टि से सदा वैसा ही बना रहा जैसा वैदिक काल में था। परिवर्तन-चक्र में पड़कर जिस प्रकार वैदिक यज्ञ तथा उसका कर्मकांड बदलते गए वैसे ही उनसे संबद्ध नाटक का भी रूपांतर होता गया। इस संबंध में सबसे अधिक उल्लेखनीय वह "वेदवाद" है, जिसमें उत्तरोत्तर जटिलता को प्राप्त होनेवाले वैदिक यज्ञों में हिंसा तथा भोगैश्वर्य-लिप्सा का प्राधान्य हो गया और जिसका विरोध न केवल बार्हस्पत्य, जैन और बौद्ध आदि तथाकथित दर्शनों ने किया, अपितु श्रीमद्भगवद्गीता तथा उससे भी पहले कुछ ब्राह्मण-ग्रंथों, आरण्यकों, तथा उपनिषदों ने भी किया।[२०] शताब्दियों तक चलनेवाले इस विरोध के परिणाम-स्वरूप ही नाटक को कर्मकांड से छुटकारा पाने का अवसर मिला और उसे स्वतंत्रता की वायु में पल्लवित और पुष्पित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अतएव प्राचीन भारतीय नाटक को विकास का सबसे अधिक उपयुक्त अवसर बौद्ध काल में मिला प्रतीत होता है। इसका कारण कदाचित् यह था कि बौद्ध धर्म के प्रचार से पहिले जैन धर्म तक ने श्रौत कर्मों का ऐसा संपूर्ण त्याग न कर पाया था जैसा बौद्ध धर्म ने किया।

बौद्ध काल में यज्ञ आदि धार्मिक क्रियाओं से पृथक् नाटक का स्वतंत्र रूप हमारे सामने आने लगता है। बौद्ध साहित्य में हमें इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। ललितविस्तर में बिंबसार द्वारा दो नाग राजाओं के सम्मान में नाटक के आयोजन का उल्लेख मिलता है। आगे यह भी उल्लेख है कि स्वयं बुद्ध की आज्ञा से राजगृह में एक नाटक खेला गया था। बुद्ध के शिष्य मौद्गलायन और उपतिस्व ने नाट्य-कौशल का प्रदर्शन अनेक लीलाओं में किया। उस समय कुवलया नाम की एक अत्यंत सुंदरी नटी थी जिसका अभिनय-कौशल अत्यंत प्रसिद्ध हो गया था। कुछ बौद्ध भिक्षु उसके प्रलोभन में पथभ्रष्ट हो गए, अतः बुद्ध ने उसे कुरूप वृद्धा स्त्री बनाकर उसके पाप का दंड दिया। उसने पाप का प्रायश्चित किया और भगवान बुद्ध की कृपा से वह संत-पद को प्राप्त हुई।

२०—द्रष्ट० 'दि कंसेप्ट ऑव वेदिक सोश्यालॉजी'।

रिज डेविड्ज[२१] के अनुसार प्रारंभिक बौद्ध-काल में ही उत्कृष्ट भावी नाटक का पूर्व रूप पाया जाता है और सुत्त-साहित्य में मनोविनोद के अन्य साधनों के साथ नाटकीय अभिनयों का भी उल्लेख मिलता है।[२२] यद्यपि 'समाज'[२३] के अंतर्गत आनेवाले तथा ऐसे ही अन्य नाटकीय अभिनयों को भिक्षुवर्ग निंद्य समझता था, परंतु कुछ ऐसे धार्मिक और आध्यात्मिक नाट्य-प्रयोग भी होते थे जिनको जे० कार्पेंटियर ने 'लघु-नाटक' (Little dramas) कहा है। इसी श्रेणी में वे 'एक चा समाजा साधुमता' आते हैं जिनका प्रचलन अशोक ने हिंसा-परक 'समाजों' के स्थान पर करवाया था और जिनमें ज्योतिष्कंध आदि का प्रदर्शन भी होता था।[२४] किसा-गोमती, अहिपारक, वेसंतर आदि के जातक-कथानकों की नाटकीयता इतनी लोकप्रिय हुई[२५] कि उनके प्रयोगों से न केवल भारतीय जनता का मनोरंजन हुआ, अपितु विदेशी बौद्ध-समाज में भी उनके अभिनय को शताब्दियों तक आदर मिलता रहा। खेद की बात है कि कुछ साम्राज्य-वादी पाश्चात्य विद्वानों ने इस बौद्धकालीन नाट्य-विधि की अवहेलना करते हुए यह निष्कर्ष निकालने का असफल प्रयत्न किया है कि बौद्ध-काल में नाटक नहीं

२१—'बुद्धिस्ट इंडिया', पृ० ११६—

It is interesting to notice that just as we have evidence at this period of the first steps having been taken towards a future Epic, so we have evidence at the first steps towards a future drama—the production before a tribal concourse on fixed feast days of shows with scenery, music, and dancing.

२२—विंटरनित्स, 'हिस्ट्री ऑव इंडियन लिट्रेचर', जिल्द २

२३—इंडियन एंटिक्वेरी, १९१३, पृष्ठ २५५—२५८, डा० भंडारकर का लेख।

२४—द्रष्ट० गिरनार शिला-लेख; तुल०—हेमेंद्रनाथ दासगुप्त कृत 'दि इंडियन स्टेज,' पृष्ठ ३७-३८,

२५—विंटरनित्स कृत 'हिस्ट्री ऑव इंडियन लिट्रेचर जि० २, पृष्ठ ५८, १४१,१५२; तुल०—दिव्यावदान २६-२६, और दिग्घनिकाय (रिज डेविड्ज़ और कार्पेंटर द्वारा संपादित) दूसरा भाग, भूमिका पृ० ८ और पृ० ३ पर द्वितीय टिप्पणी।

हुए। परंतु बौद्ध ग्रंथों में भिक्षुओं के लिये नाटक देखने का निषेध होना ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि उस समय नाटकीय अभिनय इतने अधिक व्यापक और लोकप्रिय थे कि वीतराग भिक्षु भी उनकी ओर आकर्षित होते थे।[२६] कालिदास से भी बहुत पूर्व अश्वघोष जैसे समादृत बौद्ध महाभिक्षु द्वारा 'सारिपुत्रप्रकरण' के समान नाटकों की रचना, ई० पू० तृतीय शताब्दी में सीता-बेंगा और जोगीमारा की गुफाओं में नाट्यशालाओं का होना,[२७] तथा उससे भी पूर्व नाट्य-शास्त्र में इसी प्रकार की नाट्यशालाओं का वर्णन देखकर यह भली भाँति प्रमाणित हो जाता है कि बौद्ध-काल में नाटक उक्त वेदवादी प्रभाव से मुक्त होकर स्वतंत्र रूप से विकसित होता रहा और उसके ऊपर कट्टरपंथी बौद्धों के निषेध का कोई प्रभाव न पड़ा।

जातक कथाओं में, जो ईसा से तीसरी शती पूर्व की मानी जाती हैं, 'नट', 'नाटक', 'समाज' और 'समाज-मंडल' आदि के अनेक उल्लेख प्रायः साथ-साथ मिलते हैं। बौद्ध साहित्य में 'समाज' शब्द नाटकीय प्रयोगों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि कणवेरा जातक के अंतर्गत भगवान बुद्ध के पूर्व जन्म की उस मनोरंजक कथा से प्रमाणित होता है जिसमें उक्त शब्दों का स्पष्ट प्रयोग हुआ है।[२८] इस कथा के अनुसार जब काशी में ब्रह्मदत्त का राज्य था, उस समय बोधि-सत्व ने एक प्रसिद्ध डाकू के रूप में जन्म लिया। उनके आतंक से प्रजा की रक्षा के लिये राजा ने उन्हें प्राणदंड दिया। काशी में राजा की प्रेयसी श्यामा नाम की एक गणिका थी जिसका उसपर बड़ा प्रभाव था। पर वह बोधिसत्व के प्रणय-पाश में बँध गई थी। उसने अपने प्रेमी एक धनी और सुंदर वणिक-युवक को एक हजार मोहरें देकर अधिकारी के पास भेजा। परिणामस्वरूप बोधिसत्व तो श्यामा के पास भेज दिए गए और उनके स्थान पर उस वणिक का वध किया गया। तत्पश्चात् श्यामा ने अपना व्यवसाय छोड़ दिया और अहर्निश बोधिसत्व

२६—दिग्घनिकाय का 'ब्रह्मजाल सुत्त'; तुल० विंटरनित्स, हि० इं० लि०, पृ० ३६

२७—डा० थ्योडोर ब्लाश की रिपोर्ट, आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, १९०३-४; ना० शा०, ६।६-११

२८—रिज़ डेविड्ज़, 'बुद्धिस्ट इंडिया', पृ० ११७-१२०; विंटरनित्स, हि० इं० लि०, जि० २, पृ० ५८, १४१,१५२

के साथ निवास करने लगी। बोधिसत्त्व को शीघ्र ही यह आशंका हुई कि वणिक की भाँति कालांतर में उन्हें भी वैसा ही कुफल भोगना पड़ेगा, अतः उन्होंने श्यामा का परित्याग कर दिया।

उनके चले जाने के बाद विरहिणी श्यामा अत्यंत अधीर हो उठी और उसने उन्हें प्राप्त करने के सब संभव उपाय करने का संकल्प किया। उसने कुछ नटों को बुलाया और उन्हें पुष्कल द्रव्य प्रदान किया। नटों के यह पूछने पर कि उनको क्या सेवा करनी होगी, उसने कहा—

तुम्हाकं अगमनत्थानं
नमर' त्थि तुम्हें गाम निगम राजधानिय
गन्ता समाज्जं कत्वा समज्ज मंडले
पठाममेव इमं गीतं गायेय्याथा ते
बाराणसि तो निक्खमित्वा तत्था तत्था
समाज्जं करोन्ता एकं पच्चन्त गामकं गमिसी
ते तथा समाज्जं करोता पठममेव गीतकं गायिस।

अर्थात् ऐसा कोई स्थान नहीं जो तुम्हारे लिये अगम्य हो, अतः तुम प्रत्येक गाँव और नगर में जाना और समाज-मंडल में भिन्न-भिन्न प्रकार से समाज करके लोगों की भीड़ को एकत्र करके यह गीत गाना—'श्यामा जीती है और एकमात्र तुम्हारे लिये जीती है। वह तुमसे प्रेम करती है और केवल तुम्हीं से प्रेम करती है।'

यहाँ पर अभिनेताओं को 'नट', नाटक को 'समाज' और रंगशाला को 'समज्ज-मंडल' कहा गया है।

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित उल्लेखों से भी सिद्ध होता है कि नाटकों के अभिनय स्वतंत्र रूप से भिन्न-भिन्न अवसरों पर मनोरंजन तथा आनंदोत्सव के लिये हुआ करते थे—

(१) "दत्व नाटकानि उपस्थ पेस्साम, भद्दे पुतस्स ते रज्ज मल"—अर्थात् तुम्हारे पुत्र को राज्य प्रदान करते हुए हम नाटकीय समारोहों की आयोजना करेंगे।[२९]

२९—कुश जातक, पृ० २०, सं० ५३१

(२) "राजपुत्तम अभिसिंचित्व नाटकानि स्म पच्चुपस्य-पेस्साम"—अर्थात् राजा ने अपने पुत्र के अभिषेक की इच्छा की और उसके मनोरंजन के लिये नाटकों का आयोजन किया। (उदय जातक)

(३) "नाग लोग जनसमूह का दो कारणों से निरीक्षण करते हैं, या तो गरुड़ के लिये अथवा अभिनेताओं के लिये।"[३०]

(४) "सफलता प्राप्त करनेवाले चार में से एक वह होता है, जो अभिनेता के कौशल को जानता है।"[३१]

बौद्ध-काल में नाटक के जिस स्वतंत्र और समुन्नत स्वरूप का उल्लेख ऊपर किया गया है उसका प्रारंभ हमको बहुत पहले तभी से मिलने लगता है जबसे उपर्युक्त 'वेदवाद' के प्रति विद्रोह अधिकाधिक प्रबल हो चलता है। रामायण और महाभारत में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं—जिनसे इस प्रकार के नाटकों का उस काल में होना सिद्ध होता है। वाल्मीकि-रामायण में अयोध्याकांड के अंतर्गत हम देखते हैं कि राम-वन-गमन और दशरथ-मरण के प्रसंग में, अपने मातुल-गृह में निवास करनेवाले तथा अयोध्या की परिस्थिति से अनभिज्ञ किंतु अपशकुनों तथा दुःस्वप्नों आदि के कारण अत्यंत उद्विग्न भरत के मनोविनोद के लिये उनके मित्रों ने जो आयोजन किए हैं उनमें एक नाटक भी है—

वादयन्ति तदा शान्ति लासयन्त्यपि चापरे।
नाटकान्यपरे स्माहुर्हास्यानि विविधानि च ॥ (२।६६।४)

भरत के अयोध्या लौट आने पर मार्कंडेय आदि ऋषियों ने अराजकता के दुष्परिणाम सूचित करते हुए नटों का उल्लेख किया है—

नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः।
उत्सवाश्च समाजाश्च वर्द्धन्ते राष्ट्रवर्द्धनाः ॥ (२।६५।१५)

इसके अतिरिक्त बालकांड के अंतर्गत अयोध्यापुरी का वर्णन पढ़ने से मालूम होता है कि नगर में स्त्रियों के लिये पृथक् अनेक रंगशालाएँ थीं।[३२] अतः प्रसाद जी का यह कहना ठीक ही है कि 'ये नाटक केवल पद्यात्मक ही रहे हों, ऐसा अनुमान नहीं किया जा सकता। संभवतः रामायण-काल के नाटक-संघ

३०—जातक, भाग ६, १०२ (पु० १२, सं० ५४३)

३१—वही (पु० ३, सं० २८७)।

३२—वधूनाटकसंघैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम्। (वा० रा०, १।५।१२)

बहुत प्राचीन काल से प्रचलित भारतीय वस्तु थे।' यदि व्यामिश्रक का अर्थ मिश्रित भाषाओं में लिखा हुआ नाटक मानना ठीक हो,[33] तो ये नाटक केवल खेले ही नहीं पढ़े भी जा सकते थे, जैसा राम द्वारा नाटकों के स्वाध्याय के विवरण से प्रकट है—

श्रैष्ठयं शास्त्रसमूहेषु प्राप्तो व्यामिश्रकेषु च। (वा० रा०, २।१।२७)

महाभारत में भी हमें विराट-पर्व में एक विशाल रंगमंच का उल्लेख मिलता है। इसी पर्व के अंतर्गत अभिमन्यु-उत्तरा-विवाह के प्रसंग में नटों, वैतालिकों, सूतों और मागधों के साथ-साथ नटों का भी नाम आया है, जिन्होंने सम्मानित अतिथियों का अनेक प्रकार से मनोरंजन किया। वन-पर्व में धर्म के प्रश्नों का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने बतलाया है कि कीर्ति के लिये हमने समय-समय पर नट-नर्तकों को द्रव्य प्रदान किया है।

संभवतः इसी काल के आसपास नाट्य-कला पर ग्रंथ भी लिखे जाने लगे थे, जैसा कि ईसा से आठ या सात सौ वर्ष पूर्व पाणिनि द्वारा उल्लिखित कृशाश्व और शिलाली के नट-सूत्रों से प्रतीत होता है। यदि शतपथ ब्राह्मण (१३.५.३.३) के शिलाली और पाणिनि के शिलाली में कोई अंतर नहीं है तो नाट्य-कला के शास्त्रीय अध्ययन का प्रारंभ ब्राह्मण-काल से ही मानना पड़ेगा।[34] इस प्रसंग में कीथ[35] का यह मत कि यहाँ नट का अर्थ अभिनेता नहीं है, मानना ठीक नहीं जँचता। कारण, नाटक के साथ 'नट' शब्द का जो अर्थ बौद्ध-साहित्य, नाट्य-शास्त्र तथा उसके परवर्ती संस्कृत ग्रंथों में लिया जाता है वही अर्थ रामायण, महाभारत तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी में क्यों न लिया जाय, जब कि इन ग्रंथों का समय उक्त साहित्य में से प्राचीनतम ग्रंथों से बहुत पहले का नहीं प्रतीत होता। इसके अतिरिक्त जैसा कि कहा जा चुका है, स्वयं रामायण में ही नाटक, नट और वधू-नाटक-संघों का उल्लेख मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र की भाँति पाणिनि और महाभारत से पहले रामायण-काल में भी नट शब्द का अर्थ नाटक से संबंध रखनेवाला ही अधिक स्वाभाविक है। यदि कीथ[36] महोदय के कथना-

---

३३—द्रष्ट० 'इंडियन स्टेज' पृ० २८; 'संस्कृत ड्रामा' पृ० २६

३४—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४; तुल० कु० गोदावरी वासुदेव केतकर, 'भारतीय नाट्य-शास्त्र', पृ० २-३

३५—सं० ड्रा०, पृ० २८ ३६—वही।

नुसार नट-सूत्रों को केवल मूक अभिनय का ग्रंथ मान लिया जाय तो यह बातें समझ में नहीं आतीं कि इस प्रकार के सूत्रों की परंपरा आगे क्यों नहीं चली। इसके विपरीत यदि इन नट-सूत्रों को नाट्यकला के ग्रंथ माना जाय, तो हमें यह परंपरा नाट्यशास्त्र, दशरूपक तथा नाट्य-दर्पण आदि में उत्तरोत्तर विकसित होती हुई बराबर मिलती चली आती है।

शतपथ ब्राह्मण से पाणिनि के समय तक नाट्यकला पर ग्रंथरचना को स्वीकार करने में यह बात न भूलनी चाहिए कि ये ग्रंथ कर्मकांड-मुक्त नाटकों पर ही अधिक लागू होते होंगे, क्योंकि इस समय तक श्रौतकर्म-विरोधी आंदोलन वैदिक कर्मकांड को दूर करने में इतना सफल न हो सका था जितना बौद्ध-काल में हुआ, जब कि जैसा ऊपर लिखा गया है, नाटक का स्वतंत्र रूप से प्रचार पूरी तरह से हो चला था। कर्मकांडमुक्त बौद्धकालीन नाटकों की श्रेणी के अन्य शास्त्रीय नाटकों का उल्लेख हमें वात्स्यायन के कामसूत्र में मिलता है, जिसका समय ई० पू० पाँचवीं से तीसरी शती तक माना जाता है—

(१) गीतम्, वाद्यम्, नृत्यम्, आलेख्यम्...नाटकाख्यायिका दर्शनम्।

(कामसूत्र, १।३।१६)

(२) पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः। कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः। द्वितीयेऽहनि तेभ्यः पूजानियतं लभेरन्। ततो यथा-श्रद्धमेषां दर्शनमुत्सर्गो वा। व्यसनोत्सवेषु चैषां परस्परस्यैककार्यता। आगन्तूनां च कृतसम-वायानां पूजनमभ्युपपत्तिश्च। इति गणधर्म्मः। (वही, १।४।२१)

अर्थात् पक्ष या मास के किसी भी नियत दिवस पर सरस्वती-भवन में नियुक्त जनों का समाज हो और आगंतुक कुशीलव इन लोगों को प्रेक्षणक (नाटकीय प्रयोग) प्रदान करें। दूसरे दिन इनको नियत रूप से पुरस्कार दिया जाय। व्यसन और उत्सव में इन लोगों की पारस्परिक एककार्यता हो। आगंतुकों तथा कृतसमवाय लोगों का पूजन तथा सत्कार हो। यह गणधर्म है।

इस अवतरण से यह प्रतीत होता है कि सुरुचि-संपन्न शिष्टजनों (जिनके लिये ही यथार्थ में कामसूत्र लिखा गया है) के लिये सरस्वती-भवन नामक कला-मंदिर में स्थायी रूप से नियुक्त कुछ जनों द्वारा समाज (नाटकीय प्रयोग) होते रहते थे। इन समाजों में कभी-कभी अपने नाटकीय कौशल का प्रदर्शन (प्रेक्षणक) करने के लिये बाहर से कुशीलवों को भी बुलाया जाता था, जिनके

लिये कदाचित् यह कला आजीविका का साधन थी। जैसा इनके नाम से ही प्रकट है, इस कला द्वारा पैसे कमाते-कमाते संभवतः इनके शील (चरित्र) में भी दोष आ जाया करता था। नटों का यह चारित्रिक विकार उस व्यापक चारित्रिक अपकर्ष का परिणाम भी हो सकता है जो डा० फतहसिंह के अनुसार किसी बाह्य संपर्क के कारण हमारे समाज में प्रविष्ट हुआ—"आर्य जाति के इतिहास में कोई ऐसी घटना अवश्य हुई प्रतीत होती है जिसके कारण उसको अपनी संस्कृति-रक्षा के लिये कुछ सामाजिक प्रतिबंधों की सृष्टि करनी पड़ी।......इस प्रश्न पर अत्यंत गंभीर विचार करने के पश्चात् मैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि बहुत प्राचीन काल में ही हमारे देश में बाहर से कोई ऐसी जाति आई जो वेश्या-वृत्ति, पशु-बलि आदि के साथ-साथ समाज में वर्गवाद तथा जाति-प्रथा भी, लाई, क्योंकि मैं अधिकारपूर्वक कह सकता हूँ कि ये बुराइयाँ वैदिक समाज में नहीं थीं।......इस परिवर्तन का प्रभाव काव्य मात्र पर पड़ा और नाट्य को तो इसने पूर्णतया बदल दिया। अतः नट, नर्तक और शैलूष आदि वैदिक काल में पवित्र लोग समझे जाते हैं, परंतु रामायण तथा महाभारत में वही गर्हित तथा आचार-भ्रष्ट समझे जाते हैं। नाट्य के वातावरण की यह विकृति निश्चित रूप से सूत्र-काल में प्रारंभ हो गई थी, क्योंकि नृत्य, गीत, वाद्य आदि जो कौषीतकी ब्राह्मण में आदरणीय तथा पवित्र कलाएँ हैं, वही पारस्कर गृह्य-सूत्र में द्विज वर्गों के लिये सर्वथा त्याज्य समझी गई हैं।[३७] इसी लिये प्रतिदिन इनका संसर्ग हानिकारक समझकर केवल पक्ष या मास में कभी-कभी बुलाने की व्यवस्था की जाती थी।

चारित्रिक दुर्बलता के कारण कुशीलवों का अति संसर्ग अस्पृहणीय होते हुए भी उनकी कला के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिये न केवल उनको पुरस्कार प्रदान किया जाता था, अपितु स्थायी रूप से नियुक्त अभिनेताओं से यह भी आशा की जाती थी कि वे व्यसन और उत्सव में कुशीलवों के साथ पारस्परिक सहयोग और सहानुभूति का बर्ताव करें। कुशीलवों के प्रति यह अभ्युपपत्ति और पूजा इसलिये आवश्यक थी कि नियुक्त अभिनेताओं तथा कुशीलवों का गण (वर्ग) एक ही था और इसलिये परस्पर प्रीति और सहानुभूति का व्यवहार रखना गणधर्म था।

कामशास्त्रीय अवतरण में उल्लिखित नियुक्त अभिनेताओं के समाज और

३७—कामायनी-सौंदर्य, पृ० २२-२३

कुशीलवों के प्रेक्षणक का अलग-अलग उल्लेख होने से ऐसा प्रतीत होता है कि कर्मकांड से मुक्त होने पर नाटक की लौकिकता और लोकप्रियता के अधिक बढ़ने के साथ ही अभिनेताओं में चारित्रिक दुर्बलता के लिये अवसर भी अधिक होने लगे। संभवतः इसी दोष से नाटक को मुक्त करने के लिये शिष्ट जनों ने व्यवसायियों के हाथ से निकालकर उसे एक नया रूप दिया। परंतु इन दोनों प्रकार के अभिनेताओं की 'एककार्यता' का परिणाम आगे चलकर नाट्यकला के लिये अस्वस्थ ही हुआ प्रतीत होता है। यही कारण है कि 'अर्थशास्त्र' में अभिनय और नाट्य को निंदित तथा ब्राह्मणों के लिये त्याज्य माना गया है। गिरनार शिलालेख में उल्लिखित 'न च समाजो कर्त्तव्यो बहुकम् हि दोषम्', नाटक की इसी विकृति की ओर संकेत करता हुआ प्रतीत होता है। अशोक द्वारा इसके परिहार का जो उल्लेख हमें उसके शिलालेखों में मिलता है वह वस्तुतः भारतीय समाज की उस व्यापक परिष्कार-प्रवृत्ति की एक झलक मात्र है, जिसको एक विद्वान् के शब्दों में 'साहित्यवाद' कह सकते हैं[३८] और जिसके द्वारा नाट्य आदि सभी सामाजिक प्रवृत्तियों की विकृति को दूर कर उसे अ-हित से स-हित बनाने का प्रयत्न किया गया था। इस प्रकार नाटक का नैतिक परिष्कार करने की जो प्रवृत्ति हमें कामसूत्र और अशोक के शिलालेखों में मिलती है उसका सर्वोत्तम रूप हमें भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है, जिसमें किन्हीं अंशों में हम फिर से मूल वैदिक (वेदवादी नहीं) कर्मकांड की उदात्त नैतिकता और रसवादी नाट्यादर्श की आध्यात्मिकता का पुनरुद्धार होते देखते हैं। नाट्यावतार नामक छत्तीसवें अध्याय में एक आलंकारिक वर्णन द्वारा स्पष्ट बतलाया गया है कि मंत्रादि द्वारा देवार्चनयुक्त पूर्वरंग वाले स-हित नाट्य से जहाँ लोक-कल्याण, यश और मंगल की वृद्धि होती है वहाँ दुराचारपूर्ण अश्लील हास्य और प्रहसन का आश्रय लेने वाले नाट्य से सर्वथा पतन तथा अधोगति ही निश्चित है। इस प्रकार के नाट्य का अभिनय करनेवाले, भरत मुनि के अनुसार 'निराहूता' होकर नाट्यवेद को उस गर्त में गिराते हैं जिससे नहुष द्वारा उसके पुनरुद्धार की कथा नाट्यशास्त्र में कही गई है। नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्यकर्म एक 'ब्रह्मभावित' महान् धर्म है। यही कारण है कि नाट्य के विभिन्न अंगों में भारतीय नाट्यशास्त्र में सभी के लिये वेदानुकूलता देने का प्रयत्न होने पर भी केवल रूपक ही अपनी स्थिति को अक्षुण्ण रख सका और रूपकों में भी उन्हीं प्रकारों का प्रचार अधिक हुआ जो सुरुचि, सदाचार तथा मर्यादा को अच्छे प्रकार से निभा सकते थे।

३८—वही, पृ॰ २४-२५,

अतएव नाट्यशास्त्र में 'समवकार' आदि के लिये बहुत से 'बन्ध-कुटिलानि' वर्जित कर दिए गए और प्रहसन में केवल 'लोकोपचार युक्त वार्ता' को स्थान दिया गया।[३९]

इसी मर्यादावादी प्रवृत्ति को भास-नाटकों के कथानकों से लेकर महाभाष्य में उल्लिखित कंसवध और बलिबंध, अश्वघोष कृत 'सारिपुत्र-प्रकरण' तथा कालिदास के नाटकों तक उत्तरोत्तर निखरता हुआ देखा जा सकता है। नाट्य-साहित्य के इस उत्थान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कर्मकांड-युक्त और कर्मकांड मुक्त दोनों प्रकार के नाटकों के दोषों के परिहार की क्षमता विद्यमान है। यही कारण है कि इस उत्थान के फलस्वरूप संस्कृत के श्रेष्ठतम नाटकों की रचना हुई और कालिदास की भाँति ही शूद्रक, हर्ष, भवभूति, विशाख, भट्ट नारायण, मुरारि, राजशेखर तथा क्षेमीश्वर आदि अनेक नाटककार हुए, जिनकी कृतियाँ प्रत्येक दृष्टिकोण से संस्कृत नाट्य-साहित्य में उच्च कोटि की मानी जा सकती हैं, और जिनमें से कुछ की गणना तो विश्व-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ रत्नों में की जा सकती है।

३९—वही, पृष्ठ २५

वैयाकरणों की विश्लेषण-पद्धति का स्वरूप

[श्री रामशंकर भट्टाचार्य]

व्याकरणशास्त्र शब्दों का अन्वाख्यान करता है। अन्वाख्यान किस प्रकार क्रिया जाता है, तथा अन्वाख्यान-प्रक्रिया का कारण क्या है—इत्यादि विषयों की आलोचना यहाँ की जा रही है। अन्वाख्यान की वैज्ञानिक रीति के विषय में संस्कृत भाषा के वैयाकरणों का जो मत था, वह आधुनिक भाषाशास्त्रियों द्वारा भी आलोचित होना चाहिए।

पहले शब्दों (भाषा) से वाक्य का पृथक्करण, फिर वाक्यों का पदों में विभाग, और उसके बाद पदों का प्रकृति-प्रत्यय में विश्लेषण (आगम आदेश इत्यादि के साथ)—ये तीन विभाग अन्वाख्यान में प्रसिद्ध हैं। इस प्रसंग में यह पहले ही जान लेना चाहिए कि वैयाकरण *पहले से सिद्ध शब्दों*[1] *का अन्वाख्यान करता है, न कि प्रकृति-प्रत्ययों का इच्छापूर्वक संयोग कर असिद्ध शब्दों को बनाता है।* जब तक प्राचीन आचार्यों द्वारा उपदृष्ट यह सिद्धांत हृदयंगम नहीं होगा, तब तक 'अन्वाख्यान' का रहस्य कदापि बोद्धव्य नहीं होगा।

इस प्रकृति-प्रत्यय-विभाग का आदि कर्ता कौन है?—इसका उत्तर यद्यपि निःसंशय रूप से देना असंभव है, तथापि उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य इंद्र इस पद्धति के उपज्ञाता थे। तैत्तिरीय संहिता (६।४।७)

१—व्याकरण शब्दों को पहले से सिद्ध मानकर प्रकृति-प्रत्ययों की कल्पना करता है। भाष्यकार ने स्पष्टतः कहा है—'सत् शास्त्रेण अन्वाख्यायते'। कैयट ने इस वाक्य की व्याख्या में कहा है—'शास्त्रेण करणेन आचार्यः स्मर्ता सद् विद्यमानं वस्तु निमित्तत्वे अन्वाचष्टे' (१।१।६१)। वैयाकरण वस्तुतः शब्दों का कर्ता नहीं, स्मर्ता होता है, अर्थात् जलाहरण के लिये जैसे कुंभकार के पास जाकर उसको घट बनाने के लिये कहा जाता है, वैसा नियम शब्द-व्यवहार में नहीं देखा जाता। व्याकरणशास्त्र का मूल 'प्रयोग' है, अतः प्रयोग के अभाव में सूत्र की प्रवृत्ति ही नहीं होती (प्रदीप ६।१।९९)। व्याकरण (= लक्षण) लक्ष्य का अधीन ही होता है—'लक्ष्यपरतन्त्रत्वात् लक्षणस्य' (कैयट ५।३।६०)।

में लिखा है कि इंद्र ने ही अखंड वाक् को खंडित किया। सायणाचार्य ने इसके भाष्य में कहा है कि पहले वाक् अव्याकृत रूप में थी, इंद्र ने प्रकृति-प्रत्यय रूप से उसका विभाग किया।[२]

ऐतिहासिकों का यह मत अन्य दृष्टि से भी प्रमित होता है। निरुक्त-टीका (पृ० १०) में आचार्य दुर्ग ने लिखा है 'अर्थः पदमैन्द्राणाम्'। अर्थात् 'अर्थः पदम्'—यह इंद्र का सूत्र है। इस वाक्य से यह अर्थ निर्गलित होता है कि इंद्र ने अर्थवत्ता का संबंध पद के साथ जोड़ा है। पर पाणिनि ने अर्थवत्ता का संबंध प्रातिपदिक से बताया (अष्टाध्यायी १।२।४५)। यहाँ यह संदेह होता है कि पाणिनि ने आचार्य इंद्र के अनुशासन का उल्लंघन क्यों किया? उत्तर यह है कि यतः इंद्र ने संहिता-पाठ को तोड़कर पद-विभाग किया था[३] अतएव उन्होंने अर्थवत्त्व को पद के साथ अन्वित किया। पर क्योंकि पाणिनि के काल में शब्दों का अपेक्षित पूर्ण विभजन हो गया था और उनके पास प्रातिपदिक, आगम, आदेश आदि विभक्त पदार्थ विद्यमान थे, इसलिये उन्होंने अर्थवत्ता को प्रातिपदिक से संबंधित किया।

इस अन्वाख्यान-पद्धति की आवश्यकता के विषय में कुछ कहना अप्रासंगिक न होगा। महाभाष्य (प्रथम आह्निक) में कहा गया है कि बृहस्पति ने इंद्र को 'प्रतिपद पाठ' रीति से दिव्य सहस्र वर्ष तक पढ़ाया, पर शब्दराशि का अंत नहीं हुआ।[४] केवल शब्दों की गणना करके उसका अर्थज्ञान कराने से कदापि सब शब्दों का अर्थज्ञान संभव नहीं है, इसी लिये उत्सर्ग तथा अपवाद सूत्रों की रचना करके शब्दार्थ-ज्ञान कराया जाता है—ऐसा पतंजलि ने कहा है।[५] कोष आदि की शक्ति व्याकरण से अल्प है, क्योंकि कोष में जितना संकलन है,

---

२—वाग् वै पराची अव्याकृताऽवदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुरु इति......तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् (तै० सं०)। 'ताम् अखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृति-प्रत्यय-विभागं सर्वत्राकरोत्' (सायण)।

३—वस्तुतः संहिता नित्य है और पदविभाग अनित्य है, इस मत को कैयट ने भी माना है—'संहिताया एव नित्यत्वम्, पदविच्छेदस्य तु पौरुषेयत्वम्' (प्रदीप ३।१।१०६)

४—'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम' (भाष्य)।

५—द्रष्टव्य महाभाष्य, पस्पशाह्निक।

इसके अतिरिक्त शब्दार्थ-ज्ञान नहीं हो सकता, पर व्याकरण की अन्वाख्यान-पद्धति से अधीत शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्दों का भी अर्थ-ज्ञान हो सकता है, व्याकरण से पद के उपादान के ज्ञानपूर्वक पद-पदार्थ-ज्ञान कराया जाता है, अतः उसकी पद्धति से अश्रुत शब्दों का भी ज्ञान हो जाता है। जैसे पाँच ही तत्त्वों का ज्ञान हो जाने से असंख्य द्रव्यों का ज्ञान हो जाता है (सांख्य मतानुसार) उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। शास्त्रीय पद्धति के अनुसार व्याकरणशास्त्र को पढ़ने से इसकी सत्यता प्रमाणित होगी।[६]

व्याकरण की विश्लेषण-पद्धति से लघुता से शब्दार्थ-ज्ञान होता है—यह बात वैयाकरणों में प्रसिद्ध है। नागेश ने लिखा है—

तत्र प्रतिवाक्यं संकेतग्रहासंभवात् तदन्वाख्यानस्य लघूपायेन अशक्यत्वाच्च कल्पनया पदानि प्रविभज्य पदे प्रकृतिप्रत्ययभागकल्पनेन कल्पिताभ्यामन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्तदर्थविभागं-शास्त्रमात्रविषयं परिकल्पयन्ति स्माचार्याः। (लघुमञ्जूषा)

नागेशभट्ट का यह वाक्य वैयाकरणों की शब्द-विश्लेषण-पद्धति का मूल-स्वरूपभूत है। इस सारभूत वाक्य में विश्लेषण पद्धति के विषय में निम्नोक्त सिद्धांत दिखाए गए हैं—

(१) शब्दार्थबोध में लाघव के लिये शब्दों का विश्लेषण किया गया है।

(२) यह विभाग वस्तुतः असत्य और काल्पनिक है तथा धातु, नाम आदि के जो अर्थ दिखाए जाते हैं, वे भी काल्पनिक हैं।

(३) यह प्रकृति-प्रत्यय-विभाग केवल शास्त्रगम्य है, लौकिक (लोक-विदित) नहीं।

अब यहाँ इस प्रकृति-प्रत्यय-विभाग-पद्धति का विशेष विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

मौलिक अन्वाख्यान दो प्रकार के हैं। एक 'वाक्यविभज्यान्वाख्यान' और

६—वेद का पदपाठ भी एक प्रकार की शब्द-विश्लेषण-पद्धति ही है। समास में समस्यमान पदों को दिखाना, तथा क्रिया पद में उपसर्ग और धातु को पृथक् करना इत्यादि पदपाठ से किया जाता है। यह आदिम विश्लेषण-पद्धति है। व्याकरण इस पद्धति का ही अति विकसित रूप है। पतंजलि ने स्पष्ट शब्दों में बताया है कि पदकार किसी भी प्रकार से व्याकरण की विश्लेषण-पद्धति की अवहेला नहीं कर सकता—'न च लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्' (३।१।१०९)

दूसरा 'पदविभज्यान्वाख्यान'। इन दोनों प्रकारों के नाम यथाक्रम 'वाक्य-संस्कार' पक्ष और 'पद-संस्कार' पक्ष भी हैं। पदों की ओर ध्यान न रखकर जब केवल वाक्यों का ही संस्कार (वाक्यों का पदों में विभाग) किया जाता है तब वाक्य-संस्कार पक्ष होता है, और जब पदों का संस्कार (अर्थात् पद का प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग, धातु आदि में विभाग) किया जाता है, तब पदसंस्कार पक्ष होता है। सूत्र ६।१।८५ के भाष्य में इन दोनों के उदाहरण दिए हैं। इन दोनों पक्षों में प्रयोग की दृष्टि से क्या भेद है, यह भी वहाँ दिखाया गया है। वस्तुतः श्रोता को पहले वाक्य (=विशेष्य-विशेषणभावयुक्त क्रिया) का बोध होता है, फिर उसके बाद वाक्य में पृथक् पदों की प्रतीति होती है, अतः विश्लेषण भी 'वाक्य-विश्लेषण' तथा 'पद-विश्लेषण', दो प्रकार के होते हैं। 'वाक्य-विभज्य अन्वाख्यान' के कई उदाहरण कैयट ने दिए हैं (३।४.७७ आदि स्थलों में), जिससे अनुमित होता है कि प्राचीनों के अनुसार *'सिद्ध वाक्यों से पदों को पृथक् किया जाता है, न कि पदों से वाक्य बनता है'*। पदों से यदि वाक्य बनता है, तो केवल प्रक्रिया की दृष्टि से, तत्त्वतः नहीं।

कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि केवल प्रकृति-प्रत्यय-विभाग ही काल्पनिक है, पर वैयाकरणों का यथार्थ सिद्धांत यही है कि वाक्यांतर्गत पद भी काल्पनिक है। पद यदि सत्य होता तो कदाचित् 'हे राजपुरुष' कहने से 'राज' क्रिया पदार्थ की भी प्रतीति होती। 'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्'—भाष्यकार का यह वाक्य (६।१।२०७) पद-विभाग की काल्पनिकता को प्रमाणित करता है। नागेश ने यह भी प्रमाणित कर दिया है कि पद-विभाग मिथ्या है, अतः पदों का रूढ़-यौगिक-योगरूढ़ रूप विभाग भी मिथ्या है।[७]

७—पाणिनीय संप्रदाय के अनुसार 'पाचक', 'लेखक' आदि शब्द यौगिक हैं, तथा 'घट' आदि शब्द रूढ़ हैं; पर वृद्धकातंत्र संप्रदाय के अनुसार 'पाचक' आदि शब्द भी 'वृक्ष' आदि शब्दों की तरह रूढ़ ही हैं (वृक्षादिवद् अमी रूढाः—कातंत्र की दुर्ग टीका)। पदों का काल्पनिक विश्लेषण कर 'प्रकृति-प्रत्यय' की कल्पना की जाती है, अतः काल्पनिक प्रकृति-प्रत्यय की प्रवृत्ति के अनुसार वास्तविक पदों में जाति-विभाग नहीं हो सकता। यदि जाति-विभाग (रूढ़ यौगिक आदि) किया भी जाय, तो वह काल्पनिक ही होगा। काल्पनिक विषय में ही विप्रतिपत्ति होती है, वास्तविक में नहीं—यह वै मत वैयाकरण संप्रदाय में प्रसिद्ध है। (मंजूषा)।

प्रकृति-प्रत्यय-विभाग की काल्पनिकता को मानने से एक और सिद्धांत निर्गलित होता है। वह है उपायों की अनियतता; अर्थात् जब प्रकृति-प्रत्यय काल्पनिक हैं तब अपनी रुचि के अनुसार प्रकृत्यादि की कल्पना कर पदों की सिद्धि की जा सकती है। इसी लिये सभी व्याकरणों में सिद्ध पदों का स्वरूप समान होने पर भी उनके उपादानभूत प्रकृति-प्रत्यय आदि में अशेष विभिन्नता है। यह दोषावह नहीं है, क्योंकि उपाय में भेद होने पर भी उपेय (आपेक्षिक सिद्ध पद तथा उससे अनापेक्षिक सिद्ध वाक्य) में भेद नहीं होता। उपायों की व्यर्थता स्वयं आचार्य भर्तृहरि ने बतलाई है—'उपादायाऽपि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते, उपायानां च नियमो नावश्यमवतिष्ठते' (वाक्यपदीय २।३८)। 'प्रौढ़-मनोरमा' में भट्टोजि ने भी कहा है—'अतएव वैयाकरणानामुपायेषु अनाग्रहः' और नागेश ने भी कहा है—'अतएव व्याकरणभेदेन उपाया अनियताः।'

प्रत्येक व्याकरण में, प्रकृति-प्रत्यय के स्वरूप में ही भिन्नता हो सो बात नहीं, प्रकृति-प्रत्यय आदि के अर्थों में भी मतभिन्नता पाई जाती है। जैसे 'संख्या' को कोई प्रातिपदिक का अर्थ कहता है और कोई विभक्ति का अर्थ मानता है। स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार के मतभेद होने पर भी जब पद या वाक्य बन जाता है, तब उसके अर्थ में भिन्नता नहीं होती। यद्यपि वाक्यार्थ के स्वरूप के विषय में भी अनेक विभिन्न मत हैं, तथापि वे प्रकृति-प्रत्यय के अर्थों की विभिन्नता को लेकर प्रवृत्त नहीं हुए हैं।

उपायों की अनियतता[८] (अर्थात् प्रकृत्यादि विभाग की विचित्रता) के कुछ आलोचनीय स्थलों का उपन्यास यहाँ किया जाता है—

८—उपायों की अनियतता दोषावह नहीं है, क्योंकि वाक्यार्थ का ज्ञान ही अंतिम प्रयोजन है। व्युत्पत्ति की भिन्नता होने पर भी वाक्यार्थ-ज्ञान में भेद नहीं होता, अतः साधुत्वमात्र दिखाने के लिये व्युत्पत्ति की जाती है। अर्थानुसार व्युत्पत्ति दिखाने के लिये वैयाकरण चेष्टा करते हैं, पर अर्थ व्युत्पत्ति के अनुसारी होने के लिये बाध्य नहीं है। 'गो' शब्द की व्युत्पत्ति चाहे गम् धातु से की जाय, चाहे गृ अथवा गर्ज् धातु से, पर 'गो' शब्द का अर्थ निश्चित ही रहेगा। किसी प्रकार साधुत्व-प्रतिपादन हो, इसी लिये अन्वाख्यान किया जाता है—'नित्यानां शब्दानां यथाकथंचिद् अन्वाख्यानं कर्तव्यम् इति मन्यते' (प्रदीप ३।१।९६)। वस्तु और धात्वर्थ में न्यूनतम सदृशता मानकर एक शब्द की व्युत्पत्ति अनेक धातुओं से करने की प्रथा प्रायः सभी ने मानी है। इसका अन्य उदाहरण श्वेतवनवासी ने दिया है,-यथा—

(१) पाणिनि व्याकरण में जहाँ 'अस्' धातु का पाठ है, आपिशल व्याकरण में वहाँ केवल 'स' का पाठ था (१।३।२२ सूत्र की न्यास व्याख्या)। द्रष्टव्य यह है कि यह भेद अनुबंध के विषय में नहीं प्रत्युत धातु के स्वरूप के विषय में है। तिङंत प्रयोग (यथा अस्ति, स्तः, सन्ति इत्यादि) के विषय में पाणिनि और आपिशलि में मतद्वैध नहीं है, पर धातु के स्वरूप के विषय में है—इससे प्रमाणित होता है कि अपनी शास्त्रानुसारिणी प्रक्रिया के अनुसार जो वैयाकरण धातु के जिस रूप की कल्पना को न्याय्य समझते थे वे उस रूप की कल्पना कर सकते थे। धातु-स्वरूप के अनियत रूप का यह एक प्रसिद्ध उदाहरण है।

(२) दुर्गाचार्य ने निरुक्त-व्याख्या में लिखा है कि प्राचीन वैयाकरणों की तिङंत प्रक्रिया पाणिनि के अनुसार नहीं थी,[९] अर्थात् पाणिनि की भाँति लकार की कल्पना न करके वे लकारादेश के बिना ही तिङंत प्रयोगों की सिद्धि करते थे। इससे तिङंत-प्रक्रिया की काल्पनिकता भी सिद्ध होती है, क्योंकि प्रक्रिया यदि सत्य होती, तो व्याकरण-भेद से उसमें भिन्नता होने पर तिङंत पदों में भी भिन्नता होती, परंतु तिङंत पदों के स्वरूप में विवाद नहीं है।

(३) पाणिनि 'यावत्' पद की सिद्धि के लिये वतुप् प्रत्यय के साथ प्रातिपादिक में आकार का आदेश करते हैं। कैयट ने लिखा है कि प्राक्पाणिनीय आचार्य एक साथ 'डावतु' प्रत्यय का विधान करते थे।[१०] पाणिनि की पृथक् कल्पना का कारण उनकी निजी प्रक्रिया ही है। उक्त उदाहरण प्रत्ययों की काल्पनिकता को प्रमाणित करता है।

(४) पाणिनि जिन शब्दों को तद्धित प्रत्ययों से सिद्ध करते हैं, प्राक्पाणिनीय आचार्य उनकी सिद्धि सीधे धातु से करते थे। इससे तद्धित, कृत् आदि विभागों की भी काल्पनिकता सिद्ध होती है। इस सिद्धांत का एक उदाहरण क्षीर-

---

'रुहे रुचेश्च रौतेश्च रुढिरुध्यो रुषिरपि, षण्णामेव च धातूनां रोमशब्दं निपातयेत्' (उणादिवृत्ति, पृ० १८४)। क्योंकि शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ (वाच्य वस्तु) का स्वभाव पूर्णरूपेण घटित नहीं होता, अतः वैयाकरण कहता है कि शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त और प्रवृत्तिनिमित्त (जैसा घट का घटत्व) समान नहीं है।

९—निरुक्त १।१३

१०—पूर्वाचार्यास्तु डावतु विदधिरे (प्रदीप ५।२।३९)।

स्वामी ने दिया है—'काल्पनिके हि प्रकृति-प्रत्यय विभागे द्राघिमादयः कस्मिंश्चिद् व्याकरणे धातुष्वेव साधिताः एवं नेदिष्ठादयोऽपि नेदत्यादेः' (क्षीरतरंगिणी)। अर्थात् प्राक्पाणिनीय आचार्य 'नेद्' धातु से 'नेदिष्ठ' शब्द की सिद्धि करते थे, और पाणिनि ने 'अन्तिक' शब्द से 'नेद' आदेश कर 'नेदिष्ठ' पद की सिद्धि की है।[११]

(५) क्षीरस्वामी ने यह भी लिखा है कि 'गोमय' शब्द पाणिनि के अनुसार गो+मयट् प्रत्यय से बनता है, पर किसी व्याकरण के अनुसार यह 'गोम्' धातु से बनता था। यह उदाहरण प्रमाणित करता है कि प्रकृति-प्रकृति के स्वरूप ही काल्पनिक नहीं है, प्रत्युत उनके संयोग-विभाग आदि सब काल्पनिक हैं। 'वैयाकरणभूषणसार' में कौंडभट्ट ने भी कहा है कि 'रामेण' पद यद्यपि नियत है, पर उसकी प्रक्रिया अनियत है।

अनेक पृथक् तथा विपरीत प्रकारों से जो व्युत्पत्ति की जाती है उसका कारण क्या है? इस प्रश्न का सोदाहरण उत्तर आचार्य भर्तृहरि ने दिया है। यथा—

'वैरवासिष्ठगिरिशाः तथैकागारिकादयः।
कैश्चित् कथंचिदाख्याता निमित्तावधिसंकरैः॥

अर्थात् 'निमित्त' और 'अवधि' का सांकर्य होता है, अतः पृथक्-पृथक् रूप से अन्वाख्यान किया जाता है। यहाँ निमित्त=अर्थ, तथा अवधि=प्रत्ययों की प्रकृति। यतः अर्थ और प्रत्ययों की प्रकृति दोनों सदा समानुपाती नहीं होते, अतएव व्युत्पत्ति में भिन्नता होना अवश्यंभावी है।

संस्कृत भाषा के व्युत्पत्ति-क्षेत्र में एक ऐसा सिद्धांत है जो संभव है अन्यत्र न हो। वह है ऐतिहासिक दृष्टि के अनुसार प्रत्ययों का योग। जैसे पुराणों में प्रसिद्ध जो 'बाहु' है उसमें अपत्यार्थक प्रत्यय (तस्यापत्यम्, ४।१।६२ सूत्र के

११—पाणिनि ने जिस शब्द की निरुक्ति में तद्धित का व्यवहार किया है, प्राचीन आचार्य वहाँ कृदंत प्रत्यय का व्यवहार करते थे। विपरीत पक्ष में यह भी देखा जाता है कि पाणिनि के अनुसार जो शब्द कृत् प्रत्यय से बनता है, किसी किसी के मतानुसार वह तद्धितांत भी है। जैसे पाणिनि के अनुसार हन् धातु से यत् प्रत्यय कर 'वध्य' शब्द बनता है, पर किसी के मत से 'वधमर्हति' (वध के योग्य है) अर्थ में 'वध' शब्द से तद्धित-प्रत्यय कर भी 'वध्य' शब्द बन सकता है। कृत् और तद्धित प्रत्ययों की यह अन्योन्य-विनिमय प्रक्रिया प्रमाणित करती है कि ये दोनों ही काल्पनिक हैं, पर इनसे निर्मित पद सत्य है।

अधिकार से) लगने पर 'बाह्वादिभ्यश्च' (४।१।९६) सूत्र से 'बाहवि' पद होगा; पर इदानींतन जो 'बाहु' नामधारी है, उसके अपत्य को 'बाहव' कहा जायगा। आचार्य भर्तृहरि भी इस मत के पोषक थे। उन्होंने कहा है—

अभिव्यक्तपदार्था ये स्वतन्त्रा लोकविश्रुताः।
शास्त्रार्थस्तेषु कर्तव्यः शब्देषु न तदुक्तिषु॥

अर्थात् पुराणादि-प्रसिद्ध शब्दों में अपत्यविवक्षा होने से पाणिनि के अनुसार जो प्रत्यय होगा, वह प्रत्यय अपौराणिक नाम में नहीं होगा। जैसे 'नडादिभ्यः फक्' (४।१।९९) सूत्र से गोत्रार्थ में 'नड' में फक् प्रत्यय लगने से 'नाडायन' शब्द बनेगा। पर यदि कोई अपौराणिक नड-नामधारी होगा, तो उसमें 'इञ्' लगकर 'नाडि' बनेगा। वर्तमान काल के अनेक ऐतिहासिकों ने इस नियम को न जानकर अक्षम्य भ्रम किया है तथा अति प्राचीन काल के ऋषियों को अर्वाचीन काल का बना दिया है।

उपर्युक्त उदाहरणों से प्रकृति-प्रत्यय विभाग की पूर्ण काल्पनिकता प्रमाणित होने पर उससे और जितने मत अवश्यंभावी रूप से निकलते हैं, उन सबका यहाँ संक्षेप में प्रतिपादन किया जाता है—

(क) शब्दों का निर्वचन अनेक प्रकार से किया जा सकता है, क्योंकि निर्वचन भी वस्तुतः आचार्य-कल्पना-प्रसूत है। निर्वचन प्रवृत्तिनिमित्त के अनुसार यथासंभव किया जाता है, पर वह प्रवृत्तिनिमित्त का नियामक नहीं हो सकता। यही कारण है कि उणादि सूत्रों के निर्वचनों का लोक में कुछ भी महत्त्व नहीं रह जाता। निर्वचनों की अनेकविधता के विषय में भर्तृहरि ने जो कहा है, वही इस विषय का सारभूत वाक्य है। यथा—

कैश्चिन् निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गर्जतेर्गमेः।
गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम्॥ (वाक्यपदीय २।१७५)

टीकाकार ने इसकी यथार्थ ही व्याख्या की है—'गिरति गर्जति गदति इत्येवमादयः साधारणा सामान्यशब्दनिबन्धनाः क्रियाविशेषाः तैस्तैराचार्यैर्गोशब्दव्युत्पादनक्रियायां परिगृहीताः'। अर्थात् गो शब्द की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न आचार्य गिरति, गर्जति, गदति आदि भिन्न-भिन्न क्रियाओं से करते हैं।

(ख) निर्वचन के संबंध में साधारण तथ्य यह है कि शब्दों का प्रकृति-प्रत्ययादि से निर्माण नहीं होता। शब्द तो नित्य होते हैं। वस्तुतः शब्दों में स्वर,

अर्थ आदि के ज्ञान के लिये प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना की जाती है।[१२] शब्द अनंत हैं और प्रतिपद पाठ (प्रत्येक शब्द का पृथक्-पृथक् ज्ञान) से उन सबका ज्ञान कभी संभव नहीं है। परंतु प्रकृति-प्रत्यय विभाग द्वारा करोड़ों शब्दों का ज्ञान सरलता से हो जाता है।[१३]

(ग) धातु काल्पनिक है, अतः धात्वर्थ भी काल्पनिक हैं और उपसर्ग (प्र, परा आदि) भी। धात्वादि के अर्थ के संबंध में भर्तृहरि ने भी कहा है—'धात्वादीनां विशुद्धानां लौकिकोऽर्थो न विद्यते'। अर्थात् विशुद्ध धात्वादि का लोक में कोई अर्थ नहीं होता।[१४]

(घ) व्याकरणशास्त्र में जो 'स्थानी-आदेश'-भाव (अमुक शब्द के स्थान में अमुक का आदेश) है, वह भी पूर्वोक्त सिद्धांत के अनुसार वास्तविक नहीं, काल्पनिक है। स्थान्यादेश की यह काल्पनिकता 'बुद्धिविपरिणामवाद' नाम से व्याकरणशास्त्र में प्रसिद्ध है। इसका यथार्थ रहस्य यहाँ प्रासंगिक होने के कारण जान लेना चाहिए। बात यह है कि पाणिनीय संप्रदाय नित्य-शब्दवादी है। उसके अनुसार किसी शब्द के 'नाश' के बाद उसके स्थान पर नूतन शब्द की 'उत्पत्ति'

१२—नित्यानां भवतीत्यादि शब्दानां स्वरार्थकालाद्यवबोधनार्थं प्रकृत्यादिविभागकल्पनया व्याख्यानम्। —क्षीरस्वामी, 'क्षीरतरंगिणी'।

१३—प्रकृतिप्रत्ययानन्त्याद्, यावन्त पदराशयः।
लक्षणेनानुगम्यन्ते कस्तानध्येतुमर्हति॥

—कुमारिलभट्ट, तंत्रवार्तिक (आनंदाश्रम), पृ० २७६

जो लोग इस तथ्य को नहीं मानते उनके विरोध में भाट्टचिंतामणिकार ने कहा है—'यदपि लाघवं नास्तीत्युक्तं तदपि न सुप्तिङाद्येकजातीयप्रत्ययकल्पनेन कोटिशब्दानुगमदर्शनेन लाघवानपायात्'।

१४—वाक्य से अपनी दृष्टि के अनुसार पदों का पृथक्करण किया जाता है। भर्तृहरि ने कहा है—'द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधाऽपि वा, अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादि वत्' (वाक्यपदीय ३।१)। पाणिनि-दर्शन की टीका में स्पष्ट रूप से इस विश्लेषणप्रणाली का स्वरूप दिखाया गया है। यथा—"यथा पदार्थावगतये प्रकृति-प्रत्ययाः पदेभ्यः पृथक् कल्प्यन्ते, तथा वाक्यार्थावगतये वाक्येभ्योऽपि पदानि पृथक् कल्प्यन्ते। तच्च पृथक्कल्पितं पदजातं नामाख्यातभेदेन द्विधेति कैश्चिदुच्यते। उपसर्गनिपातयोः पृथग्गणनात् चतुर्धेति। कर्मप्रवचनीयानां पृथग्गणनया पञ्चधेति।

नहीं होती, प्रत्युत एक शब्द के प्रसंग में अन्य शब्द का प्रसंग होता है ('षष्ठी स्थाने-योगा,' १।१।४९ सूत्र की सिद्धांतकौमुदी आदि टीका)। इस दृष्टि से 'अस्तेर्भूः (२।४।५२) सूत्र का अर्थ यह हुआ कि 'अस्' के प्रयोग का प्रसंग होने पर 'भू' का प्रयोग करो। यहाँ मानना होगा कि बोद्धा की 'अस्ति'-बुद्धि 'भू'-बुद्धि में परिणत हो जाती है। बुद्धि का ही परिणाम होता है, शब्द का नहीं। यही 'बुद्धि-विपरिणामवाद' है। कैयट ने कहा है—'बुद्धिविपरिणाममात्रं स्थान्यादेशभावः' (प्रदीप १।१।४४)। मंजूषा आदि ग्रंथों में इस सिद्धांत पर विस्तृत विचार किया गया है।

(ङ) जब प्रकृति-प्रत्यय की काल्पनिकता सिद्ध हो गई तब कल्पना से एक का धर्म दूसरे में आकर्षित किया जा सकता है। ऐसा करने से न्यायदोष नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रकार का आरोप भी सत्य नहीं है। इसका एक उदाहरण लीजिए। 'इयत्' एक प्रातिपादिक है, जिसमें पाणिनीय प्रक्रिया के अनुसार प्रकृति का अंश पूर्ण रूप से लुप्त हो गया है, पर वैयाकरण केवल प्रत्यय अंश में प्रकृति के अर्थ का आरोप कर लेते हैं। 'इयत्' शब्द नित्य है, और इसका विश्लिष्ट प्रकृति-प्रत्यय काल्पनिक है, इसलिये कोई दोष नहीं माना जाता।

(च) जब यह विभाग असत्य है, तब व्याकरण-शास्त्र भी असत्य है—यह वैयाकरणों का अंतिम निष्कर्ष है।[१५] प्रकृति-प्रत्ययों की काल्पनिकता के साथ-साथ इन सबकी जो अर्थवत्ता है, उसकी भी काल्पनिकता सिद्ध होती है। कैयट ने कहा है कि लोक में जब 'पाक' शब्द का प्रयोग होता है, तब प्रकृति-प्रत्यय का विचार कर प्रयोग नहीं किया जाता (१।३।१, टीका)। वस्तुतः अर्थ तो वाक्य का है, वाक्यांतर्गत शब्दों का नहीं।[१६] पदों के अंतर्गत उपसर्ग, प्रत्यय आदि का तो कोई अर्थ है ही नहीं, क्योंकि उन सबके अकेले प्रयोग करने पर लोक में कुछ भी बोध नहीं होता। अर्थात् 'हरति' कहने से अर्थ का बोध होता है, 'प्रहरति'

१५—वैयाकरणों का सिद्धांत है 'असत्यव्युत्पादकं शास्त्रम्', और इस असत्य मार्ग पर स्थित रहकर ही बाद में सत्य पद का ज्ञान होता है। इस विषय में आचार्य भर्तृहरि के ये वाक्य मननीय हैं—'शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते' तथा 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' (वाक्यपदीय)।

१६—द्रष्टव्य प्रदीप, ५।१।३२

कहने से भी होता है, पर केवल 'प्र' के प्रयोग से कुछ बोध नहीं होता। व्याकरण-शास्त्र में जो प्र आदि उपसर्गों का अर्थ दिखाया गया है, वह मूलतः काल्पनिक है। वस्तुतः अकेले प्रकृति या प्रत्यय का प्रयोग होता भी नहीं। शास्त्र में जो ऐसा प्रयोग दिखलाया जाता है, वह केवल सिद्ध शब्दों की कल्पित सिद्धि के लिये।

निरुक्त तथा व्याकरणशास्त्र की निर्वचन-पद्धतियों में कुछ भिन्नता है। व्याकरण साधुत्व का अन्वाख्यान करता है। वह कहता है कि 'इस प्रकार की वर्णानुपूर्वी इस अर्थ में साधु है'। विश्लेषण करके अर्थों के साथ उसकी समंजसता दिखाना (अर्थादेशन) व्याकरण का लक्ष्य नहीं है, भले ही किसी विशिष्ट स्थल में विशेष उद्देश्य से उसमें ऐसा किया गया हो।[१७] परंतु निरुक्त मुख्य रूप से अर्थादेशन करता है।[१८]

व्याकरण में अन्वाख्यान लोकप्रसिद्ध अर्थानुवाद के साथ-साथ किया जाता है।[१९] एक ही शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त जब भिन्न-भिन्न होते हैं, तब किन-किन व्युत्पत्तिनिमित्तों से उन प्रवृत्तिनिमित्तों का समन्वय होता है, यह दिखाना निरुक्त का विषय है। एक अर्थ से दूसरे अर्थ की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, यह दिखाना भी निरुक्त शास्त्र का एक काम है। परंतु व्याकरण अर्थसंबंधी कुछ इंगित किए बिना ही शब्द-साधुत्व को दिखा सकता है। इसीलिये निरुक्तकार को शाब्दिक विश्लेषण में प्रत्यय का उल्लेख नहीं करना पड़ा (व्याकरण को प्रत्यय का उल्लेख अवश्य करना पड़ता है, यहाँ तक कि जहाँ प्रत्यय श्रूयमान नहीं है वहाँ प्रत्ययों का विधान कर लोप करना पड़ता है); वे केवल अर्थनिष्ठ क्रिया की वाचक धातु का उल्लेख करना ही पर्याप्त समझते थे।

अब हम निर्वचन-प्रक्रिया के कुछ विशिष्ट उदाहरणों पर प्राचीनों के मत-प्रस्तुत करेंगे, जिससे वैयाकरण का तत्त्वदर्शन स्पष्ट रूप से बोधगम्य हो जाय—

(क) 'तिल से जात'—इस अर्थ में 'तैल' शब्द का प्रयोग होता है। पर 'तिल-तैल' तथा 'सर्षप-तैल' का प्रयोग भी होता है। इसकी संगति कैसे होगी?

१७—२।१।१ सूत्र-भाष्य में, व्याकरण अर्थादेश क्यों नहीं करता, इसका विस्तृत विचार है। साधुत्व मात्र दिखाना व्याकरण का लक्ष्य है (साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरण-स्मृतिः—वाक्यपदीय)।

१८—अर्थप्रधानं निरुक्तम्—निरुक्त, (दुर्गटीका, २।२)।

१९—लोकप्रसिद्धार्थानुवादेन साधुत्वान्वाख्यानात् (कैयट, ५।२।२०)।

आजकल ऐसे सादृश्य-संबंधमूलक प्रयोगों की उपपत्ति के लिये उत्तर दिया जाता है कि कालक्रम से भ्रमवश तैल का अर्थ 'तिल से जात' न जानकर 'स्नेह' मात्र मान लिया जाता है, अतः तिल से जो स्नेह निकलता है वह तिल-तैल तथा सर्षप से जो स्नेह निकलता है वह सर्षप-तैल कहा जाता है। इसी प्रकार भ्रमवश अन्य प्रयोगों की भी उत्पत्ति होती है। पर प्राचीन वैयाकरण यह मानने को तैयार नहीं होगा कि कालक्रम से शब्द में परिवर्तन होता है।[२०] वह कहेगा—"तैल शब्द का अर्थ है तिल का विकार-विशेष, अतः 'तिलानां तैलम्' इस विग्रह में 'तिलतैलम्' शब्द बनने में बाधा नहीं है। 'इंगुदतैल' इत्यादि प्रयोग उपमान (सदृशता संबंध) से बनेंगे। वस्तुतः 'तिलानां विकारस्तैलम्', यह व्युत्पत्ति का उपायमात्र है और इससे स्नेह-द्रव्यवाचक 'तैल' का, जो रूढ़ शब्द है, कोई संबंध नहीं। जैसे 'प्रवीण' शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रकृष्टो वीणायां' केवल साधुत्व दिखाने के लिये है, 'वीणा' से उसका कोई संबंध नहीं। इसका प्रवृत्तिनिमित्त 'कौशल' है, इसी लिये 'वीणायां प्रवीणः' ऐसा वाक्य भी बनता है" (प्रदीप ५।२।२६)। वस्तुतः संस्कृत वैयाकरण एक शब्द से अन्य शब्द की उत्पत्ति मानता ही नहीं। उसके अनुसार 'पा' धातु से 'सन्' प्रत्यय कर 'पिपास्' नाम की सनंत धातु नहीं बनती। जैसे 'पा' एक स्वतंत्र धातु है वैसे ही 'पिपास्' भी है—केवल शब्दार्थ-सादृश्य के कारण लाघव दिखाने के लिये एक से अन्य का उद्भव दिखाया जाता है।[२१]

२०—यह नित्य-शब्दवादी वैयाकरणों के संबंध में कहा गया है, कार्य-शब्दवादी वैयाकरणों के अनुसार शब्दों में परिवर्तन होता था।

२१—संस्कृत व्याकरणशास्त्र के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धांत का एक अन्य उदाहरण दिया जाता है। औडुलोमि शब्द के प्रथमा बहुवचन में रूप होता है 'उडुलोमाः'। इसकी प्रक्रिया यह है—'औडुलोमि' शब्द में जो इञ् प्रत्यय है, उसका प्रथमा बहुवचन में लोप कर दिया जाता है, जिससे बहुवचन में 'उडुलोमाः' पद बनता है; अन्यथा 'औडुलोमयः' बनता। यद्यपि प्रक्रिया ऐसी है, पर इससे यह न सोचना चाहिए कि यह वास्तविक तथ्य है। वस्तुतः 'औडुलोमि' एक पृथक् शब्द है, उडुलोम भी एक स्वतंत्र शब्द है, शब्दार्थ-साम्य देखकर लाघव के लिये पाणिनि ने एक शब्द से प्रत्यय का लोप कर अन्य शब्द का उद्भव दिखाया है। यह हमारा कोई कल्पित मत नहीं, स्वयं भट्टोजि दीक्षित ने इस बात को स्पष्टतः कहा है—'तर्या च औडुलोमिशब्दस्य इदन्तस्य बहुत्वे अदन्तत्वमिति न भ्रमितव्यम्' (प्रौढमनोरम, ४।१।६२)।

(ख) संस्कृत भाषा के शब्दों की व्युत्पत्ति के संबंध में एक महान् विषय अवधारणीय है। वैयाकरण कभी यह मानने के लिये तैयार नहीं है कि किसी अन्य भाषा के भी शब्द (चाहे भारतीय उच्चारण के अनुसार थोड़ा सा विकृत होकर ही सही) संस्कृत भाषा में हैं। अतः आजकल जिस प्रकार भाषांतरीय शब्दों से उच्चारण की समानुपाती विकृति को दिखाते हुए शब्दों की निरुक्ति की जाती है (जैसे संस्कृत दर्पवत् > प्रा० दप्पुल > दप्पउल > ढपउल >—इत्यादि क्रम से हिंदी के 'ढपोल' शब्द की निरुक्ति[२२]) उस पद्धति का प्राचीन व्याख्याकारों ने कहीं भी आश्रय नहीं लिया। उनका विश्वास था कि संस्कृत भाषा सब भाषाओं की जननी है और नियत है, तथा किसी अन्य भाषा के शब्द इसमें नहीं हैं। भर्तृहरि ने इस मत को माना है तथा यह भी कहा है कि यह वाक् अर्थात् संस्कृत भाषा अनित्य नहीं है (दैवी वाग् व्यवकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः, अनित्यदर्शिनां त्वस्मिन् वादे बुद्धिविपर्ययः—वाक्यपदीय)। प्राचीन शाब्दिक शब्द का रूपांतर न मानकर प्रत्येक शब्द को मौलिक मानते थे। जहाँ उन्होंने एक शब्द से अन्य शब्द की उत्पत्ति दिखाई है, वहाँ वे उत्पादक शब्द को वास्तविक और लोकप्रयोगार्ह नहीं मानते थे। उनके मत से स्थानी तथा आदेश काल्पनिक हैं, क्योंकि लोक में उनका स्वतंत्र प्रयोग नहीं होता। व्याकरण के आदेश आगम आदि क्यों लौकिक शब्द नहीं हैं, इसका एक उत्तर नागेशभट्ट ने दिया है कि कोष में आगम आदि का उल्लेख न होने के कारण उनकी वाचकता (लौकिकपदत्व) नहीं है।[२३] इस विषय में अन्य युक्ति महामति कैयट ने दी है—'शब्द संस्काराय हि शास्त्रे सर्वत्र परिकल्पितार्थवत्ताऽश्रीयते, तात्त्विकी तु वाक्यस्यैव, तस्यैवार्थप्रत्यायनाय प्रयोगात्'।[२४] अर्थात् वास्तविक अर्थवत्ता वाक्य में होती है और इसी का अर्थबोध कराने के लिये शब्द की अर्थवत्ता कल्पित की जाती है। इससे वाक्य का महत्त्व स्पष्ट है तथा यह सिद्धांत प्रतिपादित होता है कि वाक्यार्थ-ज्ञान के लिये ही व्याकरणशास्त्र में प्रकृति-प्रत्यय विचार किया जाता है।

२२—द्रष्टव्य ना० प्र० पत्रिका (वर्ष ५८ अंक २-३), डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का लेख 'हिंदी के सौ शब्दों की निरुक्ति'।

२३—उद्योत ३।१।१

२४—प्रदीप, ५।१।२०

शिव-पूजा

मुगल शैली का एक उत्कृष्ट चित्र

[श्री सूर्यप्रताप साह]

भारतवर्ष अनेक शताब्दियों तक गतिशील कलात्मक भावनाओं का अत्यंत प्रभावशाली केंद्र रहा है जिससे एशिया की कला संपूर्णतः प्रभावित हुई है।

(हैवेल, 'दि हिमालयाज़ इन इंडियन आर्ट')

ईसा की प्रथम सात-आठ शताब्दियों में भारतवर्ष से कलाकार बौद्ध भिक्षु पड़ोस के देशों में बराबर जाते और वहाँ अपने धर्म और अपनी कला का प्रचार करते रहे। क्रमशः संपूर्ण एशिया बौद्ध-मतावलंबी हो गया और वह भारतवर्ष को जो भगवान बुद्ध की जन्मभूमि है, बड़ी श्रद्धा और कृतज्ञता की दृष्टि से देखने लगा।

बौद्ध चित्रों, विशेषतः टंगका (मंदिरों की ध्वजाओं पर के चित्रों) और विहारों के भित्ति-चित्रों से धर्म-प्रसार में बड़ी सहायता मिली।

पूर्व की चित्रकला रेखाओं की कला है। (पर्सी ब्राउन)

ईसा की प्रथम सात-आठ शताब्दियों में भारतवर्ष से जो बौद्ध भिक्षु पड़ोसी देशों—यथा तिब्बत, श्याम, लंका, चीन, जापान आदि—में धर्म-प्रचार किया वह वे स्वयं कुशल चित्रकार थे। उन्होंने इन देशों की चित्रकला को प्रभावित किया और उस प्रभाव की छाप स्पष्ट और स्थायी रूप से इन देशों की कला पर अंकित हो गई। आगे चलकर चीनी चित्रकला का प्रभाव फारस की चित्रकला पर पड़ा और सोलहवीं शताब्दी में अकबरकालीन चित्रकारों ने इसी फारसी चित्रकला को अपनाया। इस प्रकार जो चित्रकला आरंभिक शताब्दियों में भारतवर्ष ने चीन इत्यादि देशों को भेंट की थी वही सोलहवीं शताब्दी में (जब कि वह यहाँ मृतप्राय हो गई थी) फारसी चित्रकला के रूप में पुनः लौटकर अपनी जन्म-भूमि भारतवर्ष में आई।

शिव-पूजा

इस ...

मुगल सम्राट् अकबर के संरक्षण में उसी के प्रोत्साहन से जिस चित्रकला-शैली का प्रारंभ हुआ था वह उसके राजत्व-काल में मुख्यतः फारसी कला की अनुकृति थी, परंतु जहाँगीर के समय में अपने नवीन परिधान में उसने शुद्ध मुगल शैली का रूप ले लिया।

प्राचीन भारतीय चित्रकला और मुगल शैली की चित्रकला में रचना-रीति की दृष्टि से तात्त्विक साम्य है। प्राचीन भारतीय चित्रकला में आकृति-चित्रण की प्रधानता थी, विशेषतः मुख की आकृति का चित्रण उसमें अत्यंत कुशलता से किया जाता था—यह बात तत्कालीन चित्रों के निरीक्षण से भली भाँति प्रमाणित होती है। इन चित्रों में दो मुख्य विशेषताएँ पाई जाती हैं। एक तो इनके आलेखन में प्रवाहपूर्ण रेखाओं का प्रयोग किया गया है, और दूसरे इनमें हाथों को इतना भावपूर्ण अंकित किया गया है कि उनसे चित्रित व्यक्ति का चरित्र और स्वभाव पूर्णतः प्रतिबिंबित हो उठा है। यही विशेषताएँ हम मुगल शैली के चित्रों में भी पाते हैं, जिसमें मुख के स्वाभाविक चित्रण, रेखाओं की शुद्धता और हाथों के सजीव अंकन पर ही उच्च कोटि के चित्रों का निर्माण अवलंबित था।

प्राचीन भारतीय चित्रकला तथा मुगल शैली की चित्रकला में वास्तविक भिन्नता चित्रों के विषय के चुनाव के संबंध में थी। प्राचीन हिंदू और बौद्ध चित्रकला एवं मध्य-युग की राजपूत चित्रकला धार्मिक एवं पारलौकिक भावनाओं की भूमिका पर प्रतिष्ठित थीं, किंतु मुगल शैली लौकिक शैली थी।

प्रस्तुत आलोच्य चित्र इस दृष्टि से बिल्कुल निराला है कि इसका विषय तो विशुद्ध हिंदू भावना से प्रेरित है, किंतु इसकी रचना का ढंग मुगल शैली की उच्च कोटि की कला का उत्कृष्ट उदाहरण है—इसमें मुगल शैली की सर्वोत्तम बारीकियाँ बड़ी कुशलता से सन्निहित की गई हैं। यद्यपि यह लघु आकार का चित्र है तथापि यह अजंता के प्राचीन भित्तिचित्रों की कला का स्मरण दिलाता है। इसका बड़ा आकार पूर्णतः अजंता के चित्रों के अनुरूप होगा, विशेषतः जबकि यह सर्वविदित है कि महायान बौद्ध धर्म अपने देववर्ग में हिंदू देवताओं को भी स्थान देता था। रहस्यात्मक भावना एवं नैसर्गिक सौंदर्य की कलात्मक अभिरुचि इस चित्र में विशेष रूप से अभिव्यंजित हुई है।

इस चित्र के रचना-कौशल पर ध्यान देने से इसका समय सतरहवीं शती

के द्वितीय चतुर्थांश के लगभग प्रतीत होता है, जब कि मुगल और राजपूत दोनो शैलियाँ अपने चरम उत्कर्ष पर थीं।

इस चित्र में चित्रित राजकुमारी की अत्यंत भक्तिभावपूर्ण मुखाकृति, शिव-पूजा का विधिवत् आयोजन, शिव-लिंग का शुद्ध रूपांकन—इन सबसे जान पड़ता है कि यह एक हिंदू कलाकार की कृति है जिसने परंपरा और शिक्षा से हिंदू धार्मिक जनश्रुतियों का ज्ञान भली भाँति आत्मसात् कर लिया था और जिसे भारतीय कला का उत्तराधिकार अनजान में ही परंपरा द्वारा प्राप्त हो गया था। संभवतः ऐसे ही हिंदू चित्रकारों के विषय में अबुल फजल ने कहा था—"उनके चित्र हमारी कल्पना के बाहर की वस्तु हैं। संसार में कुछ विरले ही चित्र ऐसे होंगे जो इनकी समता में ठहर सकें।"

चित्र के पृष्ठ-भाग में मुहम्मद साहब की प्रशंसा में एक फारसी सुलेख है। लिखनेवाले का नाम रौशन जमीर है, परंतु चित्रकार का नाम कहीं नहीं दिया है।

हिंदू चित्रकार जब स्वयं चित्र का विषय चुनते थे तब वे साधारणतः हिंदू धर्म का कोई आख्यान चित्रित करते थे। इस चित्र के विषय का आधार पार्वती तपश्चर्या की कथा है। पार्वती जी को उनके पिता हिमाचल ने शिव की आराधना करने की आज्ञा दी थी, जिसका वर्णन कालिदास ने निम्नलिखित श्लोकों में किया है—

अनर्घ्यमर्घ्येण तमद्रिनाथः स्वर्गौकसामर्चितमर्चयित्वा।
आराधनायास्य सखीसमेतां समादिदेश प्रयतां तनूजाम्॥[1]

(कुमार संभव, १।५८)

उमापि नीलालकमध्यशोभि विस्रंसयन्ती नव कर्णिकारम्।
चकार कर्णच्युतपल्लवेन मूर्ध्ना प्रणामं वृषभध्वजाय॥[2]

(वही, ३।६२)

१—गिरिराज ने देवों द्वारा अर्चित अनर्घ्य भगवान शिव की अर्घ्य से अर्चना करके सखियों सहित अपनी संयतात्मा कन्या को शिव की आराधना करने का आदेश दिया।

२—उमा ने भी वृषभध्वज शिव को सिर झुकाकर प्रणाम किया, उस समय उनकी नीली अलकों के बीच शोभित नव कर्णिकार पुष्प ढीला हो गया और कान पर से पल्लव च्युत हो गया।

इस कथा को पृष्ठभूमि में रखते हुए, संभवतः इस चित्र में किसी अद्वितीय सुंदरी राजकुमारी का चित्र अंकित किया गया है।

इस चित्र में धर्म-निरपेक्ष मुगल-दरबार की चित्रकला का ऐश्वर्य और दबदबा नाम मात्र को भी नहीं है। चित्रकार ने अत्यंत सफलतापूर्वक रात्रिकाल का स्वाभाविक और कलात्मक दृश्य चित्रित किया है, जो राजकुमारी के चित्ताकर्षक सौंदर्य के सर्वथा अनुरूप भूमिका है। संभवतः यह शिवरात्रि-पूजा का दृश्य है। राजकुमारी के कोमल स्वप्निल सौंदर्य में नारीसुलभ कमनीयता की पराकाष्ठा है। परंतु मुगल अंतःपुर के स्त्रैण हाव-भाव का इसमें सर्वथा अभाव है। निश्चय ही चित्रकार के मन में राजकुमारी के दिव्य सौंदर्य की उत्कृष्ट भावना रही होगी और उसी के अनुरूप, सुंदर भूमिका की कल्पना भी उसने की है। संपूर्ण चित्र में शांति और नीरवता विराज रही है, जो ध्यान और पूजन के अवसर के लिये (जो कि इस चित्र का विषय है) सर्वथा उपयुक्त है। प्राचीन चित्रकला की परंपरा में क्रमशः विलीन और आत्मसात् होते जाने का जो क्रम मुगल चित्रकला की उत्तरावस्था में पाया जाता है उसका यह उत्कृष्ट उदाहरण है। वन्य प्रदेश, पहाड़ी, शिवलिंग पर गिरता हुआ जलप्रपात, वट-वृक्ष जिसकी जटाएँ धरती तक पहुँच रही हैं—ये सभी वस्तुएँ चित्र को स्वाभाविक सौंदर्य प्रदान कर रही हैं।

रात्रि के समय शिव-मंदिर में पूजा करती हुई स्त्रियाँ चित्रित करना राजपूत चित्रकारों का सामान्य विषय था। परंतु इस चित्र में एक मुख्य विशेषता यह है कि इससे छाया और प्रकाश के समुचित प्रदर्शन के निमित्त दोहरे प्रकाश का प्रभाव बड़े सूक्ष्म कौशल के साथ चित्रित किया गया है।

चंद्रमा मेघों से आधे छिप गए हैं। पूरा आकाश हल्की ज्योत्स्ना से आलोकित है। कुछ तारे दिखलाई पड़ रहे हैं। चाँदनी से मेघों के किनारे रजत-रंजित लग रहे हैं, और झरने के शिवलिंग पर गिरते हुए जल में चाँदनी प्रतिबिंबित हो रही है।

शिवलिंग के पीछे आले में दीपक जल रहा है जो कोमल सुनहला प्रकाश फैला रहा है, जिससे जल की धार गिरने से उठे सूक्ष्म जल-शीकर आलोकित होकर शिवलिंग के चतुर्दिक स्वर्णाभ प्रभा-मंडल बन गए हैं। राजकुमारी और

उनकी दासियों की पीठ चंद्रमा की ओर है, अतएव उनके मुख को आलोकित करने के लिये चित्रकार ने पूजा के लिये राजकुमारी द्वारा जलाए गए दीप के प्रकाश का उपयोग किया है जिससे तीनों मुखाकृतियाँ चमक उठी हैं। मेघों से कुछ-कुछ छिपे चंद्रमा की कौमुदी और दो दीपकों के प्रकाश से चित्रकार ने छाया और उजाले का उत्कृष्ट संतुलन और समन्वय किया है, जिससे चित्र का सौंदर्य अत्यंत सजीव होकर खिल उठा है। रात्रि का शांत प्रभाव बड़ी उत्तमता से प्रदर्शित किया गया है। राजकुमारी के मुख के चारों ओर प्रभामंडल की एक रेखा मात्र खींच दी गई है जो उनके पद-गौरव और प्रतिष्ठा के अनुकूल ही है। शिवलिंग के चारों ओर आलोकित प्रभामंडल है ही।

राजकुमारी की खुली हुई काली अलकावलि से प्रतीत होता है कि वे स्नान करके आ रही हैं। बहुत सूक्ष्म वस्त्र धारण किए हैं। झीने वस्त्र की उनकी काली कंचुकी काली किनारी के कारण साफ रेखांकित हो गई है। शरीर पर आभूषण बहुत थोड़े हैं। साधारणतः झीने वस्त्र जो शरीर पर जरा कसे हुए धारण किए जाते हैं और जो कोमल घेरे के रूप में नीचे फैले रहते हैं, शरीर को सौंदर्य प्रदान करते हैं। परंतु यहाँ तो राजकुमारी का सुडौल शरीर ही उनके वस्त्रों को सौंदर्य और सौभाग्य प्रदान करता प्रतीत होता है।

उनके शरीर और अंगों की संतुलित मुद्रा और भाव कोमल और सजीव रेखाओं से चित्रित होकर निखर आए हैं। मकड़ी के जाले सदृश झीना उत्तरीय जिसपर स्वर्ण और रजत बिंदियाँ खचित हैं, बड़ी चतुरता से चित्रित किया गया है, जिसके भीतर से शरीर का गठन और उभार कुछ-कुछ झलक रहा है। राजकुमारी की मेंहदी से रंजित हाथ की लंबी पतली उँगलियाँ उनके उच्च कुल, चरित्र और भाव को प्रदर्शित करने में सहायक हो रही हैं। ये सब विशेषताएँ प्राचीन और शुद्ध भारतीय चित्रकला की ही साक्षी दे रही हैं। रेखाओं की शुद्धता और मुख पर मुद्रित पवित्र भक्ति-भाव पूजा के अवसर के सर्वथा अनुकूल है। साथ ही रात्रि के प्राकृतिक दृश्य के संयोग से चित्र का भाव उद्दीप्त हो उठा है। यह शाहजहाँ और जहाँगीर के काल की चित्रकला, विशेषतः आकृति-चित्रण-कला, का एक श्रेष्ठ उदाहरण है। पुष्प प्रकृति के सर्वोत्तम उपहार हैं। यहाँ चित्र में आगे छोटे-छोटे फूल के पौधे हैं, एक थाली में फूल रखे हैं, शिवलिंग पर एक पुष्पमाला चढ़ी हुई है और पीछे के वृक्षों में भी फूल खिले हैं।

चित्र में बुझे हुए हल्के, काले, हरे, लाली लिए, धुआँसे रंगों का प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं सुनहले रंग भी लिए गए हैं। कहीं प्रखर और गहरे रंग भी हैं जिनका छाया और प्रकाश दिखलाने के लिये उपयोग किया गया है। चित्र का धार्मिक वातावरण और भावमयी मुखमुद्रा राजपूत चित्रकला की विशेषताएँ प्रकट कर रही है। बिनयान के शब्दों में "भिन्न चरित्रों का निदर्शन, स्वाभाविकता, तेजस्विता और चित्रित व्यक्तियों का एक दूसरे से सुंदर संतुलित संबंध—ये सब मिलकर उच्च कला का प्रादुर्भाव करते हैं।" इस दृष्टि से यह उच्च कोटि की कला का उत्कृष्ट उदाहरण है।

मूल चित्र का आकार ६"×४" है। बाहर का ½" चौड़ा किनारा सुनहला है। उसके बाद १" चौड़ा बेलदार किनारा है जिसकी जमीन हल्की नीली है और जिसमें लताएँ, पत्तियाँ और फूल सुनहले रंग में बने हैं। इस किनारे और चित्र के बीच एक और किनारा १" चौड़ा है जिसकी जमीन हल्की हरी है और जिसमें महीन और मोटी सुनहली रेखाएँ खिंची हैं। किनारों के बाहर फूलों के चित्र हैं, जो फारसी चित्रकला के अनुरूप हैं। चित्रकार ने इस चित्र में वातावरण, दृश्य-संतुलन (Perspective) तथा पृष्ठभूमि के चित्रण में भी अपूर्व सफलता पाई है।

चयन

कृष्ण द्वैपायन व्यास और कृष्ण वासुदेव

बंगाल रायल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका के भाग १६ संख्या १ (ई० १९५०) में उक्त शीर्षक से एक महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है जिसका मुख्यांश हिंदी में यहाँ प्रस्तुत है—

भारतीय सभ्यता अन्यान्य सभ्यताओं की भाँति भिन्न भाषा और संस्कृति वाली कई जातियों की सभ्यताओं के मेल से बनी है। प्राचीन भारतीय जाति (हिंदू जाति) कोई एक विशुद्ध जाति न थी, प्रत्युत उसमें पास-पास बसनेवाली कम-से-कम चार जातियों का मेल था, जिनकी अपनी-अपनी पृथक् भाषाएँ और मौलिक संस्कृतियाँ थीं। ये जातियाँ थीं—निषाद, द्राविड़, किरात और आर्य। इनमें से आर्यों की भाषा संस्कृत इन चारों की संकर संस्कृति की वाहिका बनी और इसी कारण यह धारणा उत्पन्न हो गई कि हिंदू-सभ्यता के समस्त श्रेष्ठ तत्त्व—धर्म, दर्शन आदि—आर्यों की ही देन हैं, उनमें अन्य जातियों का हाथ नहीं। परंतु अब यह प्रमाणित हो गया तथा हो रहा है कि हिंदू-सभ्यता के कुछ सारभूत तत्त्व अनार्य हैं। स्वयं संस्कृत पर भी निषाद और द्राविड़ भाषाओं का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति और धर्म का मूल रुपए में बारह से चौदह आने तक अनार्य है। भारतीयों का सामान्य भोजन (रोटी, चावल, दाल), वस्त्र (धोती, गमछा या चदरा, पगड़ी), रहन-सहन और विचार-व्यवहार (अपने समान दूसरों के अधिकारों का आदर आदि) या तो अनार्य हैं, या आर्य-अनार्य के मिश्रण के परिणाम। योग एवं वेदांत दर्शन, पूजा आदि धार्मिक कृत्य तथा पौराणिक देवी-देवता और उपाख्यान—सब आर्य और अनार्य दोनों प्रकार के तत्त्वों के मिश्रण के परिणाम हैं।

भारत में बसनेवाली कोई भी जाति यहाँ मूलतः उत्पन्न नहीं हुई थी, सभी जातियाँ बाहर से आई थीं। सबसे पहले यहाँ नीग्रो जाति अफ्रीका से अरब और ईरान के समुद्रतटों से होते हुए आई। इस जाति के लोग नाम मात्र की

संख्या में भारत के दक्षिण की एक जाति में तथा अंडमान द्वीपों में हैं और निषादों तथा नागपर्वतीय जातियों के बीच भी इसके चिह्न पाए जाते हैं। यह घुमंतू जाति थी, कहीं बसकर खेती-बारी नहीं करती थी। यह आज से लगभग ७००० वर्ष पूर्व भारत में आई, किंतु १५०० ई० पू० में आर्यों के आने के समय उत्तर भारत में लुप्त हो चुकी थी।

नीग्रो के बाद पश्चिम से भूमध्यसागरीय प्रदेशों में रहनेवाले कुछ लोग आए, जो यहाँ से लंका, मलाया, जावा होते हुए आस्ट्रेलिया पहुँचे। इनमें से जो लोग भारत में रह गए वे आस्ट्रिक या आस्ट्रोएशियाटिक नाम से प्रसिद्ध हैं। भारत भर में निम्न श्रेणी की जातियों में इनके चिह्न प्रधानता से पाए जाते हैं। ये इंडोचीन, मलाया, इंडोनेशिया आदि में भी फैले। भारतीय आस्ट्रिकों की भाषा की प्रतिनिधि आज की कोल या मुंडा, खसी, मॉन, ख्मेर, निकोबारी, मलय आदि हैं। इनका सिर लंबा, बाल सीधे, नाक चपटी होती थी। आर्य पहले इन्हें निषाद कहते थे, पीछे भील और कोल कहने लगे।

निषादों के बाद भूमध्य-प्रदेशों से ही द्राविड़भाषी जाति आई। इसकी सभ्यता उच्च कोटि की थी। दक्षिण पंजाब और सिंध की नगर-सभ्यता, जिसके अवशेष मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में मिले हैं, इसी जाति की देन थी। भारत में आर्यों के बाद सबसे प्रबल यही जाति (दास या दस्यु) थी। पश्चिम और दक्षिण में इस जाति के लोग विशेष शक्तिशाली थे, किंतु वे गंगा की घाटी में भी फैले हुए थे और निषादों के साथ-साथ रहते थे। भारतीय सभ्यता को इनकी देन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। ये लगभग ५००० वर्ष पूर्व यहाँ आए। सिंध और दक्षिण पंजाब की सभ्यता लगभग ६००० वर्ष ई० पू० की है।

तीसरी आनेवाली जाति मंगोलों की थी। आर्य इन्हें किरात कहते थे। ये ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी के अंत में आए थे और तिब्बती-चीनी कुल की भाषाएँ बोलते थे। यजुर्वेद और अथर्ववेद में इन्हें गुफाओं और पर्वतों के निवासी कहा गया है। ये सारे भारत में न फैलकर नैपाल तथा हिमालय के दक्षिण की तरेटियों में बसे और इन्हीं प्रदेशों में इनका महत्त्व रहा। निषादों, द्राविड़ों और आर्यों की भाँति ये शक्तिशाली न थे।

आर्य ई०पू० दूसरी सहस्राब्दी के द्वितीयार्ध में आए। ये भारोपीयों की भारत-ईरानी शाखा के लोग थे और इनका मूल निवास यूराल पर्वत के दक्षिण में था

जहाँ से काकेशिया, पूर्वी एशिया माइनर, मेसोपोटामिया और ईरान होते हुए यहाँ आए। ये अर्ध-यायावर थे—अपने ढोरों को लिये इधर-उधर घूमते थे और कुछ खेती भी करते थे। इनकी भौतिक सभ्यता उन्नत नहीं थी, पर ये संगठित, कल्पनाशील और अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बना लेने में समर्थ थे। इनकी भाषा और इनके विचार इनकी सबसे बड़ी संपत्ति थे। निषादों और द्राविड़ों की भिन्न भाषा और संस्कृति का लाभ उठा कर ये विजेता बने और इन्हीं की भाषा सबने सामान्य रूप से स्वीकृत की। आर्य लोग निषादों, द्राविड़ों और किरातों में मिल-जुल गए और इस प्रकार उत्तर भारत में १००० ई० पू० के लगभग हिंदू जाति बन गई।

इन जातियों का मिश्रण इनके आपसी विवाह-संबंधों द्वारा स्वतः ही हो रहा था, किंतु कुछ मनीषियों ने बुद्धिपूर्वक भी इस सांस्कृतिक मिश्रण को प्रोत्साहित और प्रचारित किया। इनमें सबसे प्रमुख दो व्यक्ति थे—कृष्ण वासुदेव वार्ष्णेय और कृष्ण द्वैपायन व्यास। दोनों समकालीन थे। इन दोनों महापुरुषों ने हिंदू जाति के विचारों और उनकी जीवन-दृष्टि को व्यापक उदारता प्रदान की और दोनों हिंदू जाति के परम पूज्य हुए।

महाभारत ग्रंथ का वर्तमान रूप लगभग ४०० ई० का है, परंतु इसके मूल रूप में कौरव-पांडव-युद्ध तथा पांडवों की विजय का ही वर्णन था। महाभारत की घटनाएँ सत्य हैं और वे ई० पू० १००० और ९०० के बीच घटी थीं। पार्जिटर ने पुराणों, हेमचंद्रराय चौधरी ने ब्राह्मणों और उपनिषदों तथा डा० बार्नेट ने जैन प्रमाणों से महाभारत का उक्त समय ही ठीक माना है। व्यास और वासुदेव कृष्ण दोनों उस समय विद्यमान थे और इनका महाभारत और उसके दोनों पक्षों के प्रधान योद्धाओं से निकट संबंध था।

व्यास की श्रेष्ठता इसी से सिद्ध है कि उन्होंने निषाद, द्राविड़, किरात और आर्यों के मिश्रण से बनी विशाल हिंदू जाति को एक संस्कृति और एक जातीय साहित्य देकर उनमें एक जाति होने की भावना उत्पन्न की। यह साहित्य उन्होंने आर्य भाषा में धार्मिक, लौकिक, ऐतिहासिक आदि परंपराओं के संग्रह द्वारा प्रस्तुत किया, जो सर्वमान्य हुआ। भारतीय साहित्य में सबसे प्राचीन वेद और पुराण को व्यास ने ही साहित्यिक रूप दिया। आर्य-परंपराओं का संकलन उन्होंने वेदों में किया, जिससे वे वेदव्यास कहलाए। आर्यों की अपनी कोई लिपि या वर्ण-

माला न थी। लिखने की कल्पना उन्हें मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा के आदि द्राविड़-भाषियों से मिली। ब्राह्मी लिपि ४०० ई० पू० में भली भाँति विकसित और प्रचलित हो चुकी थी। यह आर्यों के पूर्व की मोहेंजोदड़ो लिपि से ही विकसित हुई, कहीं बाहर से नहीं आई थी। इसका प्रारंभ ई० पू० दसवीं शती में माना जा सकता है, जो वेदों और पुराणों के संकलन का समय है।

वैदिक मंत्रों में उत्तर भारत के आर्य-भाषाभाषी लोगों की परंपराओं का वर्णन है, परंतु उनके साथ साथ द्राविड़ और निषाद परंपराएँ भी प्रचलित थीं। ये परंपराएँ आर्यों के उत्तर-पश्चिम प्रदेशों पर अधिकार करने के सैकड़ों वर्ष पहले से चली आती थीं। इन्हीं का संकलन व्यास ने पुराणों में किया। इस प्रकार उन्होंने वेदों और पुराणों के रूप में आर्यों तथा निषादादि अनार्यों की भी धार्मिक, ऐतिहासिक आदि परंपराओं का संकलन कर विशाल हिंदू जाति के लिये स्थायी साहित्य प्रदान किया। यह सब उस समय हुआ जब अनार्यों और आर्यों के बीच अनुलोम और प्रतिलोम विवाह धड़ल्ले से हो रहे थे। व्यास स्वयं ब्राह्मण ऋषि पराशर तथा चंडाल कन्या (संभवतः द्राविड़) सत्यवती के पुत्र थे। सत्यवती राजा शांतनु की रानी हुई और व्यास ने उसकी विधवा पुत्रवधुओं से नियोग द्वारा धृतराष्ट्र तथा पांडु को उत्पन्न किया था, जिनके पुत्रों में महाभारत हुआ। व्यास ने 'जय' नाम से आदि महाभारत लिखा था। पर यह भी संभव है कि मूल युद्ध-कथा सूतपुत्र लोमहर्षण उग्रश्रवा ने रची हो, पीछे व्यास के श्रद्धालुओं ने उसे व्यास के नाम से प्रसिद्ध कर दिया।

कृष्ण वासुदेव ने हिंदू जाति के लिये जो असाधारण कार्य किए उनके कारण ही वे साधारण मानव से भगवान के अवतार माने गए। ये यदुवंशी क्षत्रियों की सात्वत शाखा में उत्पन्न हुए थे। वसुदेव इनके पिता और कंस की बहिन देवकी (अनार्य) इनकी माता थीं। कंस के भय से नंद के घर पालन-पोषण, कंस-वध, यादवों को ले जाकर द्वारका में बसाना, पांडवों से मित्रता आदि इनके जीवन की यथार्थ घटनाएँ हैं। ये ऋषि घोर आंगिरस के शिष्य तथा हिंदू जाति के महान् गुरु और नेता थे।

अपने दार्शनिक विचारों का बीज इन्होंने अपने गुरु से पाया था। इनके उपदेशों का सार यह है कि मनुष्य को सर्वभाव से भगवान की शरण जानी तथा निष्काम कर्म करते रहना चाहिए। सर्वप्रथम इन्होंने ही यह बतलाया कि आराधना

की भिन्न-भिन्न विधियाँ ईश्वर-प्राप्ति के ही भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। भावना सच्ची होने से किसी भी मार्ग द्वारा वह प्राप्य है। कर्मकांड को गौण स्थान देकर इन्होंने सत्याचरण, आत्मसंयम, अहिंसा और आंतरिक शुद्धता को महत्त्व दिया।

कृष्ण कैसे वैदिक देवता विष्णु बन गए और किस प्रकार विष्णु कृष्ण संप्रदाय में भागवत धर्म चल पड़ा, इसका वर्णन डा० हेमचंद्र राय चौधरी ने अपने ग्रंथ में बड़ी योग्यता से किया है। तमिल भाषा में विण्=आकाश, तथा प्राकृत में विण्हु, वेण्हु=विष्णु। वैदिक देवता आदित्य विष्णु ने क्रमशः एक अनार्य (द्राविड़) देवता का रूप ले लिया जो नील आकाश के रूप में संपूर्ण विश्व को व्याप्त किए हुए है। शतियों के अंतर में विष्णु-नारायण के अवतार के रूप में कृष्ण-वासुदेव के जीवन की मानवीय घटनाओं ने आश्चर्यजनक दैवी कथाओं का रूप ग्रहण कर लिया। पाली जातक (महाउमग्ग जा०, ५४६) के अनुसार, कृष्ण यद्यपि बुद्धिमान् थे किंतु उन्होंने एक नीच जाति की सुंदर अनार्य कन्या जंबावती के सौंदर्य से आकृष्ट होकर उससे विवाह कर लिया। बाद की पौराणिक कथाओं में यह जंबावती ऋक्षराज की कन्या जांबवती बन गई। राधा और कृष्ण के प्रेम की कथा का विकास कृष्ण के समय के लगभग १५०० वर्ष बाद हुआ। ई० पू० की जातक कथाओं तथा जैन परंपराओं में भी कृष्ण के मानव रूप का वर्णन मिलता है।

आर्यों की यायावर सभ्यता का रूप द्राविड़ नगर-सभ्यता और निषाद ग्राम-अरण्य-सभ्यता के संपर्क और प्रभाव से धीरे धीरे बदल रहा था और आर्यों के मन से विजेता होने का गर्व भी दूर हो रहा था। आर्य-वंश के ही कुछ लोग वैदिक यज्ञों की निंदा में प्रवृत्त हुए। आर्य-अनार्य परंपराओं के सम्मिलन में कृष्ण के कार्य और उपदेश सबसे अधिक सहायक हुए। आर्य और अनार्य परंपराओं के दो रूप थे—वैदिक निगम, अवैदिक आगम। आगम मूलतः द्राविड़ थे और निगम से बहुत प्राचीन थे। ये शिव-उमा संवाद के रूप में कहे गए थे और तंत्र और योग इन्हीं के अंग थे। निगम और होम आर्यों के साथ बाहर से आए थे। वैदिक पुरोहित और उच्चवर्गीय लोग निगम और होम के माननेवाले थे, परंतु आर्य-अनार्य मिश्रित जन-साधारण आगम और पूजा को ही मानते थे। आर्य-अनार्य-एकता के लिये आवश्यक था कि निगम और आगम, वैदिक देवता और अनार्य देवता, होम और पूजा भी एक हों।

होम और पूजा के मूल में दो भिन्न प्रकार के धार्मिक विचार हैं। होम की विधि वैदिक है और उसमें अग्नि की प्रधानता है। पूजा की विधि अवैदिक है

और उसमें पुष्प की प्रधानता है। होता के मन में किसी विश्वव्यापक दिव्य शक्ति की भावना नहीं होती। वह स्वर्ग में रहनेवाले प्राकृतिक शक्तियों के प्रतिनिधि आदित्य, मरुत् आदि के लिये अग्नि में मांस, घृत, सोम आदि का हवन करता है। देवताओं को ये वस्तुएँ अर्पित करने में भावना यह रहती है कि 'मैं इसलिये देता हूँ कि तुम भी हमें दो' (ददामि उत ददासि)। यह इंडो-यूरोपीय विधि थी जो ईरानियों, स्लावों और जर्मनों आदि में भी प्रचलित थी। पूजा का आधार होम से भिन्न है। पूजक का उद्देश्य होता है विश्वव्यापक सत्ता के साथ व्यक्तिगत संबंध स्थापित करना। पूजा के लिये किसी मूर्ति आदि में प्राणप्रतिष्ठा द्वारा देवता को स्थापित किया जाता है। मूर्ति का शृंगार किया जाता है और उसपर अर्घ्य, पुष्प, पत्र, फल, अक्षत, नैवेद्य आदि चढ़ाया जाता है और उसकी आरती की जाती है।

आर्य-अनार्य-मिश्रित हिंदू जाति को होम और पूजा दोनों ही विधियाँ परंपरा से प्राप्त हुईं। होम विशुद्ध आर्य विधि थी जिसमें अनार्यों का कोई अधिकार न था। पूजा में आर्य, अनार्य सभी सम्मिलित हो सकते थे। 'पूजा' शब्द का मूल द्राविड़ शब्द 'पू' है जिसका अर्थ पुष्प होता है। कृष्ण किसी विशेष विधि को प्रधानता न देकर शुद्ध भावना और विश्वास पर जोर देते थे। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने उत्तर भारत के आर्य-भाषाभाषी समाज में अवैदिक, आगमिक, तांत्रिक अथवा पौराणिक पूजा को विहित ठहराया। व्रज-वास के समय में उन्होंने आर्य देवता इंद्र की पूजा बंद कराके गोवर्धन पर्वत की पूजा प्रचलित की, जो अनार्य भावना के अनुरूप थी। भगवद्गीता के नवें अध्याय में (श्लोक संख्या २२-२६) कृष्ण के एतत्संबंधी विचारों और उपदेशों का सार उल्लिखित है। इसमें अनार्य 'पूजा' को पहले-पहल वैदिक 'होम' की समानता प्राप्त हुई और इस प्रकार हिंदू धर्म में द्राविड़, निषाद और किरात धर्मों को भी स्वीकार किया गया। कृष्ण इस नए युग के प्रवर्तक थे।

सारांश यह कि कृष्ण द्वैपायन व्यास और कृष्ण वासुदेव वार्ष्णेय, दोनों ऐतिहासिक व्यक्ति थे, दोनों भारत के महान् पुरुष थे, तथा दोनों ही के उपदेश भारतीयों एवं मानव जाति की आध्यात्मिक उन्नति के लिये अमृत तुल्य हैं। इन दोनों के साथ भारतीय महापुरुषों की वह दीर्घ परंपरा प्रारंभ हुई जो बुद्ध, महावीर, अशोक, कालिदास, हर्ष, शंकराचार्य, कबीर, तुलसी, अकबर, दाराशिकोह आदि को लेती हुई राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, रवींद्रनाथ आदि तक अक्षुण्ण चली आई है।

निर्देश

हिंदी

आदिकाल की सामग्री का पुनर्परीक्षण—हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'आलोचना', वर्ष २ अंक १ [हिंदी साहित्य का जो आदि काल माना जाता है उसमें हिंदी की स्थिति बहुत अस्पष्ट है। राजस्थानी का संबंध केवल हिंदी से नहीं, गुजराती से भी है। इधर ब्रज और अवधी क्षेत्र की कोई प्रामाणिक पुस्तक प्राप्त न होने से वहाँ किस प्रकार की रचना होती थी, इसका पता नहीं। शुक्ल जी ने उस काल की जो १२ पुस्तकें बताई हैं वे उस काल की नहीं हैं। दूसरी ओर जिन्हें धार्मिक कहकर छोड़ दिया है वे उपेक्ष्य नहीं। धर्म ही मध्य युग की प्रधान प्रेरणा थी। 'मानस' आदि ग्रंथ भी धार्मिक हैं। लौकिक कथाओं के आश्रय से धर्मोपदेश की परंपरा सूफियों में नहीं, उनके पूर्व के अनेक बौद्ध, जैन और ब्राह्मण आचार्यों की रचनाओं में ढूँढ़नी होगी। हिंदी ही नहीं, सभी प्रांतीय भाषाओं की उस काल की स्थिति तभी स्पष्ट होगी जब प्रत्येक प्रदेश से प्राप्त प्रत्येक श्रेणी की पुस्तकों का व्यापक अध्ययन किया जाय। आगे इस लेख में वे ऐतिहासिक परिस्थितियाँ बताई गई हैं जिनके कारण हिंदीभाषी क्षेत्र में कोई पुस्तक मूल रूप में नहीं मिलती।]

इतिहास का नया दृष्टिकोण—नामवरसिंह; आलोचना, २।१ [गार्सां द तासी से आचार्य द्विवेदी तक हिंदी साहित्य के इतिहास के अध्ययन की परंपरा की समीक्षा करते हुए बताया गया है कि शुक्ल जी के पहले के इतिहास वैयक्तिक परिचय मात्र थे। शुक्ल जी ने साहित्य का संबंध परिस्थितियों से जोड़ा। पर वे एक ही परिस्थिति में विभिन्न काव्य-प्रवृत्तियों की संगति न बैठा सके, इसी से उन्हें प्रत्येक काल में फुटकल खाता भी खोलना पड़ा। 'हिंदी साहित्य की भूमिका' सामाजिक प्रणाली पर हिंदी की पहली पुस्तक है। इसमें वैयक्तिक परिचय का मोह छोड़ हिंदी की पूरी भाव-परंपरा दिखलाई गई है। पर इसका आदर्शवादी दृष्टिकोण अस्वीकार्य है। इतिहास के अध्ययन में जो दृष्टिकोण-रहित, तटस्थ दृष्टिकोण अपनाया जाने लगा है वह भी अवांछनीय है। आगे 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' की व्याख्या करते हुए हिंदी साहित्य के इतिहास के अध्ययन में उसके प्रयोग की आवश्यकता बताई गई है।]

बीसलदेव रास की पाठ-समस्या—माताप्रसाद गुप्त; आलोचना, २।२ ['हिंदी के इस प्राचीन और महत्त्वपूर्ण काव्य' की हस्तलिखित प्रतियों का उनकी

छंद-संख्या के आधार पर वर्गीकरण करके विभिन्न वर्गों में साम्य और वैषम्य दिखलाया गया है और पाठ-समस्या की जटिलता बतलाते हुए वैज्ञानिक प्रक्रिया से मूल और प्रक्षेपों को पृथक् करने की आवश्यकता बताई गई है।]

भारतीय संस्कृति का प्राण—संपूर्णानंद; संमेलन-पत्रिका, लोक-संस्कृति अंक, २०१० [संस्कृति शब्द व्यवहार में अंग्रेजी के 'कलचर' शब्द से आया है। भारत और पश्चिम की संस्कृतियों में मुख्य अंतर यह है कि यहाँ प्रत्येक बात की कसौटी मोक्ष और अध्यात्म है और वहाँ मनुष्य की भौतिक उन्नति। भारतीय संस्कृति का स्वरूप संक्षेप में यह है—जगत् का मूल तत्त्व चेतन है; जीव नित्य है तथा कर्मानुसार फलभोक्ता है; जगत् का विकास संघर्ष से नहीं प्रत्युत सहयोग से हुआ है; धर्म का त्याग कभी न होना चाहिए; समाज में मूर्धन्य स्थान धन वा प्रभुत्व का नहीं, विद्या, तप और त्याग का होना चाहिए। संविधान में इस भारतीय संस्कृति का ध्यान नहीं रखा गया है। स्वतंत्र भारत को अपनी इस अमूल्य निधि की रक्षा करनी चाहिए।]

भारतीय संस्कृति में लोक-संस्कृति की अभिव्यक्ति—गोपीनाथ कविराज; सं० पं०, लो० सं० अंक, २०१० [भारतीय संस्कृति का मूल तत्त्व है—अपने समान सबको समझना। यह विशेषता संसार की किसी भी संस्कृति में नहीं है। गाँवों और जंगलों में रहनेवाले अपढ़ भारतीयों के भी जीवन और व्यवहार में यह तत्त्व देखा जा सकता है। इतने बड़े देश में संस्कृति की इस एकता का संपादन कथा और तीर्थाटन प्रणाली द्वारा संपादित हुआ। भारतीय संस्कृति के इसी तत्त्व के आधार पर अनेक मतों और विचारों का समन्वय संभव हुआ।]

भाषा का प्रश्न—राहुल सांकृत्यायन; आलोचना, २।३ [भारत में प्रांतों का संघटन भाषा के आधार पर ही होना चाहिए तथा प्रत्येक प्रांत में वहीं की भाषा की प्रधानता होनी चाहिए। संघ की भाषा होने की योग्यता हिंदी में ही है। उर्दू को किसी प्रांत पर लादना जनता के साथ अन्याय होगा। उर्दू का कल्याण इसी में है कि वह नागरी लिपि अपना ले जिससे बहुत से लोग उसे पढ़ सकें।]

अंग्रेजी

ऋग्वेदिक लिजेंड्स थ्रू दि एजेज़—एच० एल० हरियप्पा; डेकन कालेज रि० इं० की पत्रिका, ११।२-४ [ऋग्वेद में उल्लिखित सरमा, शुनःशेप तथा वसिष्ठ-विश्वामित्र की कथाओं का पुराणों तक आकर किस प्रकार विस्तार और रूपांतर

हुआ, यही इस लेख में दिखाया गया है। ऋग्वेद की सरमा रसा के पार जाकर देवों की गायों का पता लगाती है। वह देवों की कृपापात्र तथा शुद्ध और स्नेह-पूर्ण हृदयवाली स्त्री है। वाज० संहिता में सरमा = वाक्, तैत्ति० आरण्यक में वेदी। यास्क ने उसे देवशुनि लिखा और वाराहपुराण ने गायों के रक्षक की रखवालिन।

शुनःशेप का ऋग्वेद में तीन जगह साधारण उल्लेख है, कथा ऐतरेय ब्राह्मण में है। हरिश्चंद्र के पुत्र रोहित ने, जो वरुण की मनौती से उत्पन्न हुआ था किंतु उनके लिये बलि नहीं चढ़ना चाहता था, ब्राह्मणपुत्र शुनःशेप को यज्ञ में बलि देने के लिये खरीद लिया था। पर उसकी प्रार्थनाओं से प्रसन्न होकर देवों ने उसे मुक्त किया और विश्वामित्र ने उसे ज्येष्ठ पुत्र मानकर ग्रहण किया। लेखक का मत है कि नर-बलि की प्रथा आर्यों के पहले से प्रचलित थी, आर्यों ने यहाँ आने पर उसका विरोध किया।

ऋग्वेद में वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनों महर्षि राजा सुदास के पुरोहित हैं। विश्वामित्र भी ब्राह्मण ही थे, क्षत्रिय से ब्राह्मण नहीं बने थे। दोनों में कोई विरोध न था। विरोध पहले-पहल तैत्ति० संहिता में मिलता है, पीछे रामायण, महाभारत और पुराणों में निश्चित रूप से वर्णित है।]

एन इन्स्क्राइब्ड स्कल्प्चर इंस्पायर्ड बाइ हाल्स सप्तशती—संतलाल कतरे; इं० हि० क्वा०, २८।४ [जबलपुर से आठ मील भेड़ाघाट रोड पर तेवार (प्राचीन त्रिपुरी) में एक बावली के किनारे ग्यारहवीं शती का खुदा हुआ एक चित्र है, जिसके नीचे गाथासप्तशती की गाथा १।२० (अलिअ पसुत्तअ······) भी खुदी है, उसी का विवरण।]

ओरिजिनल होम ऑव दि इंपीरियल गुप्ताज—आर० सी० मजूमदार; बिहार रिसर्च सोसायटी की पत्रिका, ३८।३-४ [बि० रि० सो० प०, ३७।३-४, पृ० १३८ पर डा० बी० पी० सिंह का उक्त विषयक लेख छपा था, जिसमें उन्होंने श्रीगुप्त के बनवाए चीनी मंदिर को सारनाथ के पास मानकर गुप्त सम्राटों का मूल निवास उत्तर-प्रदेश में माना है। उनके अनुसार इत्सिंग ने हुइलुन की भारत-यात्रा के वर्णन में चीनी मंदिर को नालंदा के पश्चिम लिखा है। डा० मजूमदार का कथन है कि डा० सिंह ने इत्सिंग के बील-कृत अंग्रेजी अनुवाद को आधार माना है जो अशुद्ध है। फ्रेंच में चवानीज का अनुवाद शुद्ध है। इसमें 'नालंदा से ४० योजन गंगा के उतार पर मृगशिखावन है और उसके पास ही चीनी मंदिर।'

इसके अनुसार चीनी मंदिर निस्संदेह उत्तर बंगाल में मालदा या राजशाही में पड़ेगा। बंगाल का यह अंश श्रीगुप्त के राज्य में रहा होगा।]

ओरिजिनल होम ऑव दि इंपीरियल गुप्ताज़—डी० सी० गांगुली; इं० हि० का०, २८।४ [इं० हि० का०, भाग १६ पृ० ३३२ पर लेखक का इस विषय का प्रथम लेख छपा था जिसमें इत्सिंग द्वारा वर्णित चीनी मंदिर मुर्शिदाबाद में गुप्त राज्य में माना गया था। डा० आर० सी० मजूमदार ने इसे स्वीकार किया। डा० बी० पी० सिंह ने मृगशिखावन को मृगदाव (सारनाथ) मानकर गुप्तों का राज्य बनारस तक और मूल स्थान अयोध्या में माना। बील का पूरा उद्धरण देकर गांगुली ने बताया है कि बील के अनुवाद से भी डा० सिंह की स्थापना का समर्थन नहीं होता।]

ओरिजिनल होम ऑव दि इंपीरियल गुप्ताज़—बी० पी० सिंह; बि० रि० सो० प०, ३८।३-४ [इस विषय में डा० आर० सी० मजूमदार द्वारा अपने मत के खंडन (बि० रि० सो० प०, ३८।३-४) का लेखक द्वारा उत्तर। सिंह के अनुसार मजूमदार का यह मानना निराधार कि बील का अनुवाद अशुद्ध है और चवानीज़ का शुद्ध। इत्सिंग ने मंदिरों का वर्णन क्रम से किया है—गुणचरित मंदिर, उसके पास ही पश्चिम ओर कपिशा मंदिर, फिर चालुक्य मंदिर, आदित्यसेन का मंदिर, मृगशिखावन, बोधि गया और अंत में नालंदा। यदि मृगशिखावन को बंगाल में मानें तो क्रम भंग हो जाता है। फिर बंगाल में कोई प्रसिद्ध बौद्ध स्थान नहीं है। अतः मृगशिखावन सारनाथ या उसके पास तथा उसी के निकट चीनी मंदिर होना चाहिए। इस प्रकार गुप्तों का मूल स्थान बंगाल में न होकर उत्तरप्रदेश में ही होना संभव है।]

कंकॉर्डेंस ऑव फ़ॉना इन द रामायण—शिवदास चौधरी; इं० हि० का०, २८।४ [इं० हि० का०, २८।३ से आगे। वाल्मीकि रामायण में उल्लिखित प्राणि-नामों की अर्थसहित अनुक्रमणी; कुल ४६ शब्द, सं० ५७ से १०२ तक।]

ज्यॉग्राफिकल ऐंड क्रानोलॉजिकल फ़ैक्टर्स इन इंडियन इकॉनोग्राफी—सी० शिवराम मूर्ति; एंशंट इंडिया, संख्या ६, जनवरी १९५० [भारत में देवमूर्तियों की बनावट-सजावट भिन्न देश-काल के अनुसार किस प्रकार भिन्न हो गई, इसका विवेचन, सचित्र।]

पॉसिब्ल सुमेरियन सर्वाइवल्स इन टोडा रिचुअल—प्रिंस पीटर (यूनान); मद्रास गवर्नमेंट म्यूजियम की पत्रिका, नवीन संस्करण, सामान्य विभाग, जिल्द ६ सं० १, १९५१ [नीलगिरि के पहाड़ी अंचलों में टोडा नाम की एक प्राचीन जाति रहती है जिसका रूप-रंग, भाषा, धर्म आदि दक्षिण की अन्य जातियों से भिन्न है। लेखक ने इनके बीच जाकर एक ईसाई टोडा की सहायता से इनके धार्मिक कृत्यों के संबंध में पता लगाया और यह स्थापना की है कि किसी समय जब भारत का मेसोपोटामिया से व्यापारिक संबंध था, कुछ बेबीलोनियन व्यापारी यहाँ रह गए थे जिनकी ये संतान हैं। अथवा किसी प्रकार इनका धार्मिक संबंध बेबीलोनिया वालों से था। इनके दो देवताओं के नाम (On, Sin) बेबीलोनियन हैं।

आरंभ में इसके संपादक, मद्रास राज्य-संग्रहालय के अधीक्षक, ए० ऐय्यप्पन ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि पीटर ने ११ देवताओं के नामों में केवल दो का मूल सुमेरियन बताया, शेष ९ का रहस्य नहीं खुला। दो में भी 'सिन' के तमिल 'तिंगल' होने का संदेह है। बहुत संभव है ये टोडा उन द्राविड़-भाषियों के अग्रगामी रहे हों जो पश्चिम से भारत में आए थे।]

कंकॉर्डेंस ऑव फ़ॉना इन द रामायण—शिवदास चौधरी; इं० हि० क्वा०, २६।१ [इं० हि० क्वा० २८।४ से आगे। वा० रा० में उल्लिखित प्राणि-नामों की अर्थसहित अनुक्रमणी; सं० १०३ से १२८ तक, कुल २६ शब्द।]

योगवासिष्ठ, वार्तिक ऑन दि उपनिषद्स—पी० सी० दीवान जी; भारतीय विद्या, जिल्द १२ [उपनिषद् की मुख्य शिक्षा क्या है, बादरायण ने उसे क्यों सूत्रित किया, गौड़पाद ने उपनिषदों को किस रूप में समझा था, गौड़पाद कारिका का योगवासिष्ठ से क्या संबंध है, योगवासिष्ठ का मुख्य सिद्धांत क्या है और गौ० का० तथा त्रिक से उसका क्या संबंध है—आदि बातों पर विचार कर स्थापित किया गया है कि योगवासिष्ठ उपनिषदों पर किसी कश्मीरी शैव पंडित द्वारा रचा हुआ वार्तिक है।]

विदथ : दि अर्लिएस्ट फ़ोक एसेंब्ली ऑव दि इंडोआर्यन्स—रामशरण शर्मा; बि० रि० सो० प०, ३८।३-४ [सभा और समिति शब्द पर तो विद्वानों का ध्यान गया पर विदथ पर नहीं। ऋग्वेद में सभा शब्द आठ बार, समिति नौ बार,

पर विदथ १२२ बार आया है। अथर्ववेद में सभा और समिति शब्द क्रमशः १७ और १३ बार आए हैं और विदथ २२ बार आया है। विदथ भारतीय आर्यों की सबसे प्राचीन सभा थी जिसमें स्त्री, पुरुष दोनों सम्मिलित होते थे और आर्थिक, सैनिक, धार्मिक, सामाजिक आदि विषयों पर पारस्परिक सहयोग की भावना से विचार किया जाता था। राज्यकार्य में इसका क्या हाथ था, यह निश्चित नहीं।]

बँगला

कवि विद्यापति—तारापद मुखोपाध्याय, विश्वभारती पत्रिका; अक्टूबर-दिसंबर, १९५२ [विद्यापति-पदावली की आलोचना।]

रेखार रीति ओ प्रकृति—नंदलाल वसु; विश्वभारती पत्रिका, जुलाई-सितंबर १९५२ [वर्णलेखन तथा चित्रालेखन में रेखाओं का क्या स्थान और महत्त्व है, लेखनी वा तूलिका से बनी हुई रेखाएँ अनेक प्रकार की गतियों से किस प्रकार प्रभाव उत्पन्न करती हैं, इसका सोदाहरण और सचित्र विवेचन।]

शिल्प प्रसंग—नंदलाल वसु; वि० भा० पत्रिका, अक्टूबर-दिसंबर १९५२ [चित्रकला संबंधी कुछ प्रश्नों के उत्तर।]

समीक्षा

शब्द प्रकाश—संपादक श्री यदुनंदन भारद्वाज; प्रकाशक न्याय मंत्रालय, मध्यभारत शासन, इंदौर(१९५३ ई०)।

यह प्रशासन संबंधी लगभग ६००० शब्दों का उपयोगी संग्रह है। संपादकीय में कहा गया है—'प्रस्तुत कोश का निर्माण शासन की आज्ञा के अनुसरण में किया गया है। इसमें उन समस्त शब्दों का समावेश है जो कि समय-समय पर विभिन्न कार्यालयों द्वारा प्रशासनिक कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले शब्दों का उपयुक्त पर्याय जानने के हेतु न्याय विभाग में भेजे जाते रहे हैं।' इसमें प्रमुखता उन शब्दों की है जो संविधान की पारिभाषिक शब्दावली के रूप में मान्य हो चुके हैं और जिनका पृथक् कोश भी प्रकाशित हुआ है। किंतु यह कोश उससे कहीं अधिक विस्तृत है और अपने व्यावहारिक उद्देश्य की पूर्ति में उपयोगी भी है। हिंदी ने राष्ट्रभाषा का उत्तरदायित्व निभाने के लिये शब्दों के क्षेत्र में यह नया प्रयोग किया है। इसमें संदेह नहीं कि संस्कृत की कृपा से इस राष्ट्रीय समस्या का समाधान जितनी सफलता से इतने थोड़े समय में हो गया है वह विलक्षण है। दो-चार या दस-बीस शब्दों के विषय में किन्हीं का मतभेद भी हो सकता है, किंतु हम सबको इस प्रकार के महान् प्रयोग का स्वागत करना चाहिए, क्योंकि यह जीवन की अनिवार्य आवश्यकता के भीतर से उत्पन्न हुआ है। जब कालांतर में ये शब्द घिस-पिट कर सुबोध और बहुजन-प्रयुक्त हो जायँगे, तब इनके प्रति जो थोड़ा सा आक्षेप है वह भी शांत हो जायगा। 'एनडोर्स्ड' जैसे आवश्यक और क्लिष्ट शब्द के लिये संस्कृत का 'पृष्ठांकित' शब्द एकदम चुस्त और उपयुक्त है। वस्तुतः इन शब्दों का निर्माण संस्कृत भाषा की महती विजय और शक्ति का सूचक है। हिंदी को तो उसे आत्मसात् कर लेना भर है। संपादकों ने नम्रता से यह स्वीकार किया है कि उनका यह प्रयत्न हिंदी की वर्तमान शब्दावली के विकास में एक कड़ी मात्र है जो आगे अन्य बृहत्तर प्रयत्नों को जन्म देगा। यही सत्यात्मक दृष्टिकोण है।

भारतीय व्यापार का इतिहास (प्राचीन काल से लेकर अब तक)—लेखक

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी एम० ए०, पुरातत्त्व अधिकारी, उत्तर प्रदेश, लखनऊ; प्रकाशक राष्ट्रभाषा प्रकाशन, मथुरा; १९५१ ई० । मूल्य ७)

हिंदी में भारतीय व्यापार के इतिहास के संबंध में यह पहला ही सुचिंतित अध्ययन प्रकाशित हुआ है। लेखक ने अत्यंत परिश्रम से प्राचीन साहित्य में से सामग्री का संकलन किया है। फिर भी इस विषय की अपरिमित सामग्री है जो भारतीय, चीनी, मध्यएशियाई, ईरानी, यूनानी, रूमी, अरबी एवं यूरुप की कई भाषाओं के साहित्य में लबालब भरी हुई है। यदि सबका विधिपूर्वक मंथन किया जाय तो कितनी ही जिल्दों में भारतीय आर्थिक और व्यापारिक जीवन का इतिहास पूर्ण होगा। जब तक वैसा परिश्रम न किया जाय तब तक दिक्प्रदर्शन के लिये इस ग्रंथ को उपयोगी माना जायगा। भारतीय साहित्य परिभाषाओं की खान है। बंदरगाह (पृ० ८१) के लिये जलपत्तन, तटपत्तन, पोतपत्तन, वेलानगर आदि शब्द पूर्व काल में प्रचलित थे। द्रोणमुख, पुटभेदन शब्द भी व्यापार से ही संबंधित थे। तमिल भाषा के शिलप्पाधिकारम् ग्रंथ में कावेरीपत्तन या पुहार के समुद्रपत्तन का बहुत ही यशस्वी रूप चित्रित किया गया है जो भारत के समृद्ध विदेशी व्यापार की साक्षी देता है। श्री वाजपेयी जी ने भारतीय व्यापार के इतिहास की कड़ी जोड़ने के लिये मुसलमानी मध्य युग, मराठा-युग, और अंग्रेजी युग के व्यापार की चर्चा भी की है। लेखक ने बहुत सी नई सामग्री व्यापारी, उनके संगठन, राजकीय प्रबंध, वाणिज्य-सामग्री आदि के संबंध में दी है और कितने ही भूले हुए तथ्यों का परिचय दिया है। श्री-मोतीचंद्र जी की विद्वत्तापूर्ण भूमिका ग्रंथ की शोभा है जिसमें भारतीय व्यापार से संबंधित भौगोलिक सामग्री और पथों की ओर सविशेष ध्यान दिलाया गया है। वसुदेवहिंडी के अनुसार पूर्व में कमलपुर (ख्मेर) से पश्चिम में सिकंदरिया तक भारतीय व्यापार और यात्रा का विस्तृत क्षेत्र फैला हुआ था। वस्तुतः व्यापार भारतीय सांस्कृतिक प्रसार की अनी थी जिसकी सहायता से बृहत्तर भारत की चातुर्दिश धर्म-विजय स्थापित हुई।

—वासुदेवशरण अग्रवाल

समीक्षार्थ प्राप्त

आपका मुन्ना (प्रथम भाग)—लेखिका श्री सावित्री देवी वर्मा; प्रकाशक आत्माराम ऐंड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली ६; १९५३ ई०; मूल्य ?

आयुर्वेदीय क्रिया शारीर—लेखक वैद्य रणजित् राय; प्रकाशक वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, १ गुप्ता लेन, कलकत्ता ६; तृतीय संस्करण १६५२ ई०; मूल्य ११)

उन्मुक्ति (गद्य काव्य)—ले० श्री शकुंतला कुमारी 'रेणु'; प्रकाशक शक्ति प्रकाशन, झालरापाटन शहर; प्रथम सं०, सन् १६५३; मूल्य १॥)

कच-देवयानी (काव्य)—ले० श्री गुलाब; प्रकाशक कलाकुंज, ६४ शहीद रोड, गया; प्रथम संस्करण सन् १९५२; मूल्य १)

चटनी (कविता)—ले० श्री चतुर्भुज द्विवेदी 'चतुरेश'; प्रकाशक सहयोगी प्रकाशन मंदिर लि०, दतिया (विंध्य प्रदेश); सन् १६५३; मूल्य १।)

त्रिवेणी संगम पर (कविता)—ले० श्री वासुदेव गोस्वामी; प्रकाशक सहयोगी प्रकाशन मंदिर लि०, दतिया (विं० प्र०); प्रथम संस्करण, सन् १६५२; मूल्य १।)

नेत्र-सुधार—लेखक डा० आर० एस० अग्रवाल; प्रकाशक डा० अग्रवाल आइ इंस्टीट्यूट; १५ दरियागंज दिल्ली; द्वितीय संस्करण, सन् १६५३; मूल्य ३)

संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो—संपादक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री नामवर सिंह; प्रकाशक साहित्यभवन लि०, इलाहाबाद; प्रथम संस्करण, सन् १६५१; मूल्य ३।)

प्रायश्चित्त (उपन्यास)—ले० श्री हरिमोहनलाल श्रीवास्तव, एम० ए० साहित्यरत्न; प्रकाशक किताबघर, कदमकुआँ, पटना ३; प्रथम संस्करण सन् १९५२; मूल्य १॥)

महल और मकान—ले० श्री यज्ञदत्त, एम० ए०; प्रकाशक साहित्य प्रकाशन, दिल्ली; मूल्य ३)

मिट्टी के गीत (कविता)—ले० श्री प्रफुल्लचंद्र पट्टनायक; प्रकाशक श्री भागीरथी पट्टनायक, वाणी कुटीर, बरपाली (उत्कल); मूल्य १॥)

षष्टिशतक प्रकरण—नेमिचंद्र भंडारी कृत; संपादक डा० भोगीलाल ज० साँडेसरा, एम० ए०, पी-एच० डी०; प्रकाशक म० स० विश्वविद्यालय, बड़ोदा; प्रथम संस्करण, सं० २००९; मूल्य ५)

साइकॉलॉजिकल स्टडीज इन रस—लेखक डा० राकेशगुप्त एम० ए०, डी० फिल०; प्रकाशक लेखक, बनारस हिंदू युनिवर्सिटी; प्रथम संस्करण, सन् १९५०; मूल्य ५)

स्मरण यात्रा—ले० काका कालेलकर, प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद; प्रथम संस्करण १६५३ ई० । मूल्य ३॥)

विविध

दक्षिण की भाषाओं में रामचरितमानस

रामचरितमानस हिंदी भाषा और साहित्य का सबसे प्रमुख ग्रंथ है। किंतु वह राष्ट्रीय महत्त्व का ग्रंथ भी है। देश की विभिन्न भाषाओं में उसके अनुवाद और तत्संबंधी साहित्य का निर्माण शनैः शनैः होता रहा है। उसकी संपूर्ण सूचना हिंदी जगत् को रखनी चाहिए। गोस्वामी तुलसीदास जी और उनके काव्यों के विषय में जो लेख और पुस्तकें अब तक प्रकाशित हुई हैं, उन सबकी एक अनुक्रमणी (बिब्लियोग्राफी) बनाने की आवश्यकता है। इधर काशिराज श्री विभूतिनारायणसिंह जी तुलसीदास जी का सर्वांगपूर्ण पुस्तकालय अपने यहाँ बना रहे हैं। अभी जुलाई मास में दक्षिण-भारत की यात्रा पर जाते समय मुझे उन्होंने यह कार्य सौंपा कि दक्षिण-भारत की भाषाओं में निर्मित रामचरितमानस संबंधी साहित्य की जाँच करूँ। मैंने मदरास पहुँच कर महामहिम श्री श्रीप्रकाश जी से इस संबंध में सहायता की याचना की। उन्होंने उसे स्वीकार किया और कृपापूर्वक निम्नलिखित सूचना भेजी है—

तमिल भाषा में श्री अंबुज अम्मल ने केवल बालकांड का गद्यानुवाद 'रामचरितमानस मणिमयम्' नाम से किया है, जो प्रकाशित हो चुका है।

तेलुगु भाषा में रामचरितमानस का गद्यानुवाद श्री शिष्टु कृष्णमूर्त्ति शास्त्री (१८८०) ने 'रामचरितमानस' नाम से किया था। उसकी पांडुलिपि गवर्नमेंट ओरियंटल मैनुस्क्रिप्ट्स लायब्रेरी, मद्रास में सुरक्षित है। ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है। तेलुगु भाषा में रामचरितमानस का गद्यानुवाद भी हुआ है, जो वी० रामस्वामी शास्त्रुलु २९२, एस्प्लेनेड, मद्रास से प्राप्य है। मूल्य १२॥) है।

कन्नड़ भाषा में रामचरितमानस के दो अनुवाद गद्य में हुए हैं, जो 'तुलसी रामायण' के नाम से छप चुके हैं। एक के अनुवादक हैं श्री डी० के० भारद्वाज और दूसरे के श्री गलगनाथ। प्राप्तिस्थान—सत्य-शोधन बुक डिपो, फोर्ट, बंगलोर।

मलयालम् भाषा में श्री वेन्निक्कुलम् गोपाल कुरुप ने 'तुलसी रामायणम्'

नाम से पद्यानुवाद किया है, जिसकी पांडुलिपि मैनुस्क्रिप्ट्स लायब्रेरी, त्रिवेंद्रम में सुरक्षित है। मलयाल मनोरम, कोट्टयम् द्वारा अयोध्याकांड तक का अंश छापकर प्रकाशित किया जा चुका है।

—वासुदेवशरण अग्रवाल

विश्वविद्यालयों में अनुसंधान कार्य

भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा शोध-संस्थानों में जून १९५० से मई १९५२ तक जिन विषयों पर अनुसंधान हुए उनकी एक तालिका अंग्रेज़ी में इंटर-युनिवर्सिटी बोर्ड, दिल्ली से जून १९५३ में प्रकाशित हुई है। इसमें बाईस विश्वविद्यालयों तथा सोलह शोध-संस्थानों की सूचनाएँ छपी हैं जिनमें उक्त अवधि में हिंदी भाषा और साहित्य विषयक अनुसंधान केवल चार विश्वविद्यालयों—आगरा, इलाहाबाद, राजपूताना, सागर—में हुए। बनारस, लखनऊ, अलीगढ़ जैसे प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों के नाम तालिका में नहीं हैं। यहाँ इस तालिका के आधार पर इलाहाबाद और राजपूताना विश्वविद्यालयों के हिंदी साहित्य विषयक अनुसंधान की सूचना प्रस्तुत की जाती है—

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

(१९५० ई०)

विषय	अनुसंधानकर्ता	प्राप्य उपाधि
गोस्वामी तुलसीदास की कृतियों के आधार पर अलंकारशास्त्र का पुनर्निर्माण	इंद्रबहादुर खरे	डी० फिल्०
आधुनिक हिंदी नाटकों पर पाश्चात्य नाटकों का प्रभाव	धर्मकिशोरलाल श्रीवास्तव	"
मध्यकालीन वैष्णव तेलुगु और हिंदी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	कुमारी हेमलता जनस्वामी	"
भारत का राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-संघर्ष और आधुनिक हिंदी साहित्य पर उसका प्रभाव (१८८५-१९४७ ई०)	कुमारी कीर्ति अदवाल	"
भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन	सत्यव्रतसिंह	"

अवधी लोककथाओं और गीतों में चित्रित सांस्कृतिक और सामाजिक स्थिति	चंद्रप्रकाश वर्मा	डी० फिल्०
हिंदी उपन्यास और कहानी की उत्पत्ति और विकास	लक्ष्मीनारायण लाल	„

(१९५१ ई०)

हिंदी गीति काव्य की उत्पत्ति और विकास (१४००-१७०० ई०)	श्रीमती माया भटनागर	„
हिंदी काव्य में भक्ति का उद्गम और विकास (१४००-१७००)	कुमारी कमला धवन	„
आधुनिक हिंदी साहित्य पर बँगला साहित्य का प्रभाव	केशरचंद्र सिंह	डी० फिल्०
हिंदू राष्ट्रीयता और मध्यकालीन हिंदी साहित्य	कुमारी शांति सिंह	„
बुंदेलखंड का लोकसाहित्य	रामेश्वरप्रसाद मालवीय	„
आधुनिक हिंदी साहित्य पर उन्नीसवीं शती के सुधार-आंदोलनों का प्रभाव	मूलचंद अवस्थी	„
हिंदी प्रबंध-काव्य का अध्ययन (१४००–१८००)	रामकृपाल उपाध्याय	„
हिंदी भक्तिवार्ता साहित्य (१४००–१८००)	लालताप्रसाद दुबे	„
तुलसीदास के बाद का राम-विषयक हिंदी साहित्य	रामलखन पांडे	„

राजपूताना विश्वविद्यालय

(पी-एच० डी० उपाधि के लिये)

विषय	अनुसंधानकर्ता	प्रारंभ	समाप्त
राजस्थान का निरंजनी मत, उसका दर्शन और साहित्य	मेघराज कर्मा मुकुल	१९५० ई०	१९५३ ई०

राजस्थान का पिंगल साहित्य	मोतीलाल मेनारिया	१९५० ई०	१९५२ ई०
व्यंजना और ध्वनि का क्षेत्र	भोलाशंकर व्यास	१९५० ई०	१९५२ ई०
आधुनिक हिंदी कविता में समाज	गायत्री देवी वैश्य	१९५० ई०	
राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद तथा राजा लक्ष्मणसिंह—आधुनिक हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में उनकी देन तथा आधुनिक हिंदी की विभिन्न प्रवृत्तियों के निर्माण में उनका प्रभाव	नरपतचंद सिंघवी	१९५० ई०	१९५३ ई०
काव्य-दोषों की कल्पना का विकास	माधोदास व्यास	"	"
आधुनिक हिंदी साहित्य की प्रेरक शक्तियाँ	सोहनलाल लोधा	"	"
आधुनिक हिंदी साहित्य में समालोचना का विकास	वेंकट शर्मा	१९५१ ई०	१९५३ ई०
हिंदी गद्य का निर्माण और विकास	व्रजमोहन शर्मा	"	"
आधुनिक हिंदी साहित्य में कहानी के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन	श्रीमती सीता हंडा	१९५२ ई०	
हिंदी गद्य का वैभव-काल (१९२५-५०)	कु० माधुरी दुबे	१९५२ ई०	१९५३ ई०
हिंदी साहित्य में विचार-प्रवृत्तियाँ (१८७० ई० से अब तक)	हरिकृष्ण पुरोहित	१९५० ई०	१९५२ ई०
राजस्थानी संत कवि	हरदत्त सारस्वत	१९५० ई०	१९५३ ई०

काशी हिंदू विश्वविद्यालय

हिंदू विश्वविद्यालय से हिंदी विभाग से प्राप्त सूचना के अनुसार विश्वविद्यालय ने सन् १९५३ से हिंदी विभाग में पी-एच० डी० के लिये जिन विषयों पर अनुसंधान करने की स्वीकृति दी है उनकी सूची इस प्रकार है—

विषय	अनुसंधानकर्ता	निर्देशक
आधुनिक हिंदी साहित्य में यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ	चंद्रबली सिंह	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिंदी साहित्य में प्रयुक्त छंद और उनके मूल स्रोत	हरिमोहनप्रसाद श्रीवास्तव	"

हिंदी आचार्यों द्वारा प्रतिपादित शब्दशक्ति	भुवनेश्वर गौड़	"
राष्ट्रीयता—आधुनिक हिंदी साहित्य में एक नवीन शक्ति	अमरावती दुबे	"
श्री गुरु ग्रंथ साहब में उल्लिखित संत कवियों के धार्मिक विश्वासों का अध्ययन	धरमपाल मैनी	"
सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य	शिवप्रसाद सिंह	"
मध्यकालीन हिंदी साहित्य में अवतारवाद	कपिलदेव पांडे	"
आधुनिक हिंदी काव्य-साहित्य के बदलते हुए मानों का अध्ययन	रमेशप्रसाद मिश्र	"
रामलीला की उत्पत्ति तथा विकास, विशेष रूप से मानस रामलीला	मोहनराम यादव	पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
कविसमय मीमांसा	विष्णुस्वरूप	"
प्रेम-कथानकों की काव्य-परंपरा	अमरनाथ मिश्र	डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा

वाल्मीकि रामायण के तीन पाठ

प्रस्तुत अंक में उपर्युक्त शीर्षक से प्रकाशित प्रथम लेख के अंत में पृ० ३५ पर लेखक की कृतज्ञता-ज्ञापन संबंधी निम्नलिखित पादटिप्पणी छूट गई है, कृपया पाठक इसे वहाँ पढ़ें—

इस लेख को हिंदी भाषा में प्रस्तुत करने में श्री गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, एम० ए० (प्रयाग) से जो सहायता मिली है उसके लिये मैं आभार और कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। (लेखक)

—संपादक

सभा की प्रगति

(वैशाख-आषाढ़)

२६ चैत्र २००६ को हुए सभा के साठवें वार्षिक अधिवेशन में संघटित निर्वाचक-मंडल के निश्चयानुसार सभा के निम्नलिखित कार्याधिकारी तथा प्रबंध समिति के सदस्य चुने गए—

कार्याधिकारी (संवत् २०१० के लिये)

सभापति—श्री डाक्टर अमरनाथ झा। उपसभापति (१)—श्री गुरुसेवक उपाध्याय, (२) श्री ठाकुर शिवकुमारसिंह। प्रधान मंत्री श्री डा० राजबली पांडेय। साहित्य मंत्री—श्री डा० श्रीकृष्णलाल। अर्थ मंत्री—श्री मुरारीलाल केडिया। प्रकाशन मंत्री—श्री कृष्णानंद। प्रचार मंत्री—श्री करुणापति त्रिपाठी। संपत्ति-निरीक्षक-श्री लक्ष्मणसहाय श्रीवास्तव। पुस्तकालय-निरीक्षक-श्री राजाराम शास्त्री।

प्रबंधसमिति के सदस्य

(संवत् २०१० से २०१२ तक)

काशी—श्री डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री बलराम उपाध्याय, श्री आचार्य नरेंद्र देव, श्री रामचंद्र वर्मा, श्री मोतीसिंह। उत्तरप्रदेश—श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री गोपालचंद्र सिंह। राज्य—श्री मोतीलाल मेनारिया, श्री मेघराज मुकुल। सिंध—(रिक्त)। दिल्ली—श्री डा० दशरथ ओझा। असम—श्री सर्वजीत। मैसूर—श्री ना० नागप्पा। विदेश—श्री ए० जी० शिरफ, श्री० रैल्फ टर्नर।

(संवत् २०१० से ११ तक)

काशी—श्री डाक्टर राकेश गुप्त, श्री डा० रमाशंकर त्रिपाठी, श्री डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, श्री प्रतापनारायण सिंह, श्री देवीनारायण। बंगाल—श्री डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या। उत्कल—श्री शिवराम उपाध्याय। उत्तरप्रदेश—श्री अशोक जी, श्री डा० बाबूराम सक्सेना। राज्य—श्री विद्याधर शास्त्री। पंजाब—श्री जगन्नाथ पुच्छरत। बिहार—श्री शिवपूजन सहाय। ब्रह्मदेश—श्री डा० ओमप्रकाश।

(संवत् २०१० तक)

काशी—श्री बलदेव उपाध्याय, श्री उदयशंकर शास्त्री, श्री सहदेव सिंह, श्री-लक्ष्मण नारायण गर्दे, श्री पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर। बंबई—श्री डा० मोती चंद्र। मध्यप्रदेश—श्री नंददुलारे वाजपेयी। राज्य—श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी। उत्तर प्रदेश—श्री डा० धीरेंद्र वर्मा। राज्य—श्री महाराजकुमार डा० रघुबीर सिंह, श्री शांतिप्रिय आत्माराम। सिंहल—श्री सत्यनारायण। मद्रास—श्री श्रीप्रकाश।

विभागीय कार्य

प्रकाशन—निम्नलिखित पुस्तकें नई प्रकाशित हुईं—

भागवत संप्रदाय—ले० श्री बलदेव उपाध्याय एम० ए०, मू० ६); आदर्श और यथार्थ—ले० श्री पुरुषोत्तम लाल, मू० २॥); कहानियों से मनोरंजक सच्ची घटनाएं—ले० श्री शंकर, मू० १।)

भारतेंदु-ग्रंथावली भाग २-३, त्रिवेणी और रामचंद्रिका की जिल्दबंदी हो रही है। संक्षिप्त हिंदी व्याकरण का पुनर्मुद्रण हुआ। मौर्यकालीन भारत और हिंदी टाइप राइटिंग छप रही हैं।

खोज-विभाग—अन्वेषक श्री दौलतराम जुयाल सभा में रहकर आर्यभाषा पुस्तकालय के हस्तलिखित ग्रंथों का विवरण लेते रहे। कुल ९३ ग्रंथों के विवरण लिए गए, जिनमें अनेक नए तथा बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

—सहायक मंत्री

प्राचीन हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज

बीसवीं त्रैवार्षिक विवरणिका*

(सं० २००४-२००६; सन् १९४७-४९)

खोज की प्रस्तुत बीसवीं त्रैवार्षिक-विवरणिका में संवत् २००४, २००५ और २००६ वि० (सन् १९४७-४९ ई०) के कार्य का विवरण है। इस अवधि में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र इस कार्य के निरीक्षक थे, अतः यह विवरणिका स्वभावतः उन्हीं की देखरेख में लिखी जानी चाहिए थी; परंतु संवत् २००७ के प्रारंभ में जब यह लिखी जाने को थी, निजी कार्यों में अधिक व्यस्त रहने के कारण उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। इसपर सभा ने मुझे उक्त संवत् के ज्येष्ठ मास में निरीक्षक चुना जिसके फलस्वरूप यह कार्य मुझको करना पड़ा।

विवरणिका आरंभ करने के पहले मैं जिला बस्ती के अंतर्गत बभनगाँवा अमोढ़ा कोट निवासी ठा० रामसिंह जी को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने सबलस्याम के संबंध में अमूल्य सूचना देकर सहायता की है। अस्तु।

इस त्रिवर्षी में दो अन्वेषकों—श्री दौलतराम जुयाल और श्री कृष्णकुमार वाजपेयी—ने सुलतानपुर, जौनपुर, प्रतापगढ़, रायबरेली, लखनऊ और बस्ती जिलों में कार्य किया जिनमें से प्रथमोक्त चार जिलों में कार्य समाप्त हो गया है।

इस कार्य-काल में समस्त ६४७ ग्रंथों के विवरण लिए गए जो तीन वर्षों में इस प्रकार विभक्त हैं—

*इस विवरणिका को सर्वरूपेण अन्वेषक श्री दौलतराम जुयाल ने तैयार किया है। इसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

वासुदेवशरण अग्रवाल,
निरीक्षक, खोजविभाग,
नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

विक्रमी संवत्	विवरणों की संख्या
२००४ (वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़)	१२६
२००५	४४१
२००६	३८०
समस्त	९४७

५०६ ग्रंथकारों के रचे ६६४ ग्रंथों की ८३९ प्रतियों के विवरण लिए गए हैं। इनके अतिरिक्त १०८ ग्रंथ ऐसे हैं, जिनके रचयिता अज्ञात हैं। २०३ ग्रंथकार और उनके निर्मित २४८ ग्रंथ खोज में बिल्कुल नवीन हैं। १७८ नवीन ग्रंथ ऐसे हैं, जिनके रचयिता तो ज्ञात थे, किंतु उनके इन ग्रंथों का पता नहीं था।

ग्रंथों और उनके रचयिताओं का शताब्दि-क्रम निम्नलिखित प्रकार से है—

शताब्दि-क्रम	१४ वीं	१५ वीं	१६ वीं	१७ वीं	१८ वीं	१९ वीं	२० वीं	अज्ञात	योग
ग्रंथकार	१	२	१०	४०	५९	१११	४७	२३६	५०६
ग्रंथ	१	१९	१५	७२	११८	२०१	७८	४४३	९४७

नीचे ग्रंथों के विषय-विभाग की सारणी दी जाती है—

(१) दर्शन और अध्यात्म—३४, (२) भक्ति—१४५, (३) योग—३, (४) ज्ञानोपदेश और वैराग्य—१२४, (५) काव्य—९५, (६) श्रृंगार—८१, (७) अलंकार—१५, (८) साहित्य-शास्त्र—१३, (९) पिंगल—२३, (१०) कोश—५, (११) नाटक—१, (१२) व्याकरण—१, (१३) संगीत—३, (१४) भूगोल—१, (१५) पुराण और इतिहास—५२ (१६) पौराणिक कथाएँ—६४, (१७) कथा-कहानी—४, (१८) लीला-विहार—२२, (१९) परिचयी और जीवनवार्ता—१३, (२०) नीति और राजनीति—९, (२१) ज्योतिष तथा गणित ४४, (२२) स्तोत्र और माहात्म्य—३४, (२३) वद्यक—४२, (२४) कोकशास्त्र—१५, (२५) स्वप्नशास्त्र—२, (२६) शालिहोत्र—१३, (२७) प्रेमकथानक काव्य—१, (२८) धार्मिक—२१, (२९) वंशावली, विरुदावली तथा प्रशस्ति काव्य-५, (३०) रमल और शकुन—१२, (३१) इंद्रजाल, तंत्र-मंत्र और जंत्र—७, (३२) स्वरोदय—५, (३३) रसायन—१, (३४) यात्रा—१, (३५) वास्तुशास्त्र—४, (३६) शतरंज—१, (३७) सामुद्रिक—२, (३८) विविध—२६।

नवीन रचयिताओं में आत्माराम, इंद्रजीत, उत्तमदास, उदोतकवि, कासी-दास, कीर्तिकेशव, गिरिधारी, चतुर्भुज, चेतनदास, जानकी बाई, तारानाथ, देवदत्त कवि, देवीदास कायस्थ, धर्मादास, नंद या नंदलाल, परमाणंद, पानपदास, पुरंदर कवि, प्रियादास, बख्तावरसिंह (महाराज अयोध्यानरेश) की स्त्री, भगनदास, मदनसाहब, मोहनसाँई, रामेश्वर भट्ट, सागर कवि और साचार मुख्य हैं।

आत्माराम—इनके दो ग्रंथ 'परचुरणपद' और 'व्रजलीला' नाम से मिले हैं, जिनका विषय क्रमशः भक्ति और श्रीकृष्ण की व्रजलीला है। परचुरण (सं० प्रचूर्ण) का अर्थ फुटकर पदों का संग्रह विदित होता है। दोनों ग्रंथ आकार में बड़े हैं और रचना भी दोनों की पदों में ही है, जिनकी भाषा पश्चिमी हिंदी है। रचनाकाल और लिपिकाल किसी में नहीं दिए हैं। प्रथम ग्रंथ के आरंभ में दूसरे ग्रंथ का उल्लेख किया गया है और साथ ही साथ दोनों ग्रंथों में रचयिता के नाम की छाप विद्यमान है, इसलिये दोनों को एक ही रचयिता कृत माना गया है। प्रथम ग्रंथ का आरंभ का लेख इस प्रकार है—

अथ परचुरण पद तथा श्री बाला जी महाराज ने नीत्यनां पद तथा व्रजलीला लखी छे।

इन ग्रंथों से रचयिता के संबंध में कुछ विदित नहीं होता। इनमें प्रयुक्त भाषा के आधार पर इतना ही पता चलता है कि रचयिता पश्चिमी राजस्थान के रहनेवाले थे। ये अच्छे भक्त और प्रतिभावान् कवि विदित होते हैं। पिछली खोज-विवरणिकाओं में उल्लिखित इस नाम के रचयिताओं में से ये सर्वथा भिन्न हैं। नीचे 'परचुरणपद' का एक पद दिया जा रहा है—

नहिं कोइ नहिं कोइ नहिं कोई मेरे ॥
तुम बिन और नहीं कोइ वेगे संभाल करो मेरी बाला
कहाँ लो गुन करूँ मे तेरे ॥ नहिं ॥१॥
छमा करो अपराध हमारो वेर वेर काहा करूँ टेरे टेरे।
'आत्माराम' को अधम जनके चरनकमल राखो प्रभु नेरे ॥ नहिं ॥ २ ॥

इंद्रजीत—ये एक जैन रचियिता हैं। इनका रचा हुआ 'उत्तरपुराण भाषा' नामक ग्रंथ मिला है जिसमें सुव्रतनाथ, कुंथनाथ, अरहनाथ और मल्लिनाथ जैन तीर्थंकरों का वर्णन प्रधानतः दोहे, चौपाई और सोरठों में है, पर नराच आदि

अन्य छंद भी प्रयुक्त हुए हैं। रचनाकाल संवत् १८४० और लिपिकाल संवत् १८६७ वि० है। रचनाकाल का दोहा इस प्रकार है—

रंध्र द्विगुन सत चालीस, संवत्सर गति जान।
पौष कृष्ण तिथि द्वैज महि, चंद्रवार परमान ॥ १४१ ॥

ग्रंथ की पुष्पिका और एक दोहे से पता चलता है कि कवि ने इसकी रचना भट्टारक जिनेंद्रभूषण के उपदेशानुसार की। भट्टारक जिनेंद्रभूषण ने एक कवि देवदत्त को भी उत्तरपुराण की भाषा करने को कहा था। फलतः प्रस्तुत पुराण की, जिसका मूल संस्कृत में है, कुछ कथाओं का अनुवाद देवदत्त ने और कुछ का प्रस्तुत रचयिता ने किया। भट्टारक जिनेंद्रभूषण श्री विश्वभूषण के शिष्य श्री ब्रह्म-हर्षसागर के पुत्र थे—

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यानुक्रमेन श्रीभट्टारक विश्वभूषन तत्पादाभरन श्रीब्रह्महर्ष-सागरात्मज श्रीभट्टारक जिनेंद्रभूषणोपदेशित इंद्रजीत कृते मल्लिनाथ तीर्थंकर प्रश्नचक्रधर नंदिमित्र बलि देवदत्त नाम वसुदेव वलीद्राख्य प्रति वासुदेव व्यवर्ननो संपूर्न लीषा ॥

श्रीजिनेंद्रभूषण विदित, भट्टारक महि माहि।
तिनके हित उपदेस सो, रच्यौ ग्रंथ उत्साहि ॥१३८॥

इस ग्रंथ के रचनाकाल से लखनऊ के प्रसिद्ध जैन विद्वान् श्री ज्योतिप्रसाद जी जैन (मेडिकल स्टोर, कैसरबाग, लखनऊ) सहमत नहीं हैं। इसके लिये आगे देवदत्त कवि का विवरण देखिए।

उत्तमदास (उमरावसिंह)—ये 'छंदमहोदधि पिंगल' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के रचयिता हैं। ग्रंथ की पुष्पिका द्वारा इनकी जाति कायस्थ और नाम उमरावसिंह विदित होता है। पिता का नाम धनिलाल था, जो कवि थे। बदाऊँ (वेदामऊ*) में अगरिया नगरी के ये निवासी थे। इनके पिता

* संस्कृत में बदाऊँ का पुराना नाम वोदामयूता था जैसा एक शिलालेख से ज्ञात हुआ है। इस दृष्टि से वेदामऊ इस नाम का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। स्थाननामों में मऊ उत्तरपद की पहचान विशेष ध्यान देने योग्य है। फाफामऊ, भुपियामऊ, इंद्रमऊ, बालामऊ, नानामऊ, बाँगरमऊ आदि प्रसिद्ध हैं। बदाऊँ में मऊ उत्तरपद है। मऊ का पूर्व रूप मयू या मायू ज्ञात होता है। वोदा और मयूता दोनों ग्राम-नाम थे। मयूता नाम मयू से पड़ा ज्ञात होता है। संस्कृत में आप्रीतमायू स्थान-नाम आता है। मायू, मयू संभवतः निषाद भाषा का शब्द था जिसका अर्थ गाँव या बस्ती ज्ञात होता है। फाफामऊ का अर्थ होगा फाफा अर्थात् कोकाबेली के फूलों का गाँव। —वासुदेव शरण

बाहर से बदाऊँ में आए थे। अपने छोटे भाई बसंत राय, जो विद्वान् और प्रसिद्ध व्यक्ति थे, के अनुरोध पर इन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की—

गंगा के तट बसत बदाऊँ प्रसिद्ध नाम ताकौं वेदामऊ हू पंडित बखानत हैं।
चारौं वेद षष्ट सास्त्र अष्टादश पुराणन चतुरदश विद्याहू बाल वृद्ध जानत हैं॥
नारिनर तहाँ के देख परत देवी देव काशी तैं अगरीया नगरी कू मानत हैं।
सुकवि 'उत्तम' जू महिमा नहिं जाय कहि शारद शेष नारद व्यास यौं भानत हैं॥२॥

चित्रगुप्त कुल में भये, कवि धनपति सुज्ञान।
कर्म धर्म गुण सिंधु सो, बसे बदाऊँ आन॥३॥
तिनके उत्तमदास सुत, भयो महा बुधिहीन।
सुजन अजन करये कृपा, जान दास को दीन॥४॥

बसंतराय मौर लघुभ्राता। जासु नाम चहुँ दिशि विख्याता॥
अति गुण ज्ञान शीलनिधि सोई। पूछयौ छंद कौन विधि होई॥

पुष्पिका, जिसमें इनका वास्तविक नाम उमरावसिंह दिया है, इस प्रकार है—

इति श्री वृषभानजारमण चरणारविंद भृंगपानानंदित श्री कवि धनिलाल तस्यात्मज कवि उत्तमदास प्रसिद्धनाम उमरावसिंह छंदमहोदधि नाम विरचिते वर्णछंदस्य नवमो प्रकरणम्।

ग्रंथ का रचनाकाल चौपाई में इस प्रकार दिया है—

संवत ऋतु नभैं रस पाशि मीता। ज्येष्ठ मास रविवार पुनीता॥
शुक्ल त्रयोदसि तिथि शुभ जानी। छंद महोदधि प्रगट्यो आनी॥

इसमें रेखांकित 'पाशि' शब्द स्पष्टतः 'शशि' का अशुद्ध रूप है जो लिपिकार की भूल से हुआ है। अतः इस चौपाई में रचनाकाल के लिये प्रयुक्त संख्यावाची शब्द ऋतु६, नभैं० (नभ), रस और शशि१ हैं। अब यदि 'रस' की संख्या ६ मानें तो संवत् १६०६ होता है। परंतु ग्रंथ की भाषा इतनी प्राचीन नहीं जँचती। इसलिये 'रस' की संख्या ९ मानना उचित है जिसके अनुसार रचनाकाल संवत् १९०६ होता है। ग्रंथ की भाषा को देखते हुए यह ठीक जान पड़ता है।

प्रस्तुत ग्रंथ में नौ प्रकरण हैं जिनमें विषय का पूर्ण वर्णन किया गया है। इसकी प्रस्तुत प्रति सन् १८७७ ई० (संवत् १९३४) में ज्वालाप्रसाद प्रेस, मेरठ से छपी थी।

उदोत कवि—ये कोश विषयक ग्रंथ 'अनेकार्थ मंजरी' के रचयिता हैं। ग्रंथ के अनुसार ये काशी में रहते थे। जन्मस्थान टीकमगढ़-ग्वालियर था। जाति के सनाढ्य (पाठक) ब्राह्मण थे। पिता का नाम स्याम मिश्र (?) था। किसी रामसिंघ ने इनको 'उदोत कवि' की उपाधि दी थी। औरंगजेब बादशाह (राज्यकाल, १७१५-६४ वि०) के समय में वर्तमान और बिहार प्रांत के सूबा श्री वुजुक के मंत्री सथमलराम के पुत्र पूरनमल्ल के आश्रित थे जिनके लिये प्रस्तुत ग्रंथ की रचना हुई। बिहार के पटना नगर के लिये इन्होंने लिखा है कि उसके समान दूसरा नगर न था—

वत्तमान रज राज को, भूप चकत्ता वीर।
पातसाह दिल्ली तषत, राजत आलमगीर ॥२०॥
दई जेव जिनि जगत को, औरंगसाहि दिलीप।
सप्तदीप नवषंड को, सेवत सदा महीप ॥२१॥
साहि आलिमगीर की, सब्र देषी बुधिवान।
पूरब पट्टन सो दुसरो, नगर न देखो आन ॥२२॥
सुबा सरस विहार में, श्री वुजुक उमेद।
वेद पुरान कुरान के, जानै बहु विधि वेद (? भेद) ॥२३॥
तिनके सथमलराम जू, मंत्री मंत्र प्रवीन।
पूरनमल सथमल तनय, राजत नवल नवीन ॥२४॥
बुधिवर सुकवि 'उदोत' सों, कीन्हीं कृपा अपार।
अनेकार्थ भाषा रच्यौ, करिकै विविध विचार ॥२५॥
ग्रंथ सुने ते पूछिहैं, कौन सुकवि 'उदोत'।
रस जस कविता के सुने, तन मन आनंद होत ॥२६॥

कासी बसियत सुरसरि के तीर समीप निजु वतन टीकमगढ़ ग्यारियर गाउ है।
परम पवित्र पति पाठष हमारी अल्ल जाहिर जगत देस देस ठाउ ठाउ है।
गीरवान वानी विदित षट दरसन भाया कविताई सदा सहज सुभाउ है।
नंद स्याम मिश्र के सनावढ़ सुकवि मनि दीनो रामसिंघ को 'उदोत' कवि नाउ है ॥२७॥

ग्रंथ की प्रस्तुत प्रति में रचनाकाल और लिपिकाल नहीं दिए हैं तथा आरंभ में यह खंडित है।

कासीदास (जैन)—ये 'भाषा सम्यक्त कौमुदी' के रचयिता हैं। ग्रंथ में इन्होंने अपना विस्तृत परिचय दिया है जिसके अनुसार ये आगरा के रहनेवाले

थे। कोई जगतराइ इनका आश्रयदाता था जिनको इन्होंने राजा कहा है, तथा जिनका परिचय इस प्रकार दिया है—

माईदास सिंघल गोत्र के अग्रवाल वैश्य थे। इनकी स्त्री लक्ष्मी तुल्य थी जिसके उदर से रामचंद और नंदलाल नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। ये शहर गुहाणा के निवासी थे। रामचंद के पुत्र जगतराइ हुए जिनके लिये प्रस्तुत ग्रंथ की रचना हुई। जगतराइ के टेकचंद नामक पुत्र थे। ये सब लोग जैनी थे।

इन्होंने औरंगजेब का भी उल्लेख किया है जिसने अपने पिता (शाहजहाँ) के जीवित रहते ही राज्य ले लिया था। शाहजहाँ को विधाता ने जीवित ही मृत रूप (गतरूप) कर दिया था। विदित होता है कि औरंगजेब से रचयिता को अच्छा सम्मान प्राप्त था। निम्नलिखित चौपाई से ऐसा संकेत मिलता है—'तासु प्रसादि भई यह सही। ईति भीति कोई ब्यापी नहीं॥'

ग्रंथ में अनेक जैन भक्तों की रोचक कथाओं का वर्णन है, अतः जैन कथा-साहित्य की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है। रचनाकाल संवत् १७२२ वि० है जो इस प्रकार दिया है—

विक्रमार्क संवत तैं जानि। सत्रह सै वाईस (ब) षानि॥
माधवमास उजियारौ सही। तिथि तेरसि भू सुत सौं लही॥८४॥
ता दिन ग्रंथ संपूरण भयौ। समकित ज्ञान सफल तरु बयौ॥

ग्रंथ की प्रस्तुत प्रति का लिपिकाल संवत् १९०४ है। रचना दोहे-चौपाइयों में है तथा कविता ललित और प्रसाद-गुण-युक्त है।

कीर्तिकेशव या केशवकीर्ति—इनके रचे हुए 'सखीसमाज नाटक' के विवरण लिए गए हैं जिसमें नायक और नायिका विशेषकर कृष्ण और राधा के सखा और सखियों का विस्तृत वर्णन है। रचनाकाल नहीं दिया है। लिपिकाल संवत् १७६० वि० है, इससे रचना और पुरानी होनी चाहिए। 'नाटक' नामधारी होने पर भी यह ठीक नाटक ग्रंथ नहीं है, क्योंकि नाटक का इसमें कोई लक्षण नहीं। सखा और सखियों का वर्णन हिंदी के रीतिग्रंथों में देखने को नहीं मिलता, अतः इसका संबंध राधा-कृष्ण की लीलाओं से ही अधिक है। ग्रंथ में इसके रचने का एक विचित्र प्रसंग दिया है जो इस प्रकार है—

"रचयिता को वृंदावन में एक स्वप्न हुआ जिसमें श्रीकृष्ण और गोपियों की रासक्रीड़ा का दृश्य उन्हें दिखाई दिया। उसमें सरस्वती वीणा का साज सज रही

थीं और केशवदास (महाकवि केशवदास) ताल दे रहे थे। इसी बीच केशवदास ने रचयिता से कहा कि उन्होंने यद्यपि सुंदर पोथियों की रचनाएँ कीं जिन्हें चारों ओर के नर और नरेश पढ़ते हैं, परंतु उनमें सखीसमाज (सखा और सखियों) का वर्णन न होने से उनके मन में आशंका रहती है। गृह और उपवन में किन-किन सखियों और सखाओं के क्या-क्या कर्म हैं, इनका ध्यान करके वर्णन करो। इसी प्रकार रचयिता को लगातार सात दिन तक स्वप्न होता रहा जिसपर विश्वास कर इन्होंने दो अध्याय (प्रभाव) उस विषय पर रचे।'

ग्रंथारंभ में दो अध्यायों (प्रभावों) का उल्लेख है और अंत में सोलह अध्यायों का। अंत का दोहा जिसमें सोलह अध्यायों का उल्लेख है, त्रुटित है।

रचयिता के संबंध में इतना ही पता चलता है कि इनका नाम कीर्ति मिश्र, कीर्तिकेशव या केशवकीर्ति था। जैसा उपर्युक्त स्वप्न-प्रसंग से पता चलता है, ये वृंदावन में रहते थे। पुष्पिका में इन्हें महाराज कहा गया है, अतः संभव है ये कोई राजा अथवा कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति रहे हों—

इति मन्महाराज केशवकीर्ति विरचितायां............संवत् १७६० वर्षे

गिरिधारी—इनके रचे हुए दो ग्रंथों, 'सुदामाचरित' और 'भागवत दशमस्कंध या गिरिधारी काव्य' के विवरण लिए गए हैं। रचनाकाल इनमें से किसी में नहीं दिए हैं। लिपिकाल 'सुदामाचरित' में संवत् १९९५ दिया है और 'भागवत दशमस्कंध' की तीन प्रतियों में, जो इस बार मिली हैं, क्रमशः संवत् १६११, १९९५ और १६६६ हैं। इनका विषय इनके नामों से ही स्पष्ट है। काव्य की दृष्टि से ये रचनाएँ उत्तम हैं।

इन पुस्तकों में ग्रंथकार का कोई वृत्त नहीं मिला, किंतु अन्वेषक द्वारा पूछताछ करने पर पता चला कि ये रायबरेली जिले के अंतर्गत लालगंज स्थान के समीप सातनपुर ग्राम में निवास करते थे। यहाँ इनके एक वृद्ध वंशधर पं० रामरतन दुबे जो अपने को ८५ वर्ष के बतलाते हैं, अभी तक विद्यमान हैं। उनके कथनानुसार इनकी वंशावली इस प्रकार है—

गिरिधारीलाल दुबे (प्रस्तुत कवि)
|
सहाई
|
बिंदाप्रसाद
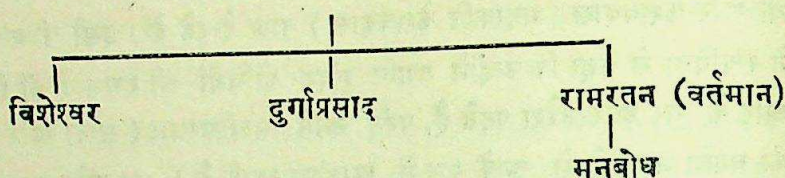
पं० रामरतन जी दुबे का कहना है कि एक दिन गिरिधारी और उनके पिता में कुछ कहा-सुनी हो गई, जिसपर गिरिधारी रूठकर गाँव के समीप एक इमली के पेड़ के नीचे चले गए। वहाँ उन्हें निद्रा आ गई। स्वप्न में देवी ने दर्शन देकर काव्य करने को कहा, अतः तब से काव्य करने लगे। ये अंधे थे और लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे; परंतु कवि के अतिरिक्त ये उच्च कोटि के भक्त भी थे।

उक्त विवरण की पुष्टि गाँव के सुशिक्षित लोग भी करते हैं। उनका यह भी कहना है कि प्रस्तुत रचनाओं के अतिरिक्त रचयिता ने 'रसमसाल' ग्रंथ और अनेक पद भी रचे हैं। रायबरेली के दक्षिण-पश्चिम भाग में इस कवि की विशेष चर्चा रहती है। वहीं कवि का निवासस्थान भी था। इनके प्रस्तुत ग्रंथों को पढ़ने से विदित होता है कि ये निस्संदेह एक प्रतिभावान् कवि थे।

शिवसिंह-सरोज, पृष्ठ ४०४ में इनके संबंध में इस प्रकार लिखा है—
'गिरिधारी ब्राह्मण बैसवारा गाँव सातनपुरवा वाले। संवत् १६०४ में उ०। इनकी कविता या तो श्रीकृष्णचंद्र की लीला संबंधी है या शांत रस की। यह कवि पढ़े बहुत न थे। परंतु ईश्वर के अनुग्रह से कविता सुंदर रचते थे।'

इनके दो कवित्त उद्धृत किए जाते हैं—

परम विचित्र बालपन के चरित देषि अद्भुत गति बृजपति की न भाखी जात।
कहै 'गिरिधारी' जगभारहि संभान्यो जेहि तासों तन कुलही झंगूली नहीं राखी जात।
मीठ मान सेवरी के जूठे फल चाख्यो जेहि तासों नवनीत गौ पुनीत नाहिं चाखी जात।
तीनिये चरन करि तीनो पुर माप्यो जेहि तासों नंद मंदिर की देहरी न नांघी जात॥

बाजै मंजु पायन की घूँघरू जरायन की लटें घुघुवारि घन कारि दुति गात की।
कहै 'गिरिधारी' मन बसनि हँसनि लसि किलकनि तैसी चारु चिलकनि दाँत की।
श्याम डगमगे पग भू पर धरत जात घरे कर खाशी लवंलाशी महावात की।
शीश धरे कुलही झंगूली धरै अंगन पै मंद मंद चलन अँगूरि धरै मात की॥

—भागवत दशमस्कंध

चतुर्भुज—इनकी पिंगल विषयक एक रचना का केवल आरंभ का एक पत्र मिला है, जिसके द्वारा न तो रचना का नाम, न रचनाकाल और न लिपिकाल का ही पता चलता है। परंतु इसमें इनका और इनके आश्रयदाता अकबर बादशाह का उल्लेख होने से यह महत्त्वपूर्ण जँची, इसलिये इसके विवरण लिए गए हैं। इससे अकबर बादशाह के समकालीन (संवत् १६१३-१६३२ वि०) और उसके आश्रय में रहनेवाले एक और कवि का पता चला।

रचयिता ने अकबर बादशाह के जगद्गुरु होने का उल्लेख किया है, जिससे उसके दीने-इलाही मत का पता चलता है—

'अकबरसाहि जगतगुरु मानहु। इहइ बात मनहि अनुमानहु ॥'

यह प्रसिद्ध है कि अकबर बादशाह ने अपने को जगद्गुरु मानकर दीने-इलाही मत का प्रचार करना चाहा था, परंतु स्वयं उसके दरबार के कुछ व्यक्तियों को छोड़कर अन्यत्र इसे मान्यता न मिल सकी।

प्रस्तुत रचना अकबर बादशाह के ही आदेश से रची गई थी। इसमें पिंगल के प्राचीन छः आचार्यों—शंभु, भरत, सैतव, गरुड़, कश्यप और शेष—का उल्लेख भी हुआ है जिनके ग्रंथों के आधार पर यह तैयार की गई—

अकबर साहि प्रवीण भुअ, कह्यौ कहहु सब छंद।
सुगम होहिं महि मंडलह, पढतहि बढ़त अनंद ॥३॥
चतुर 'चतुर्भुज' सुनत यह, कह्यो बुद्धि अनुमान।
सुनहु साधु सब सुचित होइ, करउ ग्रंथ सनमान ॥४॥
संभु भरत सैतव गरुड़, कश्यप सेसु विचारि।
षट् पिंग ए विदिअ भुअ, कहौव तिन्हहि निहारि ॥५॥

'विदिअ' (विदित) और 'भुअ' (भूप) जैसे अपभ्रंश शब्दों से ग्रंथ की भाषा की प्राचीनता स्पष्ट है।

चेतनदास—इनकी रची हुई 'प्रसंगपारिजात' नामक एक रचना के विवरण लिए गए हैं जो अपने विषय की एक विलक्षण कृति है। इसकी रचना बाड़ी प्राकृत (देशबाड़ी प्राकृत) में पिशाच भाषा के सांकेतिक शब्दों की सहायता से अदणा छंदों में हुई है। इसमें स्वामी रामानंद का समस्त जीवनवृत्त दिया है। रचनाकाल संवत् १५१७ है, और लिपिकाल संवत् १६९७ वि०।

रचनाकाल इस प्रकार दिया है—

वास सिव आसिण वुगी। दिति और साहित मिह चुगी ॥
छुपसंग पारीजातुगी । हिहपेथु राम चु पालुगी ॥

ज्ञान-भूमिका७ चंद१ शिव-मुख ५ सच्चिदानंद१ अर्थात् १५१७ (पंद्रह सौ सतरह) गुर जन्मदिन माघ कृष्ण सप्तमी गुरुवार को यह प्रसंगपारिजात रामनाम लेकर समाप्त हुआ।

इस ग्रंथ के विषय में श्री शंकरदयालु श्रीवास्तव एम० ए० का एक लेख 'विशाल भारत' (नवंबर १९३२ ई०, भाग १० अंक ५) में छपा है जिसका उल्लेख डा० बड़थ्वाल ने दिल्ली-रिपोर्ट (पृष्ठ ८) में स्वामी रामानंदकृत 'ज्ञानतिलक' के प्रसंग में किया है। अब यह ग्रंथ अयोध्या से छपकर प्रकाशित हो गया है। इसकी प्रामाणिकता संदेहास्पद है। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिंदी साहित्य' में इसे जाल माना है।

जानकीबाई—इनकी दो रचनाएँ 'जानकीप्रकाश' और 'जानकी-प्रकाशिका' नाम से मिली हैं। प्रथम में व्याकरण विषय का वर्णन है और दूसरी में गीता की टीका है। ये दोनों संवत् १९३५ की छपी हुई हैं। इनका रचनाकाल भी, जो दिया नहीं है, लगभग यही संवत् समझना चाहिए। दूसरी रचना की पुष्पिका के अनुसार लेखिका, जो परम विरक्ता और श्री वैष्णव संप्रदाय की थीं, वृंदावन में निवास करती थीं। इस पुष्पिका से यह भी अनुमान होता है कि पुस्तक छपवाने के उद्देश्य से प्रस्तुत कराई गई थी। इनका अन्य विवरण उपलब्ध नहीं। जानकी-प्रकाशिका की पुष्पिका इस प्रकार है—

इति श्री जानकीबाई परम विरक्त श्री वैष्णव की बनाई हुई श्री भगवतगीता उपनिषदों की टीका जानिकाप्रकाशिका में अट्ठारवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१८॥ हस्ताक्षर प्यारे लाल सर्वानंद सिद्धांती संवत् १९३५ ॥ इस पते से यह पोथी मिलेगी श्री वृंदावनचंद्र परमधाम में जहाँ जानकीबाई का निवास है अठखम्बा बाजार चौक में लाला मक्खनलाल सराफ की दुकान पर मिलेगी मोल २) जानकीबाई बे मोल देगी ॥

तारानाथ—इनका संगीत विषय पर रचा हुआ 'रागमाला' नाम का ग्रंथ मिला है जिसकी एक प्रति के विवरण लिए गए है। इसमें छः राग और तीस रागिनियों के वर्णन हैं। प्रत्येक राग की पाँच पाँच भार्याएँ बतलाई गई हैं। रचनाकाल और लिपिकाल अज्ञात हैं। पुष्पिका के अनुसार रचयिता संभवतः सुप्रसिद्ध कवि नरहरि (अकबर के दरबारी) के कुल के थे—

इति श्री मन्महाराजधिराज रामसिंह प्रोत्साहिते नरहरिकुल प्रसून तारानाथ विरचितायां मेघनार्य्य निरुपणी ॥ शुभम् ॥

ये जयपुर के महाराज रामसिंह के दरबार में रहते थे और उन्हीं की प्रेरणा से उन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की। आश्रयदाता के कुल का संबंध इन्होंने महाराज रामचंद्र के पुत्र कुश से जोड़ा है—

लीन्हों सूर्ज वंश में, रामचंद्र औतार।
निश्चर कटक संघारि कै, हर्‍यो धरनि को भार॥
ताको पुत्र प्रसिद्ध जग, कुस नृप परम प्रधान।
दीन्हों ताहि कुशावती, रामदेव भगवान॥
ताके कुल में प्रकट भे, कछवार रनधीर।
श्रीभगवंत नरेशमनि, सागर सम गंभीर॥
मानसिंह ताको तनय, भयो अखंड प्रताप।
धोयो षड्ग समुद्र मह, मेट्यो अरि को दाप॥५॥
'जगतसिंह' ताको सुवन, अति प्रचंड भुजदंड॥
जीत्यो फोज इरान की, लीन्हो बहु विधि दंड॥
महासिंघ जू तासु सुत, दाता ज्ञाता वीर।
नृप जाहिर रनभूमि में, अरिगन धरत न धीर॥
ताको सुत 'जयसिंह नृप', सकल गुणन को धाम।
लियो सवाई को बिरद, जीति दुष्ट संग्राम॥
रामसिंह ताको तनय, दाता शील समुद्र।
जाकी धाक प्रचंड ते, रहे न अरिगन छुद्र॥
औरंगजेब उदार बल, दिल्ली को औनीश।
देखत जाके त्रास ते, तुरत नवावै शीश॥
यों नृप तारानाथ सों, भाष्यो प्रेम बढ़ाय।
रुचिर रागमाला हमें, दीजै सुकवि बनाय॥११॥

महाराजा रामसिंह का राज्यकाल संवत् १७२३-३२ माना जाता है, अतः इसी समय के लगभग रचयिता का वर्तमान होना समझना चाहिए। इनकी प्रस्तुत रचना विषय की दृष्टि से उत्तम है। इसमें राग के लक्षण, उसके गाने के समय और उसके स्वरूप आदि का ठीक ठीक वर्णन किया गया है।

देवदत कवि जैन—ये 'उत्तरपुराण' के रचयिता हैं। ग्रंथ के अनुसार इनका निवास-स्थान अटेर था और ये दीक्षित ब्राह्मण थे। एक जैन भट्टारक

जिन इंद्रभूषण के कहने पर इन्होंने प्रस्तुत रचना की। समय इनका अज्ञात है, पर भट्टारक जिन इंद्रभूषण ने इंद्रजीत (इनका उल्लेख पीछे हो चुका है) नामक एक अन्य कवि से भी इस पुराण की कुछ कथाओं का अनुवाद करने के लिये कहा था, जिसपर उक्त कवि ने संवत् १८४० में उन कथाओं का अनुवाद किया। अतएव प्रस्तुत रचयिता का भी यही समय मानना उचित है, यद्यपि लखनऊ के प्रसिद्ध जैन विद्वान् श्री ज्योतिप्रसाद जी जैन इससे सहमत नहीं हैं। उनके विचार से देवदत्त संवत् १७५० के लगभग वर्तमान थे। अस्तु।

प्रस्तुत ग्रंथ में केवल आठ तीर्थंकरों—अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनंदन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, पार्श्वनाथ, चंद्रप्रभुनाथ और महावीर स्वामी—की कथाओं का वर्णन है। यह दोहे-चौपाइयों में रचा गया है। रचनाकाल नहीं दिया है। लिपिकाल संवत् १८६७ दिया है। मूल ग्रंथ संस्कृत में है जिसको पहले जिनसेनाचार्य ने लिखना आरंभ किया था; परंतु आदिनाथ-चरित्र लिखने के पश्चात् उनका देहांत हो गया, पीछे गुणभद्राचार्य ने उसको पूरा किया।

इनकी कविता उत्तम और प्रसाद-गुण-संपन्न है। प्रस्तुत ग्रंथ इन्होंने बहुत-कुछ स्वतंत्र रूप से रचा है। मूल ग्रंथ की केवल छाया मात्र ली है—

> आदि पुरान पुरान सिरोमनि सो जिनसेन रच्यो सुभ अंका।
> उक्ति सजुक्ति मई बहुरत्न भरे गुन जोति महा अकलंका।
> छाया कछू अब ताकी लये सुठि सत्तर ग्रंथ रचौं तजि संका।
> छाया परै सुचरित्र धनीनु की होवु धनीयैं प्रसिद्ध जो रंका॥ २०॥

देवीदास कायस्थ—इन्होंने दो फारसी ग्रंथों, 'करीमा' और 'मामकीमा', का हिंदी में पद्यानुवाद किया है। इनमें भगवत्प्रेम का बड़ा सुंदर वर्णन है। दोनों अनुवाद एक ही हस्तलेख में हैं, जो संवत् १९०६ का लिखा हुआ है। रचनाकाल किसी में नहीं दिया है। मूल ग्रंथ फारसी साहित्य में प्रसिद्ध हैं, जिनके रचयिता क्रमशः शेख सादी और अलाउद्दीन अवधी हैं। प्रस्तुत अनुवाद भी बहुत-कुछ सरस और उत्तम हैं। इनकी पुष्पिकाओं द्वारा रचयिता के संबंध में इतना ही पता चलता है कि ये जाति के कायस्थ थे और गाजीपुर इनका निवास-स्थान था—

......व तशनिफ हजरत मखदूम शेखसादी शीराजी की देवीदास कायस्थ हिंदी तब तवाश तुफ्ता.........संवत् १९०६ मिति भादो बदी सत्तमी

मामकीमा मिन तशनिफ अल्लाउद्दीन अवधी कि तवतवाश देवीदास कायस्थ गाजीपुरी हिंदी बयान करदा......संवत् १६०६.........

धर्मदास—पैशाची भाषा में रची हुई इनकी 'विदग्ध-मुख-मंडन' नामक रचना के विवरण लिए गए हैं। यह खंडित है और इसके केवल दो ही पन्ने उपलब्ध हो सके हैं जिनमें न तो रचनाकाल का ही उल्लेख है और न लिपिकाल का ही। विषय भी इसका ठीक ठीक ज्ञात नहीं होता। पढ़ने से यह कोई अलंकार का ग्रंथ जान पड़ता है। पैशाची भाषा का ग्रंथ होने के कारण ही इसका विवरण लिया गया है। रचयिता का पुष्पिका में दिए हुए नाम के अतिरिक्त और कोई पता नहीं चलता—"इति श्री धर्मदास कृते विदग्धमुखमंडने तृतीय परिछेद:"। ग्रंथ से कुछ उद्धरण दिए जाते हैं—

गुणरुरखो घर घर चलइ सयल पियारी जि मनवु वैरी लोय हुणारी। खनि वद्दइ मुधइ खणि एकल्लीत हनहि जह जाइन पिल्ली ८

पासासारि प्रहेलिका जातिः......

× × ×

नलकल केहिं शुद्ध मागधिकम वैरी पुछइ ककणेराञ्चति किसणोर खाणे केहिं कन्नहि विन केहिं सोभं समप्पं तिनि हितं कयाइंपि ७०

नंद या नंदलाल—इनके दो ग्रंथों, 'सुदर्शनचरित्र' और 'यशोधरचरित्र' का पता चला है। इनमें क्रमशः जैन धर्मानुयायी सुदर्शन सेठ और यशोधर के चरित्रों का वर्णन है। प्रथम ग्रंथ का रचनाकाल संवत् १६६३ है—

संवत सोरह से उपरंत। त्रेसठि जानहु वरिष महंत ॥६॥
माघ उज्यारे पाष, गुरुवासर दिन पंचमी।
वंधि चोपही भाष, नंद करी मति सारशी ॥७॥

दूसरे ग्रंथ का रचनाकाल संवत् १६७० है—

संवत् सोरशे अधिक, सत्तरि शावन मास।
सुकुल सोम दिन सत्तमी, कही कथा मृदुभास ॥६॥

लिपिकाल दोनों ग्रंथों का अज्ञात है।

रचयिता जैन धर्मानुयायी और आगरा के निवासी थे। गुरु का नाम त्रिभुवनकीर्ति था जो काम का नाश करनेवाले सुखेमकीर्ति के शिष्य थे। सुखेम-कीर्ति के गुरु का नाम भट्टारक जसकीर्ति था। रचयिता ने आगरा की बड़ी प्रशंसा

की है। उस समय जहाँगीर बादशाह का राज्य था जो आगरा में ही रहते थे। बड़े-बड़े धनाढ्यों का वहाँ निवास था। वहाँ के लोगों की भाव-भाषा अच्छी थी और वे गुणियों से प्रीति करते थे, आदि। दूसरे ग्रंथ के अनुसार ये गोइल गोत्र और अग्रवाल जाति के थे। पिता का नाम भैरों और माता का नाम चंदन था—

गणधर पद पावन गुन कंद। भट्टारक जशकीर्ति मुनिंद।
ता पट प्रगट महि मे जसु जासु। लीला कियो मदन को नासु ॥११॥
नाम सुषेम कीर्ति मुनिराइ। जाके नाम दुरित छय जाइ ॥
तासु पद श्रुत सागर पार। त्रिभुवनकीर्ति कीर्ति विस्तारु ॥१२॥
तासु समीप सुमति कछु लई। उकति बुद्धि मेरे मन भई ॥
नैना नंदि आदि जो कही। ताहि विधि बांध्यो चोपही ॥१३॥

× × ×

अगम आगरो पवरु परु, उट (? उच्च या ऊँच) कोट प्रासाद।
तरे तरंगिनि नदि बहे, नीर अमी सम स्वादु ॥५०॥
भाषाभाउ भली जह रीति। पालहि बहुत गुनिन सो प्रीति ॥
नागर नगर लोग सब सुषी। पर पीरक ते कर्म्म से दुषी ॥५०२॥
घनकन पूरन तुंग अवासु। वसहिं निसंक धर्म्म के दास ॥
छत्राधीश हमाऊ वंश। अकबर नंद बैरि विध्वंस ॥३॥
तषत बषत पूरो परचंड। सुर नर वस नृप मानहि दंड ॥
नाम काम गुन आनन वियो। रचि पचि आपु विधातां कियो ॥४॥
जहांगीर उपमा देऊ काहि। श्री सुलितान नूरंदी साहि ॥
कोश देश मंत्री मति गूढ़। छत्र चमर सिंवासन रूढ़ ॥५॥
करे असीस प्रजा सब ताहि। गुन वरने सु इती मति काहि ॥

—सुदर्शन-चरित्र

× × ×

अरिल्ल—अगरवाल वर वंश गौ सुना गाँव कौ।
गोइल गोत प्रसिद्ध चिन्ह ता ठांव कौ ॥
मातहि चंदन नाम पिता भयरौ भन्यो ॥ परिहाँ ॥
'नंद' कही मनमोद गुनी गन ना गन्यो ॥७॥

—जसोधर-चरित्र

परमाणंद—ये "ओषाहरण" (ऊषाहरण) नामक रचना के रचयिता हैं। रचना का विषय हरिवंश पुराण के आधार पर ऊषा-अनिरुद्ध-विवाह का वर्णन है। रचनाकाल संवत् १५१२ दिया है और लिपिकाल संवत् १९१३ वि०। रचनाकाल का उल्लेख इस प्रकार है—

संवत पनर बारमा अने मास कारतीक जाणय।
अष्टमी नेखी वारे ग्रंथ संपुरण प्रमाण ॥१८॥

रचना प्राचीन होने के कारण महत्त्वपूर्ण है। यह पच्छिमी राजस्थानी में लिखी हुई है जिसमें गुजराती शब्दों का भी समावेश पाया जाता है। रचयिता ब्राह्मण वर्ण के थे और बड़ोदा में निवास करते थे—

बड़ोदरा मा छे वीप्र प्रमाणद हरी नो दास।
एकचीते साभले मन धरी विश्वास ॥१९॥

पानपदास—इनकी निम्नलिखित आठ रचनाएँ मिली हैं; परंतु उनमें न तो रचनाकाल और लिपिकाल ही दिए हैं और न इनका कोई परिचय ही। फिर भी उनके द्वारा ये एक प्रौढ़ विचारक और पहुँचे हुए संत (निर्गुणमार्गी) विदित होते हैं। हिंदू-मुसलमानों के द्वंद्व के विषय में इन्होंने भी संतजनोचित विचार प्रकट किए हैं। रचनाएँ इस प्रकार हैं—

(१) इश्कगर्क ग्रंथ—रचनाकाल-लिपिकाल अज्ञात। विषय भक्ति और ज्ञानोपदेश। इसमें फारसी शब्दों का बाहुल्य है।

(२) कड़खे—रचनाकाल-लिपिकाल अज्ञात। विषय निर्गुण भक्ति का वर्णन।

(३) पद—रचनाकाल-लिपिकाल अविदित। विषय निर्गुण-भक्ति।

(४) पदावली—रचनाकाल-लिपिकाल अज्ञात। विषय भक्ति और ज्ञानोपदेश।

(५) वाणी या शब्दी—रचनाकाल और लिपिकाल अज्ञात। विषय भक्ति और ज्ञानपदेश।

(६) शब्द—रचनाकाल-लिपिकाल अज्ञात। विषय चेतावनी और उपदेश।

(७) सोरठे—रचनाकाल और लिपिकाल अविदित। विषय ब्रह्मज्ञान।

(८) होली—रचनाकाल-लिपिकाल अज्ञात। विषय, ज्ञानोपदेश।

प्रथम रचना से विदित होता है कि ये फारसी के भी ज्ञाता थे। डा० बड़थ्वाल कृत 'हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय' नामक पुस्तक में इनका उल्लेख है

जिसके अनुसार ये नगीना धामपुर (बिजनौर जिला) के रहनेवाले थे। इन्होंने अपने नाम से पानपदासी पंथ चलाया था। इनकी और कबीर की रचनाएँ पंथवालों में बड़ी श्रद्धा से पढ़ी जाती हैं। संभवतः विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में वर्तमान थे।

पुरंदर कवि—इनका अब तक नाम ही सुनने में आता था, पर इस बार "रघुराज-विनोद" नाम से इनके एक मुद्रित ग्रंथ के विवरण लिए गए हैं। इसमें रीवाँ के सुप्रसिद्ध महाराज रघुराजसिंह और जयपुर तथा जोधपुर के राजाओं के यश-वर्णन के अतिरिक्त चित्र, पहेली और देव विषयक रचनाएँ हैं। ग्रंथ द्वारा इनके संबंध में यह विदित होता है कि ये रीवाँ के राजा विश्वनाथसिंह के कार्य से जयपुर में रहते थे। संवत् १६१० में ये राजा रघुराजसिंह के विवाह में रीवाँ आए जहाँ इनका सम्मान पहले से भी अधिक गुरु के रूप में हुआ। राजा रघुराजसिंह ने उनको मित्र तुल्य अपने पास रखा और पुरस्कार में रहट नाम का ग्राम दिया तथा जयपुर एवं जोधपुर के राजाओं द्वारा इनका सम्मान करवाया।

प्रियादास—इन्होंने मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों के आधार पर 'व्यवहार-पाद' नामक एक बृहद् एवं महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की जिसमें व्यवहार-धर्म का विवेचन किया गया है। इसकी एक विशेषता यह है कि यह गद्य में लिखा हुआ है। रचनाकाल नहीं दिया है। लिपिकाल संवत् १६०४ है, और संभवतः यही रचनाकाल भी है। पुष्पिका इस प्रकार है—"इति मिति पुस वदि १३ भौमे का सः १६०४ के साल"। गद्य इस प्रकार है—

॥ अथ मनु याज्ञवल्क्यानुसारेण व्यवहारपादो निरूप्यते ॥

राज्याभिषेक जुक्त जो है राजा ताकों प्रजापालन परम धर्म है सो प्रजापालन धर्म विना दुष्ट को दंड दीन्हे नहीं है सकै औ दुष्ट सुष्ट विना व्यवहार देषे नही जानि परै तेहि ते पंडितन को लैकें राजा रोजरोज व्यवहार देषै व्यवहार कौन कहावै की दुइ वादी वाद करत है, तौने मा जो झूँठ कहत है तौने को निरनै करिकै जौन साच कहत है तौने को स्थापन करब सो व्यवहार धर्मसास्त्र के अनुसारते क्रोध लोभ ते विवर्जित ह्वै कै राजा देषै इहां क्रोध ते विवर्जित कहिनि तेहिते मत्सर मद ई ई आइगे औ लोभ ते विवर्जित कहिनि तेहिं ते काम मोह यहौ आइगे ॥ १ ॥

बख्तावर सिंह की स्त्री (? सुखदानि)—ये अयोध्यानरेश महाराज बख्तावरसिंह की रानी थीं। इन्होंने संवत् १८८८ में बद्रीनाथ की यात्रा की

थी जिसमें इन्हें तीन मास और एक दिन लगा था, तथा जिसका इन्होंने 'बद्री-यात्रा कथा' नामक एक पुस्तक में पद्यबद्ध वर्णन किया है। यात्रा-विवरण की दृष्टि से पुस्तक महत्त्वपूर्ण है। इसकी प्रस्तुत प्रति खंडित है जिससे लिपिकाल का कोई पता नहीं चलता।

ग्रंथारंभ में रचयिता का नाम 'निज' लिखा है, यथा—'बदरी जात्रा कथा "निजकृत" लिख्यते।' परंतु यह 'निज' शब्द रचयित्री ने स्वयं अपने लिये प्रयुक्त किया है, क्योंकि वे स्वयं महाराज (अपने पति) की पद-वंदना करती हैं—

महाराज पद वंदौ, जासु धर्म औतार।
धर्म मूर्ति दाता परम, जस गावत संसार ॥ २ ॥

दूसरा कोई रचयिता अपने आश्रयदाता के पदों की इस प्रकार वंदना नहीं कर सकता। निम्नलिखित दूसरे दोहे के पूर्वपद में आया 'सुखदानि' शब्द रानी का नाम विदित होता है। कविता का नमूना इस प्रकार है—

महाराज भूपाल मनि, महिपालन के ईस।
नृप बखतावरसिंह जेहि, नावहि महिपति सीस ॥
तासु रानि 'सुषदानि' जग, जात्रा कीन्ह उदार।
हरद्वार की मगकथा वरनौ हित संसार ॥ ५ ॥
फागुन सुक्ल एकादसी चंद्रवार रुष ...
वसु वसु नाग इंदु को सम्वत् करहि विचार ॥ ६ ॥
गंगा जी की मदत पर, कीन्हो पृथग ...
माश रोज की मंजिल, पाचो सवन ... ॥ ७ ॥

× × ×

दीप वेद कर कोस मग, बदरी पुरी औसेस।
करि दरस भगवान के, कीन्हौ भवन प्रवेश ॥
लोक मास ब्रह्मंड दिन, लागे आवत जात।
कीन्हौ दरशन प्रीति जुत, पुलकि ... ... ॥

भगनदास—ये जाति के क्षत्रिय और आपापंथी साधु थे। गुरु का नाम गूंगदास था जिनकी कुटी (कुटी गूंगदास, पँचपेड़वा, जिला गोंडा) के ये महंत थे। उक्त कुटी के वर्तमान महंत श्री अज्ञारामदास जी ने इनकी और अपनी गुरु-परंपरा इस प्रकार दी है—

मुन्नादास—ऊधोदास—गुंगदास—फकीरदास—भगनदास (रचयिता)—परशुरामदास—शत्रुहनदास—लछमणदास—तिलंगादास—संगमदास—रामपुलदास—अज्ञारामदास (वर्तमान महंत)।

आपापंथियों का प्रधान स्थान उक्त महंत के कथनानुसार मंडवा, जिला खीरी है। अन्य वृत्त नहीं मिलता। रचयिता की पाँच रचनाएँ मिली हैं, जिनका विवरण विषय, रचनाकाल और लिपिकाल के क्रम से नीचे दिया जाता है—

(१) गुरुगोष्ठी (पवनगुंजार)—रचनाकाल अज्ञात, लिपिकाल संवत् १८६४ वि०। विषय भक्ति और ज्ञानोपदेश।

(२) गुरुमहिमा—रचनाकाल अज्ञात। लिपिकाल संवत् १८७६। विषय गुरु का माहात्म्य-वर्णन।

(३) नामनिधि—रचनाकाल अप्राप्त, लिपिकाल संवत् १८७६। विषय नाम माहात्म्य। यह पूर्वग्रंथ के साथ एक हस्तलेख में है।

(४) भँवरगुंजार—रचनाकाल अविदित। लिपिकाल संवत् १८९४। विषय भक्ति और ज्ञानोपदेश।

(५) शब्द गुंजार—रचनाकाल अप्राप्त। लिपिकाल संवत् १८८४। विषय भक्ति-ज्ञानोपदेश।

ग्रंथों के लिपिकालों को देखने से पता चलता है कि रचयिता संवत् १८७६ के पहले वर्तमान थे।

आपापंथियों को भी निर्गुणमार्गी संतों की तरह ही समझना चाहिए। इनके भाव, भाषा, शैली और सिद्धांत उन्हीं से मेल खाते हैं।

मदन साहब—इनकी दो रचनाएँ 'नामप्रकाश' और 'साखी शब्द' मिली हैं, जिनके विवरण लिए गए हैं। इनके अनुसार ये कबीर-परंपरा के कोई संत थे। गुरु का नाम राधापति था। अन्य वृत्त अज्ञात है। परंतु प्रथम ग्रंथ (नामप्रकाश) के स्वामी (श्री जगन्नाथदास जी, मठाधीश, मठ, बनकेगाँव, डाकघर कादीपुर, जिला सुलतानपुर) के कथनानुसार ये वही मदन साहब हैं, जिन्होंने मदनपंथ की स्थापना की। यह पंथ कबीरपंथ के ही अंतर्गत है, और इसकी कुछ गद्दियाँ करिया वजना(?), कुंडवार (सुलतानपुर) और अमरगढ़ (प्रतापगढ़) आदि स्थानों में हैं।

प्रस्तुत त्रिवर्षी में मोहनलाल (देखिए विवरणिका, सं० ३११) नामक एक व्यक्ति की लिखी 'गुरुप्रनाली' के विवरण लिए गए हैं जिसमें प्रस्तुत संत की गद्दी

के महंतों का उल्लेख और इनके संबंध में कुछ विवरण दिया गया है जो इस प्रकार है—

"मदन साहब (खरौना गद्दी, जिला जौनपुर)—दुलमपति (बढ़ैयागाँव, जौनपुर)—विवेकपति साहब—दीवान जवाहिरपति साहब।

"मदन साहब के विषय में लिखा है कि वे उच्च कुल के रईस थे और जौनपुर जिले के अंतर्गत खरौना ग्राम के निवासी थे। एक दिन कबीर साहब ने प्रकट होकर उन्हें 'सार शब्द' का प्रचार करने का उपदेश किया। इसपर उन्होंने सांसारिक सुखोपभोग का त्याग कर और उसी ग्राम में एक कुटी बनाकर विरक्त वेष में रहने लगे। 'सार शब्द' कबीर का मूल उपदेश था जिसको निरंजनी लोगों ने छिपाकर निरंजनी ज्ञान का प्रचार किया।"

प्रस्तुत रचनाओं में रचनाकाल नहीं दिया है। लिपिकाल और विषय के क्रम से इनका विवरण इस प्रकार है—

(१) नामप्रकाश—इसकी दो प्रतियाँ मिली हैं जिनमें रचनाकाल नहीं दिया है। लिपिकाल केवल एक में संवत् १६१५ है। विषय भक्ति और ज्ञानोपदेश।

(२) साखी शब्द—रचनाकाल - लिपिकाल अज्ञात। विषय भक्ति और ज्ञानोपदेश।

'नामप्रकाश' से एक उद्धरण दिया जाता है जिसमें रचयिता के गुरु का भी उल्लेख है—

राधापति गुरु धनि है, धनि हमारो भागि।
जेहि टुक नजर निहारते, भत्रा नाम अनुराग॥
होत नाम अनुराग के, चित चरन डीढ़ कीन।
गुर पुरा पद पाइ के, ग्यान की दीछा लीन॥
ज्ञान को दीछा लेत ही, भत्रा ज्ञान परकास।
आदि अंत उतपति प्रलै, सूझत भै भ्रम नास॥
चारि भेद परकासिया, तीन ज्ञान को भेद।
चौथा भेद विज्ञान को, ताको किया निषेद॥
चारो भेद प्रकास ते, मिटा जो मन का सूल।
डार पात फल लषि परा, 'मदन' गहा जब मूल॥

चार भेद सोइ परचै दीन्हा। गुरु कबीर जो निरनय कीन्हा॥
ताको [illegible] जो [illegible]॥

मोहनसाँईं—प्रस्तुत त्रिवर्षी में इनके अधोलिखित सात ग्रंथों के विवरण लिये गए हैं, पर इनमें से किसी में भी न तो रचनाकाल ही और न इनका वृत्त ही दिया है। 'अरसभक्तिबोध' ग्रंथ के स्वामी से पता चला कि ये साँईं मत के प्रवर्तक और पहुँचे हुए महात्मा थे। निवासस्थान जिला सुलतानपुर था।

(१) अरस अइनिबानी—निर्गुण-मतानुसार भक्ति और ज्ञानोपदेश।

(२) अरस अरिल ककहरा—विषय ज्ञान, वैराग्य और भक्ति।

(३) अरस अरिलबानी—विषय ज्ञान-वैराग्य-भक्ति।

(४) अरस नाम ककहरा—विषय ज्ञानोपदेश।

(५) अरस पियापाती—लिपिकाल संवत् १९९३; विषय ज्ञानोपदेश।

(६) अरस भक्तिबोध—विषय भक्ति और ज्ञानोपदश। इसकी दो प्रतियों के विवरण लिए गए हैं जिनमें से एक में लिपिकाल संवत् १९९३ दिया है।

(७) सेल्हा—लिपिकाल संवत् १९९३ वि०। विषय पूर्ववत्।

मोहनसाँईं के अनुयायी अहमकसाह और 'महा आनंदसाह' की भी रचनाएँ मिली हैं जिनके लिये विवरणिका संख्या ९, २६० देखिए।

इनकी अइनिबानी से एक उद्धरण दिया जाता है—

खाय खिलाय कै बैठ रहु उड़ाय सबुर संतोष से रोज देता ॥
दुख न सुख है भोग की खबरि नहि जब मिला दरबार सरकार मोटा ॥
सुरति संभारि के देखु गुर ज्ञान में मेहरि की लहरि का खुला सोता ॥
कहै 'साह मोहन' फेरि पछितायगा अभी खूब भरे दरियाव में लाउ गोता ॥

रामेश्वर भट्ट—इन्होंने योग विषय पर एक ग्रंथ की रचना की जिसका नाम स्पष्ट रूप से नहीं दिया है। केवल 'योग० सा०' लिखा है। इसमें योग विषय का प्रतिपादन किया गया है, इसी आधार पर इसका नाम 'योगशास्त्र' मान लिया गया है। ग्रंथ की प्रस्तुत प्रति खंडित है, अतः रचनाकाल और लिपिकाल विदित न हो सके। रचयिता के विषय में ग्रंथारंभ में दिए गए विवरण से केवल इतना ही पता चलता है, कि इन्होंने पांचाल देश में सुलतान गयासुद्दीन को यह ग्रंथ सुनाया था। अन्य वृत्त उपलब्ध नहीं। दिल्ली में गयासुद्दीन नाम से दो बादशाह हुए हैं। एक गयासुद्दीन बलबन जो संवत् १३२३–४४ तक थाँ और दूसरा गयासुद्दीन तुगलक जो संवत् १३७७-८२ तक था। पता नहीं कि रचयिता ने इन दो में से किसको योगशास्त्र सुनाया। अधिक संभावना दूसरे गयासुद्दीन की है; क्योंकि

उसकी माता एक हिंदू जाट दासी थी और पिता बलबन नाम का एक तुर्क। अतः माता के प्रभाव से उसका झुकाव हिंदू शास्त्रों की ओर रहा होगा जो कुछ हो, प्रस्तुत रचना से इतना तो विदित होता ही है कि बहुत से मुसलमानी बादशाह हिंदू शास्त्रों के प्रति भी गहरी श्रद्धा रखते थे।

प्रस्तुत रचना खड़ीबोली गद्य में लिखी गई है, पर यह गद्य इतना पुराना नहीं है कि उसको हम विक्रम की चौदहवीं शती का मान लें। ऐसा विदित होता है कि किसी ने पीछे से मूल रचना का हिंदी में रूपांतर किया है। रचयिता और सुलतान गयासुद्दीन के संबंध का उद्धरण इस प्रकार है—

विवेक मारतंड की वाम पांचाल अस्थान में सुलतान गयासुद्दी(न) प्रतें या भाँति रामेश्वर भट्ट ने योगशास्त्रे निरूपन किये अनेक संसा के सुष भोगवतें दुनिया का विवोद देषि कें यथेछ सरीर रष्या जाइ ग्यान उपजै सो ऐसा राजयोग है तिसके भेद क्रियायोग १ ग्यानयोग २ चर्चायोग ३ हठयोग ४ कर्मयोग ५ लययोग ६ ध्यानयोग ७ मंत्रयोग ८ लक्ष्ययोग ९ वासनायोग १० शिवयोग ११ ब्रह्मयोग १२ अद्वियोग १३ राजयोग १४ सिद्धयोग १५ साधकयोग १६ क्रियायोग के लछन जिसके अंतःकरन में छमा विवेक वैराग्य शांति संतोष निस्पृहता इत्यादिक उपजै और कपट हिंसा तृष्णा मत्सर पच्छरपना अहंकार रोष भय लज्जा आलस पाखंड भ्रांत इंद्री का विकार काम क्रोध लोभ मोह रागद्वेष दिन जिसके मन में छूटे ते जाइ सो क्रिया योगी कहिये।

सागर कवि—इन्होंने संस्कृत साहित्यशास्त्र के आचार्य मम्मट के सुप्रसिद्ध ग्रंथ काव्यप्रकाश के आधार पर 'कविता-कल्पतरु' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की। इसकी प्रस्तुत प्रति में रचनाकाल संवत् १७८८ और लिपिकाल संवत् १७८९ दिए हैं। अतः असंभव नहीं कि यह मूल प्रति ही हो। रचनाकाल का दोहा इस प्रकार है—

संवत् सतरह सत सुनौ, बरस अठासी गान।
नवमी आदि अषाढ़ पष, रचना ग्रंथ प्रमान॥

रचयिता का केवल इतना ही परिचय मिलता है कि ये मालवा-नरेश जोरावरसिंह के आश्रय में रहते थे। उक्त नरेश ने रामगढ़ किले के निकट भानपुर गाँव में कवियों की एक सभा बुलाई थी जिसमें चंद के पुत्र बाघोरा भाट और आमेरगढ़ (जयपुर ?) के वासी कवि नान्हूराम उपस्थित थे। इसी सभा में इन लोगों ने इस कवि से प्रस्तुत ग्रंथ रचने को कहा, जिसका इन्होंने सहर्ष पालन किया।

साचार—'रसरत्न' नाम से इनकी एक उत्तम रचना मिली है जिसमें रस और अलंकारों का दोहों में वर्णन किया गया है। राजा जसवंतसिंह के 'भाषाभूषण' की तरह इसमें भी लक्षण और उदाहरण एक ही दोहे में दिए हैं। प्रमाणों के लिये इसमें संस्कृत के आचार्यों—कुवलयानंद, मम्मट, श्रीहर्ष और कालिदास प्रभृति—के ग्रंथों से भी उद्धरण दिए गए हैं। प्रस्तुत प्रति खंडित है और उसमें रचनाकाल और लिपिकाल का कोई उल्लेख नहीं है। रचयिता के वृत्त के विषय में प्रत्येक अध्याय की समाप्ति की विज्ञप्ति से इतना ही पता चलता है कि इनके पिता का नाम तारानाथ था—

इति श्री तारानाथात्मज साचार विरचिते 'रसरत्ने' स्वकीयाभिधानं प्रथमो मयूषः।

ज्ञात रचयिताओं में जिनके नवीन ग्रंथ मिले हैं अथवा जिनके संबंध में नवीन बातें प्रकट हुई हैं, आनंद या अनंद, गिरिधारी, जगन्नाथ या जन जगन्नाथ, जिनदास पांडेय, गो० तुलसीदास, दाराशिकोह, दौलतराम, नंद और मुकुंद, नंददास, नीलकंठ, परिमल्ल कवि, बालदास, भावन (भवानीदत्त), भूधरदास, मदनगोपाल, रामप्रसाद 'निरंजनी', शंभुनाथ त्रिपाठी, शिवराज महापात्र, सबलसिंह चौहान और सबल स्याम प्रमुख हैं—

आनंद या अनंद कवि—ये अपनी कोकशास्त्र विषयक रचनाओं के लिये प्रसिद्ध हैं। इस विषय पर इनकी कई रचनाएँ भिन्न-भिन्न नामों से पिछले खोज-विवरणों में उल्लिखित हैं (खोज-विवरणिकाएँ २-५; ६-१२६ ए, १७-७; २०-६ए, बी; २३-१३ बी से जे तक; २७-१० ए, बी से के तक; २६-११; दि० ३१-७; पं० २२-५ ए, बी तथा ४४-१६ देखिए)। परंतु अब तक इनका वृत्त अज्ञात ह। था। इस बार इनकी उक्त विषय पर लिखी हुई पाँच रचनाओं के विवरण लिए गए हैं जिनमें से एक में, जिसका नाम 'कोकसार भाषा' है, इनका थोड़ा सा वृत्त उपलब्ध हुआ है। अतः इस दृष्टि से ग्रंथ की यह प्रति महत्त्वपूर्ण है। इसके अनुसार ये कोट हिसार (? पंजाब) के रहनेवाले थे और जाति के कायस्थ थे। संवत् १६६० वि० में इन्होंने प्रस्तुत रचना की, जो पंद्रह खंडों में है—

कायस्थ कुल 'आनंद कवि', वासी कोट हिसार।
कोककला इह रुचि करन, जिन बहु कियो विचार॥६॥
रितु वसंत सै सोरह, अरु ऊपर हए साठि।
कोकसार कौतत्र कियौ, कर्म कर्म को पाठ॥७॥

षंड पाँचदस अति सरस, रच्यो जो बहु विधि छंद।
पढ़त बढ़त अति चोप, बाढ़त अधिक अनंग ॥८॥
चतुर सुकवि पंडित सरस, जो जानत छवि छंद।
अच्छर टुट संवारेहु, विनती करत 'अनंद' ॥९॥

इस उद्धरण की प्रथम और अंतिम पंक्तियों में रचयिता के दोनों नाम 'आनंद' और 'अनंद' स्पष्ट रूप से दिए हुए हैं। 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज', द्वितीय भाग, के पृष्ठ १४ में उल्लिखित 'वचन-विनोद' नामक पिंगल ग्रंथ के रचयिता आनंदराम या आनंदराय कायस्थ भी यही जान पड़ते हैं। उक्त ग्रंथ की पुष्पिका इस प्रकार है—

इति आनंद राय कायस्थ भटनागर हिंसारि कृत वचन विनोद समाप्त। लेखन सं० १६७६ वर्षे आसु सुदि ४ सनौ लिखतं नागौर मध्ये तेजाकेन स्वाधीत्यं।

'वचन-विनोद' से विदित होता है, रचयिता काशीवासी तुलसीदास जी के शिष्य थे। संभवतः ये तुलसीदास मानस के रचयिता गो० तुलसीदास ही हों।

इस बार खोज में प्राप्त पुस्तकों का विवरण इस प्रकार है—

(१) कोकसार भाषा—रचनाकाल संवत् १६६० वि०, लिपिकाल संवत् १८६८ वि०।

(२) कोकशास्त्र—रचनाकाल संवत् १६६० वि०, लिपिकाल अज्ञात।

(३) कोकसागर या कोकसार दर्पण—रचनाकाल अज्ञात। लिपिकाल संवत् १९६७। इस प्रति में विषय का प्रारंभ रणथंभौर के राजा भैरवसेन और उसके मंत्री कोकदेव के प्रकरण से हुआ है। इसमें पहले तारक राक्षस और महादेव-पार्वती के विवाह का वर्णन कर कामशास्त्र का बीज रूप में उल्लेख किया गया है। पश्चात् कामदेव की उत्पत्ति और उसके स्वरूप का वर्णन है। अंत में प्रत्येक देश की स्त्रियों की रति-रुचि का उल्लेख है।

(४) कोकसार—रचनाकाल अज्ञात, लिपिकाल संवत् १८३१। इसमें इस विषय के प्रथम रचयिता वात्स्यायन मुनि का उल्लेख कर कामप्रदीप, पंचवान, रतिरहस्य, मदन विनोद, आनंद रंग (? अनंग रंग), रतिरंजन और रतितरंग नामक कामशास्त्र विषयक रचनाओं का उल्लेख हुआ है।

(५) मदन कोक—रचनाकाल-लिपिकाल अज्ञात।

प्रस्तुत रचना 'नंद' और 'मुकुंद' के नाम से भी मिलती है। इस संबंध में आगे 'नंद' और 'मुकुंद' का विवरण देखिए।

गिरिधारी—इनकी 'भक्ति-माहात्म्य' नामक रचना की तीन प्रतियों के विवरण इस बार भी लिए गए हैं, जिनमें अनेक भक्तों के माहात्म्य का वर्णन किया गया है। रचनाकाल केवल दो प्रतियों में दिया है, जो संवत् १६०५ है। लिपिकाल इनका क्रमशः १८५५ वि० और १९३४ वि० हैं। तीसरी प्रति में रचनाकाल और लिपिकाल दोनों नहीं दिए हैं। पिछली खोज-विवरणिकाओं में इस ग्रंथ का उल्लेख हो गया है (देखिए विवरणिकाएँ ६–६४; २३–१२५; ४१–४८६)। उक्त रिपोर्टों में रचनाकाल संवत् १७०५ लिखा है, अतः यह विवादग्रस्त है।

प्रस्तुत प्रतियों में रचयिता का वृत्त मिलता है जिसके अनुसार उसके पिता का नाम गंगाराम था। जन्मभूमि गंगा के तट पर बताई है जिसका नामोल्लेख किया तो है, पर ठीक-ठीक स्पष्ट नहीं होता। अनुमान से कड़ा (? कड़ा-मानिकपुर) विदित होती है, जहाँ संत मलूकदास उस समय रहते थे। तीनों प्रतियों के पाठ इस संबंध में क्रमशः इस प्रकार है—

१–जन्मभूमि कर करउ बषाना। सुरसरि तट उत्तम स्थाना॥
'कर' (? कड़ा) अस्थान मातहि कर आही। दास मलूक संत तेहि माहीं॥
२–जन्मभूमि कर करउ बषाना। सुरसरि तट उत्तम स्थाना॥
'कड' अस नाम ताहि कर आही। दास मलूक संत तेहि माही॥
३–जन्म भूम्य का करौ बषाना। सुरसरि तट उत्तम अस्थाना॥
'कृष्ण' को नाम मंत्र पढ़ि भाई। दास मलुक संत तेहि गाई॥

इनसे पता चलता है कि दूसरी प्रति में, जो संवत् १६३४ की लिखी है, जन्मभूमि का नाम बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाता है। मलूकदास जी का उल्लेख हो जाने से उसमें आए 'कड' शब्द का बोध 'कड़ा-मानिकपुर' के अर्थ में निश्चित रूप से होता है; क्योंकि यहीं मलूकदास जी निवास करते थे। इसी आधार पर प्रस्तुत रचना का रचनाकाल भी निश्चित हो जाता है। मलूकदास जी का जन्म-समय संवत् १६३१ माना जाता है और मृत्यु-समय संवत् १७३६। अतः इन्हीं के बीच संवत् १७०५ में, जैसा कि पिछली खोज-विवरणिकाओं में दिया है, यह रचना हुई होगी न कि संवत् १६०५ में, जो प्रस्तुत प्रतियों में दिया है। इन सब तथ्यों के आधार पर रचयिता का पूरा वृत्त इस प्रकार है—

'संवत् १७०५ में वर्तमान, पिता का नाम गंगाराम, निवासस्थान कड़ा (कड़ा-मानिकपुर) जहाँ उस समय संत मलूक जी रहते थे।'

इस दृष्टि से प्रस्तुत प्रतियाँ महत्त्वपूर्ण है।

जगन्नाथ या जन जगन्नाथ—इनकी रची 'गुरु-महिमा या गुरु-चरित्र' की दो तियों के विवरण लिए गए हैं। इसमें गुरु का माहात्म्य-वर्णन किया गया है। रचनाकाल संवत् १७६० है। लिपिकाल केवल एक प्रति में संवत् १६४४ दिया है। पिछली खोज-विवरणिकाओं (२६-१६४ बी; ९-१२६; २३-१७६ ए, बी, सी; २६-१८९ जी; दि० ३१-३८ ए, बी; ६-२९६) में इसका उल्लेख हो चुका है।

प्रस्तुत रचना की पुष्पिका से पता चलता है कि ये किसी स्वामी तुलसीदास के शिष्य थे। परंतु ये तुलसीदास रामचरितमानस के कर्ता गो० तुलसीदास से भिन्न हैं। ग्रंथ की इस बार मिली संवत् १९५४ की प्रति में पुष्पिका के आगे एक गुरु-परंपरा दी हुई है, जो सृष्टि के आरंभ से प्रारंभ होती है। उसमें स्वामी राघवानंद और स्वामी रामानंद जी का उल्लेख गुरु-शिष्य के रूप में हुआ है। स्वामी रामानंद के शिष्य अनंतानंद थे। उनके कृष्णदास पयहारी और उनके श्रीकील जी तथा श्रीकील जी के शिष्य श्रीजंगी जी थे। इन्हीं जंगी जी के शिष्य स्वामी तुलसीदास जी प्रस्तुत रचयिता के गुरु थे, ऐसा विदित होता है। अतः रचयिता की गुरु-परंपरा का अब ठीक-ठीक निश्चय हुआ समझना चाहिए। पहले यह अनिश्चित था, यद्यपि प्रस्तुत रचना कई बार मिल चुकी है। अन्य वृत्त नहीं दिया है। पिछली विवरणिकाओं में इन्हें भाट कहा गया है।

जिनदास पांडेय—ये पिछली खोज-विवरणिका (१७-८६) पर उल्लिखित 'योगीरासा' के रचयिता विदित होते हैं। इस बार इनका 'जंबूस्वामी की कथा' नाम से एक नवीन ग्रंथ मिला है जिसमें जंबूस्वामी नामक एक जैन भक्त का चरित्र दिया हुआ है। इसकी रचना संवत् १६४२ में हुई, अतः रचना यथेष्ट पुरानी और महत्त्वपूर्ण है। लिपिकाल संवत् १७५१ दिया है। प्रस्तुत प्रति सुप्रसिद्ध जैन कवि विनोदीलाल ने अपने पढ़ने के लिये लिखी थी, जैसा कि पुष्पिका में उल्लेख है—

> संवत सत्रह सेरु इक्यावनु फागुन द्वैज बुधौ वदि आई।
> अंतम केवली केरी कथा रचिकै कहै जिनदास बनाई।
> सो यह लाल विनोदी लिखी अपने हित वाँचन को मनभाई।
> तद्यपि भव्यन के मन को उपदेशन हेतु महा सुषदाई॥१॥

रचयिता के पिता का नाम ब्रह्मचारी संतीदास था और ये आगरे के रहने-वाले थे। प्रस्तुत ग्रंथ किसी टोडरशाह के पुत्र दीपासाहु के लिये रचा गया था जिन्होंने मथुरा के प्राचीन जैन स्तूपों का जीर्णोद्धार कराया था। रचयिता ने इनके

वंशज रिषभदास, मोहनदास, रूपचंद और लक्ष्मणदास प्रभृति का भी उल्लेख किया है, जो संभवतः प्रसिद्ध व्यक्ति थे। उस समय अकबर बादशाह का राज्य था।

गो० तुलसीदास—ये 'रामचरितमानस' के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं। इस बार इनकी तीन रचनाओं—जानकीमंगल, रामाज्ञा और वैराग्य-संदीपनी—के विवरण लिए गए हैं। ये तीनों ही रचनाएँ पहले कई बार मिल चुकी है (देखिए क्रमशः खोज-विवरणिकाएँ ३–७६; ६–२४५ एफ, १७–१९६ सी; २०–१६८ ई०; २३–४३२ एक्स; २६–४८४ ए, बी), (३–८७; ६–२४५ डी; ६–३२३ एच; २०–१६८ एच; २३–४३२; २६–४८४; पं० २२–११२; २६–३२५) और (००–७; ३–८१;६–२४५; २०–१९८ एच; २६–४८४ डीर)। इस बार जो महत्त्वपूर्ण बात देखने में आई है वह केवल प्रथम रचना (जानकीमंगल) से ही संबंधित है। वह पूर्ण है पर उसमें पुष्पिका नहीं दी हुई है। लिपिकाल का भी उल्लेख नहीं। उसके आरंभ में रचनाकाल संवत् १६३२ दिया हुआ है जिसके कारण वह महत्त्वपूर्ण जँची और उसका विवरण लिया गया। रचनाकाल का उल्लेख इस प्रकार है—"संवत् १६३२ कथा किय भवा"। परंतु प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों में रचनाकाल का इस प्रकार उल्लेख अभी तक देखने को नहीं मिला, इस कारण इसे रचनाकाल मानने में संकोच होता है। फिर भी यह किसी न किसी आधार पर ही दिया गया होगा, अतः यह ध्यान में रखते हुए इसपर सर्वथा अविश्वास भी नहीं किया जा सकता।

ग्रंथ की प्रस्तुत प्रति के आरंभ और अंत के पत्रों में एक ही ओर लिखा है। अंत का पत्र तो भिन्न लेखनी से लिखा हुआ है। इसके प्रत्येक पत्र को सुडौल काट कर उसके चारों ओर आधुनिक सफेद कागद सुरक्षा के लिये चिपका दिया गया है। कागद, स्याही और अक्षरों को देखने से यह अधिक पुरानी नहीं जँचती। नीचे प्रारंभ और अंत का थोड़ा सा अंश दिया जाता है—

संवत् १६३२ कथा किय भवा
गुरु गणपति गिरिजापति गौरि गिरापति।
सारद सेष सुकवि सुति संत सरल मति।
हाथ जोरि करि विनइ भवहि सिररगावौं (? सिर नावौं)।
सिय रघुबीर बिआइ जथामति गावौं।"
शुभ दिन रचेउ सुमंगल मंगलु दायक।
सुनत श्रवण हिये बसहि सीय रघुनायक।

......।सहि कुमुदिनी देषि विधु भए अवध शुष सोभामई।
एहि विधि विवाह जो राम गावहिं सकल शुष कीरति नइ।
सुभ चरित व्याह उछाह जो सियराम मंगल गाइहै।
'तुलसी' सकल कल्यान ते नर नारि अनुदिनु पाइहै॥

दारा शिकोह—ये दिल्ली के प्रसिद्ध बादशाह शाहजहाँ के बड़े पुत्र थे, जिनको औरंगजेब ने मरवा डाला था। ये संस्कृत और हिंदी की ओर बड़ी रुचि रखते थे और इन भाषाओं के अनेक ग्रंथों का इन्होंने फारसी में अनुवाद करवाया था। 'दोहा-सार-संग्रह' नाम से इन्होंने संवत् १७१० में हिंदी के दोहों का एक बड़ा संग्रह तैयार करवाया था जिसमें ६१ भावों पर रचे गए १७७२ दोहे हैं। भावों के नाम इस प्रकार हैं—

परमारथ भाव, वैसंधि भाव, जोबन भाव, अंग भाव, अलक भाव, तिल भाव, नैन भाव, सिंगार भाव, चेष्टा भाव, नैन लगनि, नैन मिलन, नैन भाव, नैनगज भाव, मनगज भाव, मन सिकार, प्रेम लगनि, संजोग भाव, रति संजोग भाव, अनष भाव, मानभाव दूति, दूती बचन, सषी वचन नाइक प्रति, सषी वचन नायिका प्रति, रस तरक भाव, सषी नाइक प्रतीकार, नायिका नायक प्रति, विछुरन भाव, नायक बिरह, नैन विरह भाव, नायक विरह, साधारन विरह, स्वप्न भाव, मिलन भाव, मन प्रकृति, विवेक भाव, सजन भाव, दुर्जन भाव, कपट भाव, सठ भाव, सिछा भाव, कुच वर्णन, सिछा भाव, ज्ञान भाव, परस्ताव भाव, अस्फुट भाव, ऋतु वर्णन, वाय वर्णन, वसंत वर्णन, हास्य वर्णन, चात्रक वर्णन, चोर भाव, भँवर भाव, पतंग भाव, चंद्र उक्ति भाव, कर्म भाव, मन विस्वास, गूढ़ अर्थ भाव, चौबोला, विरोध भाव, हरिलीला, वैराग्य भाव।

जिन कवियों की रचनाएँ इस संग्रह में हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—हुसैन, तुलसी, दयाल, मोहन, सिवदास, मल्ल, अहमद, विहारी, जमाल, संमन, जगत, केसव, नवल, हरिवंस, कल्यान, सेऊ, कासिम, निहाल, तुलाराम, वाजू, कान्हर, सेख, नवलराम, आलम, बाबू, संकर, गुपाल, हमीद, जमला, नंद, नाथ, जगन, ताहर, चंद, एदिल, रजंना, व्यासदास, रहीम, जादौ, अकबर-साहि, कविसाहि, कालू, पूरनदास।

इन कवियों में बहुत से ऐसे हैं जिनका समय अभी तक अज्ञात है, पर प्रस्तुत संग्रह द्वारा इतना तो निश्चित हो ही गया है कि ये संवत् १७१० (जो संग्रहकाल है) से पहले के हैं।

संग्रहकार का नाम अंतिम दोहों में (जिसमें संग्रह का समय दिया है) और पुष्पिका में क्रमशः 'दिनमनि' और 'श्रीमनि पंडित' दिया है—

अंतिम दोहा—सत्रह सै दस साल में, प्रफुलित फागुन माहि ।
दोहा सारु कढाइयौ, 'दिनमनि' दारा साहि ॥४४॥

पुष्पिका—इति श्री मनि पंडित दिल्ली दिनेस श्री दारासाहि करित दोहासार संग्रह संपूर्न समाप्तः ॥

यदि दोहे में आए 'दिनमनि' का संबंध 'दारासाहि' से लगा लिया जाय, तो भी पुष्पिका में उल्लिखित 'श्रीमनि पंडित' का संबंध किसी प्रकार उससे नहीं जुड़ता। अनुमान से 'दिनमनि' और 'श्रीमनि पंडित' एक ही व्यक्ति विदित होते हैं। इस अनुमान का आधार यह है कि प्रस्तुत खोज में एक 'पिंगल-पियूष' नामक रचना मिली है जिसके रचयिता मुरलीधर हैं। इन मुरलीधर के पिता का नाम 'दिनमनि' था जो एक धुरंधर ज्योतिषी थे और आगरा में ही रहते थे। अतः हो सकता है कि इन्हीं 'दिनमनि' से 'दारासाहि' ने प्रस्तुत संग्रह तैयार करवाया हो। ये 'दिनमनि' अकबर बादशाह के दरबारी परमानंद शतावधानी हैं वंशज थे। इस वंश के लोगों में से 'पुरुषोत्तम' शाहजहाँ के और 'मुरलीधर' (दिनमनि के पुत्र) मुहम्मदशाह के दरबार में रहते थे। अतः यह स्वाभाविक है कि 'दिनमनि' भी दारासाहि के दरबार में रहे होंगे।

प्रस्तुत प्रति स्वर्गीय मयाशंकर जी याज्ञिक के संग्रह की है। उन्होंने इस प्रति के नष्ट हुए पत्रों (५५, ५६ संख्या के पत्रों) के अंशों को दूसरी प्रति से पूरा कर दिया है जो संग्रह के आरंभ में दिए हुए हैं, और 'नायिका-विरह-भाव' के हैं। उक्त दूसरी प्रति का पता इस प्रकार है—श्री प्रभुलाल जी गुप्त; ठि० श्री बाबूलाल जी-मोहनलाल जी बजाज, कोतवाली, भरतपुर।

प्रस्तुत संग्रह का उल्लेख खोज-विवरण (६-१५२) में भी हुआ है, पर उसमें विवरण-पत्र नहीं छपा है और न विषय और कवियों का ही उल्लेख है।

दौलतराम—इनके तीन बृहद् ग्रंथों—आदिपुराण की बालबोध भाषा वचनिका, पद्मपुराण जी की भाषा वचनिका, पुण्याश्रव कथाकोश भाषा बालबोध—के विवरण लिए गए हैं। इनमें से प्रथम ग्रंथ का उल्लेख पिछली खोज-विवरणिका (२३-८४ ए) में हो चुका है। शेष ग्रंथ नए मिले हैं। ये सभी मूल संस्कृत ग्रंथों के गद्यानुवाद हैं। नीचे रचनाकाल, लिपिकाल और विषय के क्रम से इनका उल्लेख किया जाता है—

(१) आदिपुराण की बालबोध भाषा वचनिका—रचनाकाल संवत् १८२४; लिपिकाल संवत् १८६८ और १६००; विषय आदिपुराण (जैन ग्रंथ) का हिंदी गद्यानुवाद। इसकी दो प्रतियाँ मिली हैं।

(२) पद्मपुराण जी की भाषा वचनिका—रचनाकाल संवत् १८२३ और लिपिकाल संवत् १६१४ वि०। विषय पद्मपुराण (जैन पुराण) का हिंदी गद्यानुवाद।

(३) पुण्याश्रव कथाकोस भाषा—रचनाकाल संवत् १७७७। इसकी चार प्रतियाँ मिली हैं, जिनमें से केवल दो में लिपिकाल दिया है, जो संवत् १७८६ और सं० १८८७ हैं। विषय जैन धर्म विषयक छप्पन कथाओं का वर्णन।

हिंदी गद्य ग्रंथ होने के कारण ये महत्त्वपूर्ण हैं। जैसा इनके रचनाकालों से स्पष्ट है, ये गद्य संवत् १७७७ से लेकर संवत् १८२४ तक के हैं। इनमें राजस्थानी, व्रज और खड़ी बोली, तीनों भाषाएँ प्रयुक्त हुई हैं।

रचयिता, इन ग्रंथों के आधार पर, खंडेलवाल वैश्य थे। अल्ल कासलीवाल था। पिता का नाम आनंदराम था। ये पहले आगरा में आए थे जहाँ इन्होंने 'पुण्याश्रव कथाकोस' की रचना की। बसवै (?) में इन्होंने अपना निवासस्थान बतलाया है। पीछे जयपुर चले गए और रायमल्ल और रतनचंद (राज्य के दीवान) नामक मित्रों के साथ रहने लगे तथा उन्हीं के अनुरोध पर 'आदिपुराण और पद्मपुराण' के अनुवाद किए। जयपुर में उस समय महाराजा माधवसिंह का राज्य था।

नंद और मुकुंद—प्रस्तुत त्रिवर्षी में कामशास्त्र विषयक इनकी एक रचना 'कोकसार' नाम से मिली है, जिसके विवरण लिए गए हैं। यही रचना 'अनंद', 'आनंद', 'नंदकेश्वर' और 'जन मुकुंद' के नाम से पहले कई बार मिल चुकी है, देखिए क्रमशः खोज विवरणिकाएँ (२—५; ६—१२६; १५—७; २०—६, २३—११; २६—१०; २९—११; दि० ३१—७; पं० २२—५), (२३—२९५) और (६—१८३; २६—२२५)। इस बार भी आनंद के नाम से इसकी पाँच प्रतियाँ और मिली हैं, जिनका यथास्थान उल्लेख हो चुका है (पीछे 'आनंद या अनंद' का विवरण देखिए)। परंतु अब तक रचयिता के वृत्त के अभाव में यह पता नहीं चल सका था कि इनका वास्तविक रचयिता कौन है? इस बार प्रस्तुत रचना की जो प्रति मिली है उसमें रचयिता का थोड़ा सा परिचय उपलब्ध होता है। उसके

अनुसार नंद और मुकुंद नाम के दो भाई थे। संभवतः नंद बड़े थे। पिता का नाम चिंतामनि था और निवासस्थान का नाम जगरकैटी। दोनों भाई सुकवि थे। प्रस्तुत ग्रंथ की रचना इन्होंने सम्मिलित रूप से की। रचनाकाल अस्पष्ट है, पर संवत् १६०० पढ़ने में आता है जिससे विदित होता है कि रचना विक्रमी सत्रहवीं शताब्दी की है—

संवत सोरह सौ वरष एतेरसा जो आही।
माघ मास सुकुल तिथि सतमी कथा कीन्ह कवि चाहि ॥
जगरकैटी बास तहा "चींतामनी" चीत चार।
ताके सुत कवी नंद भए कवी मकुंद उजिआर ॥
दुनो भ्राता गुनगनी दुनौ चतुर प्रवीन।
दोऊ रस कै हेतु करी कीन्ह कोक नवनीत ॥

प्रस्तुत प्रति में लिपिकाल नहीं दिया है। यह भ्रष्ट कैथी लिपि में लिखा हुआ है, अतः इसको पढ़ने में कठिनाई उत्पन्न होती है। इसी कारण रचनाकाल ठीक-ठीक विदित न हो सका। फिर भी रचयिता के विवरण के कारण यह महत्त्वपूर्ण है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अनंद, आनंद, नंद, मुकुंद, नंदकेश्वर, जनमुकुंद, और मुकुंददास के नाम से जितने 'कोकसार' मिलते हैं, वे सब इन्हीं दो बंधुओं के रचे हैं। नंद का ही 'अनंद' और 'आनंद' हो गया है अथवा ये उसके उपनाम हैं। 'मुकुंददास' और 'जनमुकुंद' तो स्पष्ट रूप से मुकुंद के ही अन्य नाम हैं। 'नंदकेश्वर' का नाम रचयिता के रूप में खोज-विवरणिका (२३—२९५) पर गलत दिया है। उसमें उल्लिखित रचना मुकुंद की रचना से मिलती है। जहाँ नंदकेश्वर पंडित का नाम आया है वह अंश इस प्रकार है—

नंदकेसवर पंडीत एक भैउ। पहोले गरंथ के उन कहेउ ॥
गुनीक पुत्र कवी अतीमाना। कामकला रस सभ उन जाना ॥
उनके मत ग्रंथ हम देखा। कीछु छंनछेप बीचारी बीसेखा ॥

रेखांकित पदों से स्पष्ट है कि रचयिता कोई दूसरा है, जिसने नंदकेश्वर पंडित के ग्रंथों को देखकर रचना की थी। जैसा कि ऊपर कहा गया है, मुकुंद की रचना से यह मिलती है, अतः मुकुंद ही उसका वास्तविक रचयिता है। नीचे दोनों रचनाओं के आरंभ के अंश उद्धृत किए जाते हैं जिससे पता चल जायगा कि ये भिन्न-भिन्न रचनाएँ न होकर एक ही रचना है।

मुकुंददास कृत कोकभाषा

वरनो गनपति विघन विनासा। जिह सुमिरत गति मति परगासा॥
सब दिन वंदो सुरसरि माता। वंदौ शंकर सुत बुधिदाता॥
वंदौ हरि ब्राह्मण कर पावठा। जागत वि श्रजपति जा करिभाठा॥
भरमित वाल पतालहि देवा। दश द्रगपाल करही तोरी सेवा॥
वंदौ चांद सूर्ज गन तारा। वंदौ गनपति जोति श्रपारा॥
वंदौ क्रीस्न पच्छ रवीवारा। जेही दिन वीय कथा अनुसारा॥
तिथि तेरस हम तेही दिन पावा। हस्त नछत्र हमही मन लावा॥
सिध जोग कर उपमा सोइ। येही विधि काम सिद्ध तह होई॥
साह सलीम जगत सुलताना। अहि निवास आगरे अस्थाना॥
सोलह सै वहत्तरी संवत्, हम जो सूना दह दीस।
सनदपत्र में देखा, एक हजार पचीस॥

नंदकेश्वर कृत कोकसाख

वरनौ गनपति वीधीनी वीनासा। जेही सुमिरत गती मती प्रगासा॥
सम दिन वंदौ सरोसती माता। वरनौ शंकर सीधी बुधी दाता॥
वंदौ हरी ब्रह्मा के पाया। जगतं व्यापिता जाकर माया।
स्वग भ्रीतु पतालहि देवा। दस द्रीगपाल करही जे सेवा॥
वंदौ पांइ सुज गन तारा। वंदौ गनपती जोती अपारा॥
बंदौ क्रीस्न पछ रवीवारा। तेही दिन वीधी कथा अनुसारा॥
तीथी तरोदसी हम हीत पावा। हस्त नछत्र हमही मन लावा॥
सीधी जोग फर उपमा होइ। ऐही वीधी कथा सोधी पै होइ॥
साह सलेम जगत सुलताना। तेही पाछे पटना नीज थाना॥
सोरह सौ पचहतरः हम जो गीना दह दीसः।
सन दफतर म हम देखा एक हजार वतीसः॥

इन उद्धृत अंशों में जो पाठांतर देखने में आते हैं वे केवल प्रतिलिपिकारों के हस्तदोष के कारण हैं।

जैसा कि आरंभ में लिखा जा चुका है, आनंद के नाम से भी इस बार इस ग्रंथ की पाँच प्रतियाँ मिली हैं। उनमें भी रचयिता का थोड़ा सा उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार ये कोट हिसार (? पंजाब) के रहनेवाले कायस्थ थे।

संवत् १६६० में उन्होंने इस ग्रंथ की रचना की थी। 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, द्वितीय भाग' के पृष्ठ १४ में उल्लिखित 'वचनविनोद' नामक पिंगल ग्रंथ के रचयिता भी यही आनंदराम हैं। उक्त खोज-विवरण के अनुसार ये हिसार (हिंसारि) के रहनेवाले भटनागर कायस्थ और गो० तुलसीदास (मानसकार) के शिष्य थे (देखिए उक्त खोज विवरण और आनंदराम का विवरण)। अतः इन सबके आधार पर नंद और मुकुंद का वृत्त इस प्रकार उपलब्ध होता है—

"ये दो भाई थे जिनमें नंद संभवतः बड़े थे। पिता का नाम चिंतामनि था जाति के भटनागर कायस्थ और हिसार (पंजाब) के अंतर्गत जगरकैटी स्थान के निवासी थे। दोनों भाई सुकवि थे और प्रस्तुत कोकसार की रचना दोनों ने सम्मिलित रूप से की थी। संवत् १६६० में वर्तमान। नंद (आनंद या अनंद) के गुरु गो० तुलसीदास (मानसकार) थे।"

इस संबंध में यह भी ध्यान रखने की आवश्यकता है कि प्रस्तुत रचना इन दोनों भाइयों ने अलग-अलग भी लिखी हैं, जैसे खोज-विवरणिकाओं (६–१८३ ए; २९–२२५) में आई 'कोकभाषा' को मुकुंददास ने जहाँगीर बादशाह के राज्य में संवत् १६७२ में रचा था। इसी प्रकार आनंद या अनंद के नाम से मिलनेवाली रचनाएँ हैं जो नंद की स्वतंत्र रूप से लिखी हुई हो सकती हैं। इसका कारण अलग-अलग आश्रयदाताओं के लिये इनका रचा जाना हो सकता है। परंतु रचना से यह स्पष्ट होता है कि एक बार यह रचना इन बंधुद्वय ने सम्मिलित रूप से लिखी थी।

अब एक संदेह और होता है कि अष्टछाप के सुप्रसिद्ध कवि स्वामी नंददास के नाम पर जो 'भ्रमरगीत' प्रचलित है वह इन्हीं बंधुद्वय का तो नहीं ? वह जनमुकुंद के नाम पर भी मिलता है। एक ही ग्रंथ के दो रचयिताओं की इस उलझन को मिटाने के लिये पिछली खोज-विवरणिकाओं (रिपोर्टों) और संक्षिप्त विवरण में नंददास का दूसरा नाम जनमुकुंद मान लिया गया है। परंतु तब यह विदित न था कि नंद और मुकुंद नाम से दो भाई थे और उन दोनों ने मिलकर भी रचनाएँ की थीं। अब यह ज्ञात हो जाने से यदि इसको भी इनकी सम्मिलित रचना मान लें तो इस कारण का भी पता सरलता से लग जाता है कि क्यों यह नंददास और जनमुकुंद के नाम पर अलग-अलग मिलती है। परंतु अब यह मानना पड़ेगा कि नंददास (अष्टछाप) इसके रचयिता नहीं, अथवा यह कि

वे कोई भिन्न व्यक्ति नहीं प्रत्युत इन्हीं बंधुओं में से एक (नंद) हैं। दूसरी धारणा की पुष्टि तो इतनी शीघ्रता से नहीं की जा सकती जब तक कि अन्य सबल प्रमाण न मिल जायँ, पर प्रथम धारणा अनुचित नहीं। बहुत से प्रसिद्ध कवियों के नाम पर अनेक ऐसी रचनाएँ प्रचलित हैं, जो वास्तव में उनकी नहीं। कबीर, सूर, तुलसी आदि इसके प्रमाण हैं। अतः इस दृष्टि से प्रस्तुत रचना विद्वानों द्वारा मनन करने योग्य है।

नंददास (अष्टछाप)—ये सुप्रसिद्ध अष्टछाप के कवि हैं और कई ग्रंथों के रचयिता के रूप में पिछली खोज-विवरणिका में उल्लिखित हैं, देखिए विवरणिकाएँ (१—११, ६६; ६—२००; ६—२०८; १२—१२०; १७—११६; २०—११३; २३—२६४; पं० २२—७२; २९—२४४, दि० ३१—६१; ३५—६७; ३२—१५२)। इस बार इनकी 'रासपंचाध्यायी' की एक प्राचीन प्रति के, जो संवत् १७८० की लिखी हुई है, विवरण लिए गए हैं। यह स्वर्गीय मयाशंकर जी याज्ञिक के संग्रह की है। उनके उत्तराधिकारी पं० भवानीशंकर जी याज्ञिक ने इस प्रति के ऊपर इस प्रकार लिखा है—"इससे प्राचीन एक ही प्रति सुनी जाती है"। इससे इस प्रति का महत्त्व विदित होता है। रचयिता का इसके द्वारा कोई वृत्त नहीं मिलता। इसकी पुष्पिका जिसमें उक्त लिपिकाल (सं० १७८०) दिया है, इस प्रकार है—

इति श्री नंददासकृत पंचाध्याई संपूर्न जद्रिसं पुस्तिकं द्रष्ट्वा तद्रिसं लिषते मया जदवा सुध असुध मम दोस न दीयते ॥ संवत १७८० मीती पूस सुदी १३ वार सनीचर वार को लिषी दसषत डालचंद ब्राह्मण के ॥ शुभमस्तु शुभंभवत् ॥

प्रस्तुत रचना के साथ एक ही हस्तलेख में ये रचनाएँ भी हैं—

(१) स्यामसनेही—आलमकृत, (२) ब्रह्मनाममालायोगसिंधु—चिंतामनिकृत। 'स्यामसनेही' में लिपिकाल संवत् १७७५ है।

नीलकंठ 'कंठ'—प्रस्तुत त्रिवर्षी में इनका एक खंडित ग्रंथ मिला है जिसमें नायिकाभेद का वर्णन पाया जाता है। अतः विषय की दृष्टि से और वास्तविक नाम के अभाव में इसका नाम 'नायिकाभेद' रख दिया है। रचनाकाल और लिपिकाल अज्ञात है। रचयिता का नाम के अतिरिक्त और कोई वृत्त नहीं मिलता। रचना द्वारा ये एक प्रौढ़ कवि विदित होते हैं। उसमें कहीं-कहीं इनका उपनाम 'कंठ' भी दिया है।

संक्षिप्त विवरण और पिछली खोज-विवरणिकाओं में दो नीलकंठों का उल्लेख है। एक तो चिंतामणि, भूषण और मतिराम के भाई और दूसरे कविवर सोमनाथ

के पिता, देखिए क्रमशः विवरणिकाएँ (३—१) और (६—२६८)। दूसरे नीलकंठ की न तो कविता ही उपलब्ध होती है और न वे कवि के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। अतः हो सकता है कि ये प्रथम रचयिताओं (चिंतामणि, भूषण, मतिराम) के ही भाई 'नीलकंठ' हों जिनका उपनाम 'जटाशंकर' था। उपर्युक्त प्रथम रिपोर्ट में इनके 'अनरेश-विलास' का उल्लेख है जो 'अमरुक-शतक' का अनुवाद है।

इनकी कविता के दो उद्धरण दिए जाते हैं जिनमें इनके दोनों नाम 'नीलकंठ' और 'कंठ' आए हैं—

मेरो कहो मानु जिय जानु सुनु कानु देके मन मे न आनु ऐरी ऐसो मानु ठानिबो।
कवि'नीलकंठ' कहे लालनबिहारी जिके एकइ बसत चित तोसो प्रीति मानिबो।

× × × ×

साँझ समै हिमसैल सुताँ पियसों जियँ झूँठेहु मानु सो कीनो।
मान मनायो न 'कंठ' कछूक बुलाए ते मानिनि मोनु सो लीनो।
पाँय परै हरु के हंहरैं चरनंबुज चंद सुधाँ रस भीनो।
सोति ढरी पग ताँही घरीं न रह्यो घिरिजा गिरिजा हँसि दीनो ॥६६॥

परिमल्ल कवि—इनका 'श्रीपाल-चरित्र या श्रीपाल-पुराण भाषा' नाम से एक बृहत्काय ग्रंथ मिला है जिसकी पाँच प्रतियों के विवरण लिए गए हैं। यह जैन साहित्य का ग्रंथ है जिसमें श्रीपाल नामक एक राजा की कथा का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसकी प्रस्तुत प्रतियों में दिए गए रचनाकाल में भिन्नता है। दो प्रतियां में तो यह संवत् १६५१ है और दो में संवत् १६४६ तथा एक में अस्पष्ट है, यथा—

(१) संवतु सोरह सै उचरौ। समयौ इक्याउना आगै परौ॥
मासु असाढु पहुचौ आइ। बरषा रितु को कहै बढ़ाइ ॥२६॥
पछि उजियारौ आगै जानि। सुक्रवारु वारु परिवानि ॥३०॥

(२) संवतु सोरह सै उचरौ। समओ इक्यावन आगरौ॥
मासु असाढ़ पौहौचौ आइ। वर्षा रितु को कहै बढ़ाइ ॥३०॥
पछि उजारौ आवै जानि। सुक्र वारु वारुप रवान॥

(३) संवत सोलह सै उनचास। मास असाढ़ चौमासो मास॥
दिन अढ़ाई पहुच्यौ आय। व्रत पूजा भवि करै उछाय॥२६॥

(४) संवत सोलह सै उनचास। मास अषाढ़ चौमासौ मास॥
दिवस अढ़ाई पहुच्यौ आय। व्रत पूजा भवि करै बनाय॥३०॥

(५) संवत सोलह सै उचरौ। सावन इकौवन आगरौ ॥
मासु असाढ पहुचौ आइ। वर्षा रितु कौउ कहै बढ़ाइ ॥४०॥
पछ उज्यालि आठै जानि। सुक्त (? सुक्र) वारु आठै परवानि ॥

अंतिम उद्धरण में संवत् यद्यपि अस्पष्ट है, तो भी उससे संवत् १६५१ निकलता है। अतः यह प्रथम दो प्रतियों के रचनाकाल के उद्धरणों से मिलती है। सबसे पुरानी प्रति संवत् १८०७ की लिखी है, जिसमें रचनाकाल संवत् १६५१ दिया है। इसलिये इसी को वास्तविक रचनाकाल मानने में कोई बाधा नहीं दिखाई देती थी, परंतु पिछली खोज-विवरणिका (२३-३०९) में गणना द्वारा रचनाकाल संवत् १६४९ ठीक माना गया है। लिपिकाल प्रस्तुत प्रतियों में क्रमशः संवत् १८०७ १८३५, १८५६, १९१३ और १८७४ हैं।

रचयिता अकबर बादशाह के समय मे आगरा में निवास करते थे। मूल स्थान ग्वालियर था जहाँ राजा मान राज्य करता था। वहाँ (ग्वालियर) बरहिया जाति के एक चंदन नामक चौधरी रहते थे जिनके पुत्र रामदास थे। रामदास के पुत्र आसकरन हुए जो प्रस्तुत रचयिता के पिता थे—

बब्बर पातिसाहि होइ गयौ। ता सुतु साहि हिमाउ भयौ ॥
ता सुतु अकबरु साहि सुजानु। सो तप तपै दूसरौ भानु ॥३२॥
ताके राज न कहूँ अनीति। वसुधा सकल करी बस जीति ॥
जंबूदीप तासु की आन। दूजौ औरु न ताहि समान ॥३३॥
ताके राज न कहूँ अनीति। वसुधा सर करै सब जीति ॥
× × ×
गोपाचलगढ़ उत्तिम थान। सूरवीर तहां राजा मांन ॥
ताको दलु बलु बहुत असेस। गढ़ पै राजु करै सु नरेस ॥१॥
ताके आगै भुमिया सबै। संका मानि सहजहि दबै ॥
× × ×
ता आगै चंदन चौधरी। कीरति सब जग मै विस्तरी ॥
जाति बरहिया गुन गंभीर। अति प्रताप कुलमंडन धीर ॥
ता सुत रामदास परवीन। नंदनु आसकरनु सुषलीन ॥५॥
ता सुत कुलमंडन "परिमल्ल"। बसै आगरै मै तजि सल्लु ॥

प्रस्तुत रचना की पद्धति से विदित होता है कि रचयिता एक प्रौढ़ कवि थे।

आगरे का इन्होंने बड़ा सुंदर और रोचक वर्णन किया है। अकबर बादशाह की भी प्रशंसा की है जिसमें गाय के प्रति उसकी प्रीति का उल्लेख है—

नंदौ श्री अकब्बर सुलितांन। महिमा सागर महा सुजान ॥६४॥
ताकै हृदै दया कै वासु। जीवनि कबहु देइ न त्रास ॥
तामैं एक अपूरब रीति। सुरभि सौं अति राषैं प्रीति ॥६५॥
गाइ सिंघ जू बसै इक ठौर। बैर भाउ नहीं राषैं और ॥
मुष मै जलु पीवै त्रनुषाई। अपनै मारग आवै जाइ ॥६६॥

प्रस्तुत रचना पहले मिल चुकी है (देखिए विवरणिकाएँ २३-३०९; २६-२६१)।

बालदास—इनके पाँच ग्रंथों—चिंताबोध, बालपुरान (भागवत), भागवत की अनुक्रमनी, मार्कंडेयपुराण, सर्वार्थपुराण—के विवरण लिए गए हैं जिनका उल्लेख रचनाकाल, लिपिकाल और विषय के क्रम से नीचे किया जाता है—

(१) चिंताबोध—इसकी दो प्रतियाँ मिली हैं। रचनाकाल, लिपिकाल किसी में नहीं दिया है। विषय सृष्टि की उत्पत्ति, सांसारिक कर्म और योग का वर्णन। इसमें निर्गुण मतानुसार भी ज्ञानोपदेश किया गया है।

(२) बालपुरान—रचनाकाल अज्ञात। लिपिकाल सं० १६५६। विषय भागवत दशमस्कंध के अनुसार श्रीकृष्ण की बाल-लीला का वर्णन।

(३) भागवत की अनुक्रमनी—रचनाकाल अज्ञात। लिपिकाल सं० १६२१। विषय भागवत की अनुक्रमणिका का वर्णन।

(४) मार्कंडेय पुराण—रचनाकाल अप्राप्त, लिपिकाल सं० १६५६। विषय मार्कंडेय पुराण की टीका।

(५) सर्वार्थपुराण—रचनाकाल सं० १८४४। प्रति अंत से खंडित है, अतः लिपिकाल अज्ञात। विषय वेद, पुराण और षट्शास्त्रों के आधार पर ज्ञानोपदेश।

रचयिता का वृत्त केवल अंतिम ग्रंथ सर्वार्थपुराण में दिया हुआ है जिसके अनुसार जन्मस्थान जयनगरा (रायबरेली जिला) था जहाँ अब भी इनके वंशज रहते हैं। इनके पुरखे पहले दयालपुर (?) में रहते थे जहाँ से इनके पिता नंदलाल सोनिकपुर आए और तत्पश्चात् जयनगरा में बस गए। अपने मातापिता के ये तीसरे लड़के थे। छोटी अवस्था में ही इन्हें ... हो गया था जिसके फल-

स्वरूप एक वाटिका में इनका प्राणांत हो गया। वास्तव में ये बालदास दूसरे ही थे। जिस समय वास्तविक बालदास का शरीर वाटिका में निर्जीव पड़ा था उस समय ये वृद्ध योगिराज के रूप में तीन शिष्यों के साथ दक्षिण से चले आ रहे थे। ये कितने ही युगों से केवल चोला बदल लिया करते थे और माता के गर्भ में जन्म धारण नहीं करते थे। यही बात इन्होंने अब भी की। सुंदर शरीर को देखकर उसमें प्रविष्ट हो गए। शिष्यों को उपदेश दिया कि वे ही सत्य-सुकृत के रूप हैं। कबीर आदि जितने भी निर्गुन पंथ के संस्थापक हुए उन सबके वे ही गुरु थे। चरणदास स्वामी के गुरु भी वही थे। संवत् १८४० के एक भीषण अकाल का इन्होंने उल्लेख किया है जिसमें एक स्त्री को अपना बच्चा काटकर पकाते और खाते हुए देखा था, जिससे ये अत्यंत मर्माहत हुए। पीछे लोगों के कहने-सुनने पर अकाल का निवारण किया। उक्त घटना जिस दिन हुई उस दिन इन्होंने अन्न ग्रहण नहीं किया और रात को दो मलार गाए जिसके फलस्वरूप प्रातःकाल दो दंड तक अच्छी वर्षा हुई। पश्चात् साथियों सहित हरिग्राम गए जहाँ राजा रामदेव द्विवेदी का पक्ष लेकर खेरी लखीमपुर के राजा और नवाबों के साथ घोर युद्ध किया। अंत में ये विजयी हुए। राजा रामदेव को उमरी ग्राम में आम के पेड़ के नीचे ज्ञानोपदेश कर वापस चले आए। इनका जन्म संवत् १८०८ में हुआ और संवत् १८२० में इन्होंने दीक्षा ली। ये पक्के वैष्णव थे और निर्गुन-सगुन दोनों के प्रतिपादक थे। दोनों विषयों पर इन्होंने रचनाएँ कीं। सर्वार्थपुराण के आरंभ के अंश और बालपुरान की पुष्पिका के अनुसार ये तिवारी (? दयालपुर के त्रिपाठी) थे तथा इनके गुरु का नाम, गायत्री सहाइ (जैसा कि सर्वार्थपुराण में है) था जो महाराजगंज (?) के निवासी थे। सर्वार्थपुराण की प्रस्तुत प्रति मूल प्रति विदित होती है—

श्रीगणेशाय नमः श्री सरस्वत्यै नमः ॥ श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः अथ सर्वार्थ पुराणे वेदांत सर्वं पुराण व षट्शास्त्र मते कृत बालदासे त्रिपाठी दयालपुर के महाराजगंज के गुरु गायत्रीसहाइ संवत् १८४४ मिति पौष वदि १३ त्रयोदशी ग्रंथ की उत्पत्ति भई नगर उमरी कथा के श्रोत्वा तेहि के हित शरणराम नाम द्विवेदः"

बालपुरान की पुष्पिका

इति श्री हरिचरित्रे दसम असकंधे महापुराने श्री भागवते वक्ता श्रोता मन वांछीत फद्रिसेते ॥ किशन औतार की कथा बालदास तेवारी बरनने नाम नवासिमो अध्याय ॥८९॥

सर्वार्थपुराण से

तेहि दयालपुर तें नंदलाला। आये सोनिकपुरहि विशाला ॥
तेहिते आइ बसै जैनगरा। जहाँ बसत द्विज सब गुन अगरा ॥
जैनगरा भा जन्म मम, सम विद्या सम भोग।
बीते द्वादश वर्ष के, तब दीनो गुर जोग ॥
संवत सत पुरान १८ अरु सिद्धी। तब जैनगरा जन्म प्रसिद्धी ॥
रिद्व पुष्पि वैशाख उजेरी। पाँचै तिथि अरु चरन उभैरी ॥

प्रस्तुत ग्रंथों में केवल 'सर्वार्थपुराण' ही रचयिता की प्रधान कृति है जो उपर्युक्त ऐतिहासिक विवरण के कारण और अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है। रचयिता 'चिंताबोध' ग्रंथ के साथ पिछली खोज-विवरणिकाओं (१७—१४; २६—३१) में आ चुके हैं। इस बार इसके चार अन्य ग्रंथ और मिले हैं और साथ ही साथ इनका विस्तृत विवरण भी उपलब्ध हुआ है।

भावन (भवानीदत्त)—इनका उल्लेख 'शक्तिचिंतामणि' ग्रंथ के रचयिता के रूप में पिछली खोज-विवरणिका (६—२८) में हो चुका है, पर अभी तक इनका वास्तविक वृत्त अज्ञात था। उक्त विवरणिका में इनका जो वृत्त दिया है वह अशुद्ध है जिसको स्वयं विवरणिका-लेखक (पं० श्यामविहारी मिश्र) ने भी संदिग्ध माना है। उसमें इन्हें अयोध्या-नरेश महाराज मानसिंह का भतीजा, भैया त्रिलोकीनाथ सिंह लिखा है। इस बार ग्रंथ की दो प्रतियों के विवरण लिए गए हैं जिनमें इनका ठीक-ठीक परिचय दिया हुआ है। इसके अनुसार ये गंगा के उत्तर तीन योजन पर स्थित मयूरध्वज (? मौरावाँ, जिला उन्नाव) के निवासी थे, जहाँ एक पवाँर क्षत्री राजा राज करता था। इन्होंने अपनी वंशावली इस प्रकार दी है—भावदत (? छितुपुरी पाठक)—शीतलशर्म (इनके सात भाई और थे)—गंगप्रसाद (तीन भाई और थे)—भवानीदत्त भावन (रचयिता), फणींद्रदत्त।

ये पाठक ब्राह्मण थे और 'भावन' उपनाम से कविता करते थे।

इस वृत्त का समर्थन 'शिवसिंहसरोज' द्वारा भी होता है जिसमें इनका उल्लेख 'काव्यशिरोमणि' अन्य नाम 'काव्यकल्पद्रुम' के रचयिता के रूप में हुआ है। उसमें दिया हुआ इनका वृत्त इस प्रकार है—

"भावन कवि, भवानीप्रसाद पाठक मौरावाँ, जिले उन्नाव के सं० १८९१ में उ०।"

इसमें उल्लिखित संवत् अशुद्ध है। जैसा कि ग्रंथ की प्रस्तुत प्रतियों में दिया गया है, यह संवत् १८५१ होना चाहिए—

> ससि १ सर ५ धृति १८ संवत प्रगट, मधु रितु माधव मास।
> शुक्ल पक्ष गुर पंचमी, कीन्हो ग्रंथ प्रकास ॥ ३८ ॥

पिछली दो अन्य विवरणिकाओं (२३—५२ सी; २६-५७) में भी इस ग्रंथ का उल्लेख है, पर उनमें इनका वृत्त नहीं दिया है।

इस ग्रंथ के अतिरिक्त प्रस्तुत रचयिता की दो रचनाएँ 'कवित्त' और 'बरवै' नाम से और मिली हैं। ये सब काव्य की दृष्टि से उत्तम कृतियाँ हैं। इनका विवरण रचनाकल, लिपिकाल और विषय के क्रम से नीचे दिया जाता है—

(१) कवित्त—रचनाकाल अज्ञात। लिपिकाल संवत् १८७३। विषय शृंगार, भक्ति और ज्ञानोपदेश।

(२) बरवै—रचनाकाल अविदित। लिपिकाल संवत् १८७३ वि०। विषय शृंगार-काव्य जिसमें ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र-चारों वर्णों की स्त्रियों का रसपूर्ण वर्णन है।

(३) शक्ति-चिंतामणि—रचनाकाल सं० १८५१ वि०। इसकी दो प्रतियाँ मिली हैं जिनमें लिपिकाल क्रमशः संवत् १८७३ और १९४४ हैं। विषय नवरस और नायिकाभेद।

अंतिम ग्रंथ की सं० १८७३ वाली प्रति में पूर्वोक्त दोनों रचनाएँ लिपिबद्ध हैं जिसके आधार पर ये तीनों रचनाएँ एक ही रचयिता की मानी गई हैं, जो ठीक जान पड़ता है।

भूधरदास (जैन)—इनका उल्लेख पिछली खोज-विवरणिकाओं (००-१०९; २३-५८; २६-५०) में कई ग्रंथों के साथ हो चुका है। उक्त रिपोर्टों के आधार पर ये आगरा-निवासी खंडेलवाल जैन और संवत १७८१ के लगभग वर्तमान थे। इनका दूसरा नाम भूधरमल था।

इस बार इनका एक और नवीन ग्रंथ 'पार्श्वनाथ पुराण भाषा' नाम से मिला है जो इसी नाम के संस्कृत ग्रंथ का भाषानुवाद है। रचनाकाल संवत् १७८९ है। इसकी पाँच प्रतियों के विवरण लिए गए हैं जिनमें से केवल तीन में लिपिकाल दिए हैं जो क्रमशः संवत् १८१८, १८८२ और १९०० हैं। यह अधिकतर दोहे-चौपाइयों में रचा गया है, पर कवित्त, छप्पय और सोरठे भी प्रयुक्त हुए हैं। इसके

द्वारा रचयिता के विषय में कोई नवीन बात नहीं विदित होती। परंतु इसे पढ़ने से ज्ञात होता है कि ये एक प्रौढ़ कवि थे। इस ग्रंथ को इन्होंने अधिकतर स्वतंत्र रूप से रचा है। मूल संस्कृत ग्रंथ का तो केवल आधारमात्र लिया है। यहाँ इसमें से एक दोहा उद्धृत किया जाता है जिसमें बड़ी सुंदर कल्पना और मार्मिक उक्ति से काम लिया गया है—

पिता नीर परसै नहीं, दूर रहै रवि यार।
ता अम्बुज मैं मूठ अलि, उरझि मरै अविचार॥

अर्थात् पिता नीर जिसका स्पर्श तक नहीं कर सकता और प्रेमी सूर्य भी जिससे दूर ही रहता है ऐसी कमिलिनी में, हे मूढ़ अलि, तू उलझकर मरता है। क्या यह अविचार नहीं?

रचनाकाल का दोहा इस प्रकार है—

संवत् सत्रह सै समै, और नवासी सीय।
सुदि अषाढ़ तिथ पंचमी, ग्रंथ समापित कीय॥१२६॥

मदनगोपाल कवि—ये 'अर्जुन-विलास' नामक ग्रंथ के रचयिता हैं और इसके साथ खोज-विवरणिका (२३-२५०) में उल्लिखित हैं। उक्त विवरणिका में इनका बहुत थोड़ा परिचय दिया है जिसके अनुसार ये फतूहाबाद (अवध) के निवासी, संवत् १८७६ के लगभग वर्तमान और राजा अर्जुनसिंह के आश्रित थे। इससे यह पता नहीं चलता कि राजा अर्जुनसिंह कहाँ के राजा थे और रचयिता किस वर्ण, किस जाति के थे तथा उनके पिता आदि का नाम क्या था। इस बार उपर्युक्त ग्रंथ की एक प्रति का विवरण लिया गया है जिसमें इन सब बातों के संबंध में विस्तृत और पूरा विवरण दिया गया है। इसके अनुसार रचयिता कान्यकुब्ज ब्राह्मण और फतूहाबाद (अवध) के रहनेवाले थे। पिता का नाम गंगाराम था जो फतूहाबाद में आकर बस गए थे। इनके (रचयिता के) छः भाई और थे जिनके नाम नहीं दिए हैं। ये बलरामपुर (अवध) के राजा अर्जुनसिंह के आश्रय में रहते थे जिनके पुत्र के जन्म के अवसर पर इन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की। राजा अर्जुनसिंह जनवारवंशी थे। उनके पुरखे गुजरात के रहनेवाले थे जहाँ किसी अकोना (? पकोना) स्थान में उनका राज्य था। उसमें से माधोसिंह नाम के एक राजा ने अकोना का राज्य अपने भाई गनेसराइ को देकर बलरामपुर (गोंडा, अवध) में आकर अपनी राजधानी स्थापित की। इन्हीं के वंश में राजा अर्जुनसिंह हुए। इनकी वंशावली इस प्रकार दी हुई है—

विदित जगत जनवार को, वंस बसत गुजरात।
तिनमैं राजकुमार कौ, सुनी अकौना बात ॥१४॥
माधौसिंह महीप तब, भए तेज जस धाम।
राज कियो कुछ वर्ष पुनि, भाइहि लषि गुनधाम ॥१७॥
बुधि बल सदृश गणेश के, नाम गनेससराइ।
जोगराज के काज को, सेवक निज अरु भाइ ॥१८॥
दयौ यकौना (?) राज त्यहि, राजनीति समुझाइ।
आइ आपु बलरामपुर, लीन्हो राज बसाइ ॥१६॥
'माधोसिंह' महीप के, सुत कल्यान जुत साहि।
राज कियो जब सुर सभहि, पितु गै दै पद ताहि ॥२३॥
हृदयज भूप कल्यान के, प्रानचंद महिपाल।
अरिन काल अर्थिन कलप-वृत्त प्रजन पितु आल ॥२४॥
तिनके जुगल कुमार भे, जेठ नृपति हरिवंस।
छोटे सिंह बसंत मनु, मनु पुत्रन के अंस ॥२५॥
गे हरिपुर हरिवंस जब, छत्रसिंह भे भूप।
कलि में द्वापर के सदृस, धर्म चलाय अनूप ॥
फतैसिंह जुवराज कै, छत्रसिंह महाराज।
लषि समरथ सौपा सकल, करो राज को काज ॥
फतैसिंह के तीनि सुत, जेठे सिंह अनूप।
पुनि पहार अरु रूपसिंह, तीनिउ वीर सरूप ॥
पंचभूत तें पाँच सुत, जाए सिंह अनूप।
जिनकी करनी को करी, कविन कंठमनि रूप ॥
ककुलतिसिंह दलेल जू, रामसिंह जसवंत।
सिंह सरौं साँवल हरी, पाँचौ सुभ गुनवंत ॥
नवलसिंह महाराज भे, ककुलितसिंह तनूज।
पृथीपाल पीछे पहुमि, मघिन राउ अस दूज ॥
तिनके सुत जाए जुगल, बड़े बहादुर सिंह।
पुनि अर्जुन अर्जुन दुवो, की सरि अरिगजसिंह ॥

राजा अर्जुनसिंह के पुत्र का नाम दिग्विजयसिंह था, जिसके जन्म-समय पर रचयिता ने प्रस्तुत ग्रंथ रचना आरंभ किया था।

ग्रंथ की प्रस्तुत प्रति में रचनाकाल संवत् १८७६ और लिपिकाल सन् १२७० (? फसली) दिए हैं। इसमें व्याकरण, नीति, न्याय, ज्योतिष, काव्य और वैद्यक आदि विविध विषयों का वर्णन है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है।

कवि का वृत्त इस प्रकार है—

कान्यकुब्ज श्रीनाभि भो, शक्रनाभि मष तुल्य।
विद्यापति धनपति विदित, भे तिनके नरकुल्य ॥१०॥
नाभिवंस पुनि वंसकर, गंगाराम प्रसिद्ध।
वसे 'फतूहाबाद' मैं, विद्या धन जन रिद्ध ॥११॥
तिनके गृह सुर सदृश सुचि, भये सकल सुज्ञान।
छहलौं सतए भै 'मदन', एक परम अज्ञान ॥१२॥

रामप्रसाद निरंजनी (साधु)—इनका उल्लेख 'योगवासिष्ठ' ग्रंथ के साथ खोज-विवरणिका (१६—१६१) में हो चुका है जिसके अनुसार ये संवत् १७९८ के लगभग वर्तमान और पटियाला की महारानी के यहाँ कथावाचक थे। उक्त ग्रंथ की एक छपी हुई प्रति का विवरण इस बार भी लिया गया है जिसमें ग्रंथ के विषय में इस प्रकार कहा गया है—

"अब इसके भाषांतर होने का हाल वर्णन किया जाता है। अनुमान डेढ़ सौ वर्ष के व्यतीत हुए कि पटियाला नगर नरेश श्रीयुत साहबसिंह जी वीरेश की दो बहिनें विधवा हो गई थीं इसलिये उन्होंने साधु रामप्रसाद जी निरंजनी से कहा कि श्री योगवाशिष्ठ जो अति ज्ञानामृत है सुनाओ तो अच्छी बात है। निदान उन्होंने योगवाशिष्ठ की कथा सुनाना स्वीकार किया और उन दोनों बहिनों ने दो गुप्त लेखक बैठा दिये ज्यों ज्यों पंडित जी कथा कहते थे वे प्रत्यक्षर लिखते जाते थे, जब इसी तरह कुछ समय में कथा पूर्ण हुई तो यह ग्रंथ भी तैयार हो गया। जो कि इसमें कथा की रीति थी कुछ उल्थे का प्रकार था और पंजाबी शब्द मिले हुए थे प्रथम यह ग्रंथ ऐसा ही मुंबई नगर में अगहन संवत् १९२२ में छपा। जब इसका इस भाँति प्रचार हुआ और ज्ञानियों को कुछ इसका सुख प्राप्त हुआ तो चारों ओर से यह इच्छा हुई कि यदि पंजाबी बोलियाँ और इबारत सुधार कर यह पुस्तक छापी जावे तो अति उत्तम हो। तथा च श्रीमान् मुंशी नवलकिशोर जी ने वैकुंठवासी प्यारेलाल शर्मा कश्मीरी को आज्ञा दी और उन्होंने बोलियाँ बदल कर और जहाँ तहाँ की इबारतें सुधार कर उनकी आज्ञा का प्रतिपालन किया। परम शिष्ट पंडितों के द्वारा यह ग्रंथ तीन बार शुद्धतापूर्वक छप चुका है और अब कानपुर

निवासी भगवानदास जी वर्मा द्वारा संपादित होकर फिर चौथी बार प्रकाश होने का अवसर मिला है—परमानंद कारण हुआ।"

यह ग्रंथ खोज में पहले भी मिल चुका है, देखिए विवरणिका (२९—१६१ ए, बी, सी,)। यह खड़ीबोली के व्यवस्थित और परिष्कृत गद्य का सबसे प्राचीन ग्रंथ माना जाता है; परंतु भूमिका के उपर्युक्त अवतरण से अब यह निश्चित हो गया कि यह धारणा ठीक नहीं। मूल ग्रंथ पंजाबी-मिश्रित खड़ीबोली गद्य में था जिसको खड़ीबोली का परिष्कृत गद्य नहीं कह सकते।

ग्रंथ की प्रस्तुत प्रति में रचनाकाल नहीं दिया है। लिपिकाल संवत् १६६० है।

शंभुनाथ त्रिपाठी—इस बार इनकी चार रचनाओं (१) कवित्त, (२) कृष्णविलास (भागवत दशम), (३) जातकचंद्रिका, (४) मुहूर्त-चिंतामणि या मुहूर्तमंजरी के विवरण लिए गए हैं जिनमें से प्रथम दो नई हैं और शेष दो पिछली विवरणिकाओं में आ चुकी हैं, देखिए विवरणिकाएँ (६—२३४; २६—४२०; २०—१७३; २३—३७१ बी, सी, डी)। 'कवित्तों' में शृंगार-विषयक सवैया और कवित्त हैं। इनकी प्रस्तुत प्रति खंडित है और उसमें रचनाकाल और लिपिकाल नहीं हैं। 'कृष्णविलास (भागवत दशम)' में श्रीकृष्ण-चरित्र का काव्य शैली में सुंदर और सरस वर्णन किया गया है। इसे रचयिता की प्रधान कृति समझना चाहिए। इसमें रचनाकाल दिया तो है पर वह अस्पष्ट है—

साको बीति गयो तहाँ, रस पर्वत औ भूप।
सगुन उज्यारी पंचमी, भादौ मास अनूप॥ ७॥

लिपिकाल संवत् १९२३ है। रचना अधूरी है। पैंतीस अध्याय लिखने के पश्चात् रचयिता का स्वर्गवास हो गया था। अतः यह रचयिता की अंतिम कृति है। इसमें मातृक और वर्णिक दोनों वृत्तों में रचना की गई है।

रचयिता दौंरिया खेड़ा (बैसवाड़ा, रायबरेली) के राव रघुनाथसिंह के आश्रित थे। उपर्युक्त रिपोर्टों के अनुसार वे संवत् १८०३ के लगभग वर्तमान थे—

सभा मध्य बैठे हुते, येक समै रघुनाथ।
मंत्री मित्र पंडित सुभट, बंधु वृंद लै साथ॥

× × ×

तहँ कवि संभूनाथ कों, लीन्हों निकट बोलाइ।
सादर नजरि सुकरि हिये, परम प्रेम उपजाइ॥ ४॥
दुरित हटै जाके पढ़ै, कटै विकट भव बंध।
कह्यौ हमै करि दीजिए, भाषा दशम स्कंध॥ ५॥
तिनको आयसु पाइके, हिये हरषि कवि संभु।
गौरि गनेसहि पूजिकै, ताछन कियो अरंभु॥ ६॥

× × ×

कान्ह कुवर वृज वधुन को, वरन्यो यामै रास।
नाम धर्‍यौ यहि ग्रंथ को, याते 'कृष्ण-विलास'॥ ८॥

पुष्पिका के पश्चात्—

ह्याँ लगि वरन्यो दसम मे, रामकृष्ण के ष्याल।
विधिवस ते फिरि ह्वै गयो, संभुनाथ को काल॥ १॥

इनकी कविता का नमूना दिया जाता है—

जब सुनी गोपिकन मधुर तान।
ह्वै गईं मुरछित गुन निधान।
ह्वै गए सिथिल भूषन दुकूल।
कुस केसन ते छुटि परे फूल॥७१॥

× × ×

अरे कुशील कुमति अपकारी कहाँ अधम अब जैहै।
कोटिन जतन किए न बाँचिहै तोहि काल धरि षैहै।
यह कहि दपटि धरयौ मधुसूदन छीनि गोपिका लीन्ही।
छीनि अमल मनि लई अधम की बड़ी चोप (? ट) सिर दीनी॥७५॥

शिवराज महापात्र—इन्होंने 'कृष्णविलास' और 'रससागर' नामक दो ग्रंथों की रचना की जिनमें एक ही विषय रस और नायिकाभेद का वर्णन है। दोनों ग्रंथों की प्रस्तुत प्रतियाँ खंडित हैं। पहले ग्रंथ की प्रति में तो आठ ही पत्रे हैं जिनमें रचनाकाल, लिपिकाल और रचयिता के वृत्त का कोई उल्लेख नहीं मिलता। दूसरे ग्रंथ की प्रति में रचनाकाल संवत् १८६६ दिया है, पर लिपिकाल उसमें भी नहीं है। सौभाग्य से इसमें रचयिता और उसके आश्रयदाता का वृत्त विद्यमान है, जो इस प्रकार है—

महापात्र के वंश में कविराज प्रकट हुए। उनके सदानंद हुए जो कालिदास के सदृश गुणी थे। उनके पुत्र सुखलाल थे। इन्हीं सुखलाल के वंश में शिवराज महापात्र हुए। इनके वंश के लोग भाषा में नहीं बोलते थे। केवल इन्होंने ही भाषा में कविता करना आरंभ किया। ये रामपुर के राजा राय बैरिसाल के आश्रय में रहते थे जो मझौली (गोरखपुर) के राजाओं के वंशज थे। इनके वंश का कवि ने बड़ा विस्तृत वर्णन किया है। ग्रंथ में वह पत्र नहीं है जिसमें राजाओं का वर्णन प्रारंभ हुआ है। प्राप्त अंश में नरपालसेनि से उल्लेख मिलता है। अतः वंशावली का जो अंश विद्यमान है वह क्रम से विवरणपत्र में दे दिया गया है। राजा बैरिसाल के पूर्वजों में से एक युवराज महावीर थे जिनका किसी कारण अपने बड़े भाई से मनमुटाव हो गया था। उन्होंने मझौली को त्याग दिया और सिंगरौर (रायबरेली) और मानिकपुर क्षेत्र की ओर गंगा के तट पर बसे रामपुरा राज्य को जीतकर अपने अधीन किया। डेरवा स्थान पर उन्होंने अपनी राजधानी स्थापित की। ये दिल्ली-नरेश के पास भी गए जिसने इनको मनसबदारी देकर मुलतान की लड़ाई पर भेजा। वहाँ से विजय प्राप्त कर लौटे तो बादशाह से 'रायराया' की उपाधि पाई। तब से रामपुरा के राजा 'राय' कहलाने लगे—

भए भोजमल्ल भूप के, जुगल सुवन छिति माँह।
जाहि सराहत सर्वदा, दिल्लीपति नरनाह॥
बड़े भए श्रीमहराज पटना सरजू तीर लौं,जाको राजत राज।
लहुए सुषद सनेह सुभ, महाबीर जुवराज॥
× × ×
तातें श्री महराज तें, बतकहाउ के माँह।
सहो परो नहि तेज तें, रूसि कढो नरनाह॥
आए बनबष बीच से, चलो वेगि जुगराज (? जुवराज)।
जथाबुद्धि वरनन करत, ताको सकल समाज॥
× × ×
बसो परगने पाँचि तिन, जाहिर सकल जहान।
रामपुरा ढिग बस सुषद, अरु डेरवा अस्थान॥
मानिकपुर सिंगरोर अरु, जहँ बावन उमराउ।
गरदोजी की नदं करि, छिनि लियो सब गाउ॥

पातसाहि ढिग जाइ जेन्द, पायो बहु सनमान।
मनसब सहित किताब जेहि, दीन्हो श्री सुलतान ॥

दीन्हो सुलतान मूलतान की मुहेम ताहि कीन्हो कतलान ते गनो न कोट षांयां को।
गव्वर गनीम गहि लीन्हो है पलक माह जब्बर रहे न कोऊ देस भेस नायां को।
कहै 'सिवराज' श्री विसेनवंस सिरताजु हाजिर हजूर मे भयो है जम आयां को।
पातसाह साहेब जो कीन्हो है मुसाहेब सो दीन्हों है हिताब सों किताब'रायराया' को ॥

दियो 'मल्ल' ते 'राय' तब, दियो नयो फरमान।
विदा कियो जुवराज को, दिल्लीपति सुलतान ॥
तब तें 'राय' कहावहीं, रामपुरा अनीप।
श्री विसेनवर सुजस जग, जाहिर जंबू दीप ॥

कवि वंस वर्णन

महापात्र के वंस मे, प्रगट महा कविराज।
जाहिर जंबूदीप मे, वर विद्या सुष साज ॥१॥
ताके सुत भे जगत मे, सदानंद मति धीर।
कालिदास ममहीपपर, गुनसागर गंभीर ॥२॥
ताके मे सुषलाल छिति, धीर धर्म के साज।
कृपा नेम आचार कों राजत ज्यौं रिषिराज ॥३॥
ता कुल में भो मंद मति, महापात्र सिवराज।

× × ×

भाषा जाके वंस मो, कबहु न बोलत कोइ।
ताकुल में सिवराज अब, भाषा कवि भो सोइ ॥

रचयिता ने श्री मुनि भट्टमयूर नामक एक व्यक्ति का उल्लेख बड़ी श्रद्धा से किया है जिसने गंडक के तट पर बड़ी तपस्या की थी। पता नहीं, ये कौन थे। गुरु के प्रसंग में यह उल्लेख हुआ है, अतः हो सकता है कि या तो ये कवि के गुरु थे या गुरु के पूर्व-पुरुष—

ऐसे गुरु चरन सरोज मन सेउ मेरे छोड़ि भव भावना भरम भ्रमना की है ॥२॥

श्री मुनि भट्टमयूर मे, सूरज कला प्रताप।
जाके ध्याये जगत मे, कटत कोटि संताप ॥३॥
गंडक तट तेहि निकट (नगर मझौली मध्य) मे, कीन्हो तप बहु भाँति।
सूरज [illegible] ॥४॥

रचयिता पिछली खोज-विवरणिका (२३-३९६) में 'कृष्ण-विलास' के साथ उल्लिखित हैं, पर उसमें इनका न तो वृत्त ही दिया है और न समय ही। अतः इसके संबंध की प्रस्तुत खोज महत्त्व की है। ये प्रौढ़ कवि थे। नीचे इनका एक सवैया और एक कवित्त दिया जाता है—

अथ वृद्ध जोवना जथा

नलिनी दल दीरघ लोचन मे मुनि की मनसानि लोभावहिंगे।
रति केलि कलापन मे सुकृति मनभावन के मन भांवहिगे।
कुच कंच कली सरि मे सजनी अति ही दुति को दरसाँवहिगे।
वह धर्मनिधान दिवाकर सो जेहि के कर तें सुष पावहिंगे॥

मुग्धा पंडिता जथा

प्रात समै प्यारो आली अति ही मुदित मन आयो अलसात गात पूरे प्रेम पाग्यो है।
भूले पट प्यारो वोढ़ि आयो भोन नवला के प्यारी कहो तातें जातें वोरे जेव जाग्यो है।
बसि भाँति दीजै रंगि मेरी सारी पीतम जू पीत-रंग अंमर सो नील रंग राग्यो है।
षेलिवे के मिस करि आँषि मूदि रस करि प्रान प्यारे हँस करि वेगि कंठ लाग्यो है॥

सबलसिंह चौहान—ये अपने 'महाभारत' के लिये प्रसिद्ध हैं; परंतु अब तक इनका जो कुछ वृत्त विदित हुआ था वह संदिग्ध और अस्पष्ट था। इस बार इनके 'कर्णपर्व' (महाभारत) की एक प्रति के विवरण लिए गए हैं जिसमें रचना-काल संवत् १७३४ और लिपिकाल संवत् १९३६ दिया है। इसके अनुसार ये चंद-गढ़ (?) के राजा मित्रसेनि के पुरखों में से एक सिपाही थे। अन्य वृत्त फिर भी अज्ञात ही है। इनका उल्लेख पिछली कई विवरणिकाओं में हो चुका है, देखिए विवरणिकाएँ (४-६६; ६-२२४ ए; १२-१६; पं० २२-९७; २३-३६३; २६-४१२)। इनमें इनका दूसरा नाम 'शबलश्याम' भी लिखा है जो अशुद्ध है। 'शबलश्याम' इनसे भिन्न थे (आगे 'शबलश्याम' पर टिप्पणी देखिए)। इन्होंने अपना जो वृत्त दिया है वह इस प्रकार है—

भूमि नाम गढ़ चंद विराजत। मित्रसेनि तह भूपति राजत॥
जे नृप के पुरिषन मंह आही। सबलसाहि चौहान सिपाही॥
तिन यह भारथ भाषा कीन्हो। जब अज्ञा श्री रघुपति दीन्हो॥
सुकुल पक्ष अस्वनि के मासहि। तिथि पंचमि कियो कथा प्रकाशहि॥
संवत् सत्रह सै चौतीसा। औरंग साहि दिलीपति ईसा॥

सबलस्याम (शबलश्याम)—इन्हें महाभारत-रचयिता सबलसिंह चौहान कहा जाता है, जो ठीक नहीं। उक्त रचयिता से ये भिन्न व्यक्ति हैं। इस बार इनके 'भाषा भागवत दशमस्कंध' की एक प्रति के विवरण लिए गए हैं जो संवत् १६०६ की लिखी हुई है। इसके अनुसार ये संवत् १६८८ में उत्पन्न हुए थे और अमोघा नगर (अमोढ़ा राज्य, जिला बस्ती) के निवासी थे। ये अपने को राजा कहते हैं—

सम्वत सोरह सै अट्ठासी जन्म भयो छिति आई।
'सवलस्याम' पुर पुण्य ते नगर अमोघा में परे देखाइ ॥४२३॥
राजा सवलश्याम कृत, दशमोत्तर असकंध।
यह समाप्त प्रमुदित भयो, संयुत छंद प्रबंध ॥४२४॥

ग्रंथ-स्वामी (डा० रामसिंह, अध्यापक, ग्राम बभनगाँवाँ, डाकघर अमोढ़ा, जि० बस्ती) जो अपने को इनका (सबलस्याम का) वंशज बतलाते हैं, इनका वंशवृत्त इस प्रकार देते हैं—

राजा कंसदेव नारायण (अमोढ़ा के प्रथम राजा जो अलमोड़ा अस्कोट से आए थे) की सत्ताईसवीं पीढ़ी में महाराजा दलसिंह हुए जिनके पुत्र वीरसिंह, फतेसाह और सबलसाहि (सबलस्याम, रचयिता) थे। इनमें वीरसिंह की संतति इस प्रकार चली—वीरसिंह—संग्रामसिंह—साहेबसिंह—जालिमसिंह—पृथापतिसिंह—अभयसिंह—जंगबहादुर सिंह—रानी तलाश कुँवरि (पश्चात् राज्य अंग्रेजी शासन में ले लिया गया)।

ग्रंथस्वामी का यह भी कहना है कि सबलस्याम सूर्यवंशी थे और अमोढ़ा से एक मील पश्चिम प्रतापगढ़ में रहते थे। ये 'रुक्मिणीहरण', 'बालविस्तार रामायण', 'अमोढ़ा राज्य वर्णन' और 'दृष्टकूट' आदि के रचयिता हैं, पर ये रचनाएँ अप्राप्य हैं। इनके कथनानुसार सबलसिंह चौहान ने केवल महाभारत की ही रचना की।

रचयिता का इस बार पूरा विवरण उपलब्ध हुआ है, अतः इनके संबंध की प्रस्तुत खोज महत्त्व की है। ये प्रस्तुत ग्रंथ के साथ पिछली खोज-विवरणिकाओं (१२—१६० ए, बी, डी, ई, एफ; २३—३६३ ए; २६—४१३ ए, बी) में आ चुके हैं। खोज-विवरणिका (४४—४२८) में इनकी 'बरवै षट् ऋतु' का भी उल्लेख है जो काव्य की दृष्टि से सुंदर कृति है। इसमें संदेह नहीं कि सबलसिंह चौहान से ये काव्य-प्रतिभा में बढ़े-चढ़े थे।

ऐसी रचनाओं में जिनके रचयिता अज्ञात हैं, माधवानल कामकंदला, अपभ्रंश की एक रचना, षटपद् के भेद, सीतावनवास और कवित्त-दोहा-संग्रह मुख्य हैं।

माधवानल कामकंदला—यह यद्यपि संस्कृत रचना है, पर इसके बीच-बीच में अपभ्रंश और हिंदी के छंद भी प्रयुक्त हुए हैं जिसके कारण इसके विवरण लिए गए हैं। पूर्ण होते हुए भी इसमें रचनाकाल और लिपिकाल नहीं दिए हैं। इसमें माधव नामक एक ब्राह्मण और कामकंदला नाम की एक वेश्या के मार्मिक प्रेम का वर्णन है। परोपकारी महाराजा विक्रमादित्य ने इन दोनों प्रेमियों के विरह-कष्टों का निवारण कर इनका मिलन कराया था। इस प्रेम की मार्मिकता ने जन-समाज को इतना प्रभावित किया कि तब से इसका कथा के रूप में प्रचार होता आ रहा है। संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं के अतिरिक्त इस समय भारत की लगभग सभी भाषाओं में यह लिखित रूप में भी पाई जाती है। हिंदी में इस विषय पर खोज में तीन प्राचीन रचयिताओं की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जो इस प्रकार हैं:—

(१) आलम—माधवानल कामकंदला (र० का० सं० १६६०; हि० सन् ६६१)।

(२) हरिनारायण—माधवानल की कथा (र० का० सं० १८१२)।

(३) भीष्म—माधवविलास (र० का० लगभग सं० १८००)।

गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज से गणपति नामक एक कवि द्वारा सं० १५८४ में रचे गए 'कामकंदला-प्रबंध' (भाग १) का प्रकाशन हुआ है जिसके संपादक बड़ोदा कालेज के गुजराती प्राध्यापक श्री एम० आर० मजूमदार हैं। इसकी भाषा को पश्चिमी राजस्थानी या पिछली अपभ्रंश अथवा प्राचीन गुजराती कहा गया है; परंतु वह पुरानी हिंदी से पृथक् नहीं। उसका स्वरूप इस प्रकार है—

> चंदन केरी कंचुकी, रवि स्युं अति राजंति।
> कुच ऊपरि क्रीडा करइ, खट्पद बइठउ खंति ।।५०।।
> शिरि चालइं शोणित घणउँ, प्रमदा पीडि अपार।
> न्यास-पवन प्रगडउ करी, ऊडाडिउ लिणि वारि ।।५१।।

इस रचना (कामकंदला-प्रबंध) के साथ अंत में इसी कथावस्तु को लेकर तीन अन्य रचनाएँ भी परिशिष्टों के रूप में दी गई हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) कवि आनंदधर कृत--माधवानलाख्यानम् (संस्कृत)।

(२) वाचक कुशललाभ कृत—माधवानल कामकंदला चौपई, रचनाकाल सं० १६१६; लि० का० सं० १६७६)।

(३) कवि दामोदर कृत—माधवानल कथा (लि० का० सं० १७३७)।

प्रथम रचना को छोड़कर शेष दोनों रचनाएँ भी राजस्थानी में ही हैं, अतः इन्हें भी हिंदी की ही रचनाएँ समझना चाहिए। इनकी भाषा की बानगी क्रमशः इस प्रकार है—

माधवानल-कामकंदला चौपई से—

संवत सोल सोलोत्तरइ, जेसलमेरु-मझारि।
फागुण सुदि तेरसि दिवसि, विरची आदित वारि ॥६५७॥
गाहा गूढ़ा (? दूहा) चउपई, कवित्त कथा संबंध।
कामकंदला कामिनी, माधवनल-संबंध ॥६५८॥
'कुशललाभ वाचक' कहइ, सरस चरित सुप्रसिद्ध।
जे वाचइ जे संभलइ, त्रिया मिलइ नवनिद्ध ॥६५९॥

× × ×

माधवानल-कथा से—

कामा द्विज रंगइ रमइ, दिन दिन लील विलास।
विक्रम राजाइं मेलव्या, ऊजेणी मांहे वास ॥७८६॥

× × ×

माधव-केरा गुण कह्या, अवगुण नहीं लगार।
कवि दामोदर इम कहइ, सुख भोगवइ संसार ॥७९२॥

प्रथम रचना, कवि आनंदधर कृत 'माधवानलाख्यानम्' की शैली खोज में उपलब्ध प्रस्तुत रचना से मिलती है। अंतर केवल इतना ही है कि उसमें प्रस्तुत रचना की तरह हिंदी के छंद प्रयुक्त नहीं हुए हैं। मिलान करने पर दोनों के प्रारंभ के अंश और अपभ्रंश के सभी छंद, थोड़े से पाठभेदों को छोड़कर, मिलते हैं। मध्य और अंत के संस्कृत अंश नहीं मिलते। खोज में प्राप्त रचना के मध्य और अंत के अंश विवरणपत्र में इस प्रकार उद्धृत हैं—

कामकंदला जाचोक्तं—

हे माधव त्वं मम निज गुणान् ददर्शः ॥ त्वं महा गुणिनः संतियतः ॥

जजहं रसेन रसियं सोतं पिखेण अमीय सारिछं।

भसला रम्मंति णलणी घुण कीडा सुष्क कठाइं ॥
भमरो जानै रस विरस, जो चुंबइ वनराइ ।
घुण क्या जाणइ वापुरा, जे सूषा लकरा षाइ ॥

अंत का अंश—

क्रमेण शैल सलीलेन भीद्यते । क्रमेण कार्यं विनयेन सिध्यते ॥
क्रमेण शत्रुः कपटेन हन्यते । क्रमेण मोक्षं युक्तेन गम्यते ॥

ये ही स्थल 'माधवानलाख्यानम्' में इस प्रकार हैं—

मध्य का अंश—

ततः कामकंदला चमत्कृता मनसि चिन्तितवती, अयं पुरुषः सर्वकलाकुशलो भरतशास्त्र पारगामी आगतोऽस्ति । अद्य मे सर्वाः कलाः सफला जाताः । यतो गाथा—

जो जेण रसेण रसिउ, सो तं पिच्छेइ अमियसारित्थम् ।
भमरो रमन्ति नलिणी, घुणकीडा सुक्क खण्डारम ॥४४॥
भमरा जाणइ रस विरसु, जो चुम्बइ वणराइ ।
घुणया क्या जाणइ बापुडा, जे सुक्क लक्कडा खाइ ?॥४५॥

अंत का अंश—

॥ फलश्रुतिः ॥

येनकेनाप्युपायेन कर्तव्यः पुण्यसंग्रहः ।
लभ्यते विविधं सौख्यं दीर्घायुर्मङ्गलं श्रियः ॥२३२॥
माधवानलसंज्ञं हि नाटकं शृणुयान्नरः ।
न जायते पुनस्तस्य दुःखं विरहसम्भवम् ॥२३३॥

विचार करने से विदित होता है कि ये दोनों रचनाएँ एक ही हैं । जो अंश नहीं मिलते उनका कारण यही है कि भिन्न-भिन्न लेखकों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार इस रचना में संशोधन और परिवर्धन किए हैं । हिंदी के छंदों के संबंध में जान पड़ता है कि किसी ने इन्हें पीछे मिलाया है । ये दोनों रचनाएँ निश्चित रूप से एक ही हैं, अतः इनका रचयिता आनंदधर के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता । विवरणपत्र में उद्धृत छोटे-छोटे उद्धरणों के आधार पर इन्हें अलग-अलग रचनाएँ मान लेना संदेह से रहित नहीं जान पड़ता, विशेषकर उस दशा में जब इनके आरंभ के अंश मिलते हैं ।

खोज में प्राप्त प्रति के आरंभ का अंश—

प्रणम्य परया भक्त्या हंसयानां सरस्वतीम् ।
तस्याः प्रसादमासाद्य करिष्यामि कथामिमां ॥ १ ॥

× × ×

अस्ति पुष्पावती नाम नगरी तत्र गोविंदचंद्रो नाम राजा तस्य राज्ञीनां सप्तशतानि तासां मध्ये रुद्रमहापट्टराज्ञी श्रेष्ठ वर्तते ॥ यतः ॥

श्यामा यौवनशालिनी मधुरवाक् सौभाग्यभाग्योदयात् ।
कर्णातायतलोचनातिचतुरा प्रागल्भ्य गर्वोन्विता ।
रम्या बाल-मराल-मंथरगतिर्म्मत्तेभ कुंभस्तनी ।
बिंबोष्ठी परिपूर्णचंद्रवदना सा नायका पद्मनी ॥ इति पद्मिनी ॥

माधवानलाख्यानम् का आरंभ का अंश—

प्रणम्य परया भक्त्या हंसयानां सरस्वतीम् ।
तस्याः प्रसादमासाद्य करिष्यामि कथामिमाम् ॥ १ ॥

अस्ति सकल संसारतिलकभूता पुष्पावती नाम नगरी । यत्र हि —

निरामया निरातङ्काः सन्तुष्टाः परमायुषः ।
वसन्ति यत्र पुरुषाः कालाऽज्ञाता इव प्रजाः ॥ २ ॥

तत्र गोविन्दचन्द्रो नाम राजा । तस्य राज्ञीनां सप्तशतानि भवन्ति । तासां मध्ये रुद्रा-महादेवी नाम पट्टराज्ञी वर्तते । सा की दृशी ।

श्यामा यौवनशालिनी मधुरवाक् सौभाग्यभाग्योदया,
कर्णान्तायतलोचनाऽतिचतुरा प्रागल्भ्य - गर्वान्विता ।
रम्या बालमरालमन्थरगतिर्मत्तेभकुम्भस्तनी,
बिम्बोष्ठी परिपूर्णचंद्रवदना भृङ्गालिनी लालका ॥ ३ ॥

'माधवानलाख्यानम्' की सभी अपभ्रंश की गाथाओं का अनुवाद संस्कृत श्लोकों में है । अनुवाद का एक नमूना उद्धृत किया जाता है—

गाथा—भ्रमरा जाणइ रस विरसु, जो चुम्बई वणराइ ।
घुणया क्या जाणइ बापुडा जे सुक लकडा खाइ ? ॥४५॥

संस्कृत—भ्रमरो जानाति रस विरसौ, यश्चुम्बति वनराजिम् ।
घुणः किं जानातु मन्दको, यः शुष्ककाष्ठानि खादति ? ॥४५॥

खेद है इन दोनों रचनाओं में से किसी में भी रचनाकाल, लिपिकाल और रचयिता का वृत्त आदि नहीं दिया हुआ है ।

अपभ्रंश की एक रचना—इसमें अपभ्रंश की छः गाथाएँ दी हुई हैं जो सूक्तियों के रूप में हैं तथा जिनका संस्कृत गद्य में अर्थ भी दिया हुआ है। एक विशेष बात यह देखने में आती है कि ये गाथाएँ पूर्वोक्त रचना 'माधवानल कामकंदला' (माधवानलाख्यानम्) में भी हैं। 'माधवानलाख्यानम्' में इन गाथाओं की क्रम-संख्याएँ १५, २९, ४५, ४६, ६० और ६४ हैं और उसमें इनका श्लोकबद्ध अनुवाद भी दिया है (पूर्वोक्त विवरण देखिए)। खोज में इनका केवल एक पत्र उपलब्ध हुआ है जिसमें न तो पुष्पिका ही दी हुई है और न रचनाकाल-लिपिकाल ही। रचयिता का भी उसमें नामोल्लेख नहीं।

इन गाथाओं में प्राचीन हिंदी के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं जिनको संस्कृत टीकाकार ने देशी लिखा है—

> भमरा जाणइ रसविरसं जो चुंबई वहु फुल्ल जाइ।
> घुण किं जाणइ वप्पुरा सुखी लाकरि खाइ॥

इसमें आए 'वप्पुरा' और 'लाकरि' को टीकाकार ने देशी शब्द लिखा है, इससे इस बात की पुष्टि होती है कि अपभ्रंश के परवर्ती काल के कवि देशी शब्दों का व्यवहार नियमित रूप से करने लगे थे, जिसके फलस्वरूप धीरे-धीरे अपभ्रंश का रूप हिंदी के रूप में बदलता गया।

इन देशी-शब्द-मिश्रित गाथाओं का समय वि० पंद्रहवीं शती से पहले का है। अपभ्रंश का समय पंद्रहवीं शती तक माना जाता है। नीचे दो गाथाओं को संस्कृत अर्थ सहित उद्धृत किया जाता है—

> दीसइ विविह चरिअं जाणीजइ सुअण दुज्जण विसेसो।
> अप्पाणं च कलिज्जइ हिंडज्जतेण, पुहवीए॥

अर्थ—दृश्यते विविध चरितं ज्ञायते सुजन दुर्जन विशेषः आत्मानं च कलये चतुरं अचतुरं भाग्यवतं अभाग्यत्वेन हिडिगमने दृश्यते गम्यते पृथिवी वीभ्रमणे एतादृशं ज्ञातं भवत्यर्थः॥

> मेहस्स जलं चंदनस्स सीअलं दिनकरस्स करप्फसं।
> सप्पुरिसाणं वित्तं जीवनं सअल लोअस्स॥

अर्थ—मेघस्य जलं चंद्रस्य सीतलं दिनकरस्य करस्पर्शः सत्पुरुषाणां वित्तं जीवनं सकल लोकस्य॥

षट्पद के भेद—इस रचना की प्रस्तुत प्रति खंडित है जिसमें केवल आठ

ही पत्र हैं। रचनाकाल, लिपिकाल और रचयिता का इसमें कोई उल्लेख नहीं। इसमें छप्पय (षट्पद) के निम्नलिखित तीस भेदों का वर्णन है—

अजय, विजय, बलि, कर्स्स, वीर, वेताल, वृहत्, मक्कल, हरि, हर, ब्रह्म, इंद्र, चंदन, सुशुभंकर, श्वान, सिंघ, शार्दूल, कुंभ, कोकिल, खर, कुंजर, मदन, मत्स्य, तालंक, सेल, सारंग, इष्ट, शर, सुशर, कुंद और कमल।

छप्पयों के जितने उदाहरण दिए गए हैं उनमें राम-रावण और महाभारत के युद्धों का ही वर्णन मिलता है। भाषा इनकी प्राचीन है। अतः विदित होता है कि यह उस समय की रचना है जब छप्पय छंदों का अधिक प्रचार था।

रचना का नाम नहीं दिया है। विषय को देखकर और आरंभ के दो दोहों के आधार पर ही इसका नाम 'षट्पद के भेद' रखा है—

गुरु लघु लो कुसुमनि वहे, नवरस में रसलीन।
षटपद के अवतार को, समुझो सुकवि प्रवीन ॥१॥
अजय विजय के भेद को, समुझो सकल सुजान।
कियो न ओर उदाहरन, याही ते पहिचान ॥२॥

इसमें प्रत्येक छप्पय की गुरु-लघु मात्राओं और समस्त अक्षरों की संख्याएँ भी दे दी गई हैं। नीचे दो उदाहरण दिए जाते हैं जिनमें से एक में राम-रावण युद्ध का और दूसरे में महाभारत के युद्ध का वर्णन है—

अजय नाम षट्पद यथा

आवंता जे दुग्ग धीर वीरा गाजंता।
मातंगा उत्तुंग जंग जुट्टे भाजंता।
सावंता जुझ्झार षग्ग धारा धावंता।
पीवंता जे संगि जुझ्झ जुझ्झे भावंता।
गावंती जित्ते अच्छरी, रूरा सूरा संचए।
रामो लंका रुसंत ए, सो देवा सिद्धा नंचए ॥१॥

ऽऽऽऽऽ।ऽ।ऽऽऽऽऽ
ऽऽऽऽऽ।ऽ।ऽऽऽऽऽ
ऽऽऽऽऽ।ऽ।ऽऽऽऽऽ
ऽऽऽऽऽ।ऽ।ऽऽऽऽऽ
ऽऽऽऽऽ।ऽ।ऽऽऽऽऽ
ऽऽऽऽऽ।ऽ।ऽऽऽऽऽ

गु० ७० ल० १२ अक्षर ८२ ॥

कुंद नाम षट्पद यथा

गिरत रथ्थि सारथ्थि सूर रन रंग गरज्जिय।
भिरत मत्त मातंग जंग करिवार तरज्जिय।
निरत संभु कप्पाल माल धर पघ लरज्जिय।
तिरत भूत वेताल सिंधु सोनिल भरज्जिय।
वाजंत जीति निसान वर, धीर वीर भारथ्थ किय।
सावंत भीर गंभीर मथि, सो सुग्ग भग्ग पारथ्थ दिय ॥२८॥

।।। ऽ । ऽ ऽ । ऽ ।।। ऽ ।। ऽ ।।
।।। ऽ । ऽ ऽ । ऽ ।।। ऽ ।। ऽ ।।
।।। ऽ । ऽ ऽ । ऽ ।।। ऽ ।। ऽ ।।
।।। ऽ । ऽ ऽ । ऽ ।।। ऽ ।। ऽ ।।
ऽ ऽ । ऽ । ऽ ऽ ।।। ऽ । ऽ । ऽ ऽ ।।।
ऽ ऽ । ऽ । ऽ ऽ ।।। ऽ । ऽ । ऽ ऽ ।।।

सीता-वनवास कथा—इस रचना के केवल चार ही पत्रे उपलब्ध हुए हैं जो अत्यंत जीर्ण-शीर्ण दशा में हैं और कैथी लिपि में लिखे हुए हैं। इनसे रचनाकाल, लिपिकाल और रचयिता के संबंध में कुछ भी विदित नहीं होता। इसमें सीता के वनवास की कथा का काव्य-शैली में बहुत सुंदर वर्णन किया गया है। रचना दोहा-चौपाई छंदों में की गई है। भाषा अवधी है। इस ग्रंथ की शैली ईश्वरदास (आचार्य शुक्ल कृत हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७२, ७३, ७४) कृत 'सत्यवती-कथा' की शैली से मिलती-जुलती है। अतः संभव है यह भी उक्त कवि ईश्वरदास की ही रचना हो। ये दिल्ली के बादशाह शाह सिकंदर (संवत् १५४६–७४) के समय में विद्यमान थे। पिछली खोज-विवरणिका (१९४४–४६ ई०) में उल्लिखित 'भरत-विलाप' और 'अंगद-पैज' भी इन्हीं की रचनाएँ हैं। मिलान के लिये इन रचनाओं से कुछ उद्धरण दिए जाते हैं—

सत्यवती की कथा से—

रोवै ब्याधि बहुत पुकारी। छोहन ब्रिछ रोवै सब भारी ॥
बाघ सिंघ रोवत वन माहीं। रोवत पंछी बहुत ओनाहीं ॥

× × ×

रिषिअन के राआ, पुछत हव मौ तोहि।
कैसै बाढै ही पाचौ पंडौ, चोषै अरथ सुनावहु मोहि॥

भरत-विलाप से—

रामचदर वन कीन्ह पेआना। राजा दसरथ बहुत पछताना॥
रामचदर छाडा असथाना। रोए नगर सकल परधाना॥
रोए सीआ सती वर नारी। रामलखन बीनु अवध उजारी॥

× × ×

घर घर रोअही पुरुष वर नारी। राह बाट रोए पनिहारि॥
मन मह रोवत पसु ओ पंछी। हाहाकार रोए जल मंछी॥

अंगद-पैज से—

इ सब वन्ना कदर भरी। कैसे करब खेत मह मरी॥
गढे इनक (? कर) कौन भरोसा। रहही की जही (? जाँहि) धौ अपने देसा॥
मोरी दोहई मंत्री चोषे पठवहु एक दूता।
वेगि जइ लै अवही वलिरइक पुत्रा (? बालिराइ के पूता)॥

सीता-वनवास-कथा से—

ताही निकुंज वन भीतर, शीता मेली लडाव।
कीकर गही षाड़शौ, कंठ करहुगे घाउ॥
अशा लछन मेटै ने पारा। रोअत निशरै पौरि दुआरा॥
बाहर पौरी परा मुरछाई। जानहु वीष कै वरीआ षाई॥
शारंथी शौ बोलै बीलषाई। रथ एक शाजी आनु रे भाई॥
शारंथी रंथ शाजी ले आवा। शोक मुरछाए लछन च···॥
लै शीता के आगे ठोकी रंथ घ···।
हर्ष मान भौ शीता लछन दुआ···॥

× × ×

रोअही चाद शुरज औ तारा। दशोहु दीशा रोअही दिरवाला (? दिग्वाला)॥
रोऐ जे लछन वन शंपति पा··· । वन मे म्रीगा रोअही जो आ···॥

भरत-विलाप, अंगद-पैज और सीता-वनवास-कथा एक ही कथा के अंग हैं। अतः इससे भी यही ज्ञान पड़ता है कि ये एक ही रचयिता की कृतियाँ हैं।

कवित्त-दोहा-संग्रह—इस त्रिवर्षी में मिले संग्रह-ग्रंथों में यह महत्त्वपूर्ण संग्रह है। इसमें शृंगार और भक्ति विषयक लगभग चौबीस कवियों के उत्तमोत्तम कवित्तों और दोहों का संग्रह किया गया है। कवित्त पहले दिए हुए हैं और तब दोहे हैं। कवियों के नाम इस प्रकार हैं—आलम, शेख, कवि वेनी, ब्रह्म, नरायन, मंडन, जगन, परबत, अनंत, अभिमन्यु, गंग, नवलसुजान, आनंद, जगतप्रसिद्ध, कविनाइक, भगवंत, अकबरसाहि, दयादेव, रहीम, गोकुल सुकवि, सम्मन, एदिल, कासिम, लालन या ललन।

इनमें से कुछ कवियों ने अपने कवित्तों में आश्रयदाताओं का उल्लेख किया हैं, यथा मंडन ने खान तुरकमान का, अनंत ने जहाँगीर का, अभिमन्यु ने अब्दुर्रहीम खानखाना का, गंग ने अकबर बादशाह के पुत्र दानिसाह (दानियल) का, नवलसुजान ने दारासाहि (शाहजहाँ का प्रथम पुत्र) का और कवि नाइक ने शाहजहाँ का उल्लेख किया है। जगतप्रसिद्ध ने तो जहाँगीर के उस फरमान का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार वैष्णवों को माला, कंठी, तिलक और छाप दूर करने की आज्ञा दी गई थी। इसका उस समय बड़ा विरोध किया गया था जिसमें सबसे अधिक पुरुषार्थ गो० गोकुलनाथ जी ने दिखाया था। इस घटना के पश्चात् जगतप्रसिद्ध सोरों चले गए थे—

रसना गोकुल नाथ कहि सिख मेरी मानु।
नाखिले ओर सवाद सब लखिले यहै सयानु॥
लखिले यहै सयानु माल टारी न गरे तें।
'जगतप्रसिद्ध' जिहि तजि तेव घटिहैं न मरे तें॥
ठोर ठोर चहुँ ओर फिरें फिटकारे जसना।
जानु यहै निरधार कहूं जीवन मे रस ना॥२५६॥
भजिहौं तुलसी माल कों, रजिहों करि यह नाऊ।
लजिहो नेकु न जगत मे, तजिहौं गोकुल गाँऊँ॥
तजिहौं गोकुल गाव साहि सो बोले हठ कें।
लेहो काकी पानि कोरि बसवैय्या मठ के॥
'जगतप्रसिद्ध' अब जात खेम सोरोंकों सजि हों।
करिहों कछु न कलेस ढोर तजि अनत न भजिहो॥२५७॥

यहाँ संग्रह से तीन दोहे उद्धृत किए जाते हैं जो भाव और कल्पना की दृष्टि से उत्तम हैं—

'सम्मन' रस की रीति, बूझो सीखो ईष पें।
रस ही में विपरीत, जहाँ गाँठि तहाँ रस नहीं ॥४०॥
'एदिल' दिल जाकों दियो, कियो हियें में भौन।
तासों सुष दुष कहन की, तथा रही धौं कौन ॥४३॥
मीन काटि जल धोइये, खाँएँ अधिक पियास।
बलि 'कासिम' या प्रीति की, जो मुएँ मित्त की आस ॥५१॥

नीचे विवरणिका के परिशिष्टों की सूची दी जाती है; जो इसके महत्त्वपूर्ण अंग हैं, पर स्थानाभाव से पत्रिका में नहीं दिए जा सकते। संपूर्ण विवरणिका उत्तरप्रदेश के राजकीय प्रेस से प्रकाशित होती है।

परिशिष्टों की सूची

परिशिष्ट १—ग्रंथकारों पर टिप्पणियाँ।

परिशिष्ट २—ग्रंथों के विवरणपत्र (उद्धरण, विषय, लिपि और कहाँ वर्तमान हैं, आदि विवरण)।

परिशिष्ट ३—उन महत्त्वपूर्ण रचनाओं के विवरणपत्र (उद्धरण, विषय, लिपि और कहाँ वर्तमान हैं, आदि विवरण) जिनके रचयिता अज्ञात हैं—

परिशिष्ट ४—(क) परिशिष्ट १ में आए हुए उन कवियों और रचयिताओं की नामावली जो आज तक अज्ञात थे। (ख) परिशिष्ट १ और २ में आए उन ग्रंथों की नामावली जो खोज में नवीन मिले हैं। (ग) काव्य-संग्रहों में आए हुए उन कवियों की नामावली जिनका पता आज तक न था।

परिशिष्ट ५—ग्रंथकार और उनके आश्रयदाताओं की सूची।

अंत में ग्रंथकारों और ग्रंथों की नामानुक्रमणिकाएँ दी गई हैं।

वासुदेवशरण अग्रवाल
निरीक्षक, खोजविभाग,
नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

नागरीप्रचारिणी सभा की हीरक-जयंती

काशी नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना अब से साठ वर्ष पूर्व, १६ जुलाई १८९३ को, तीन छात्रों—स्व० बाबू श्यामसुंदरदास, स्व० पं० रामनारायण मिश्र, ठा० शिवकुमार-सिंह—द्वारा हुई थी। सभा के साठ गौरवपूर्ण वर्षों की समाप्ति के उपलक्ष में उसके वर्तमान अधिकारियों ने आगामी वसंत-पंचमी को उसकी हीरक-जयंती मनाने का निश्चय किया है।

भारत एवं संसार के अन्य देशों में भी आज हिंदी को जो गौरव प्राप्त है तथा उसके द्वारा अभी तक देश की जो कुछ बौद्धिक और सांस्कृतिक सेवा संभव हुई है उसका सबसे अधिक श्रेय, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, नागरीप्रचारिणी सभा को ही है—ऐसा कहना उसकी अति स्तुति नहीं है। जब सभा की स्थापना हुई थी उस समय न तो हिंदी के आधुनिक साहित्य में अपना कहने योग्य विशेष कुछ था और न प्राचीन साहित्य में जो कुछ था उसमें ही शिक्षितवर्ग की आस्था थी। वस्तुतः उस समय हिंदी को अपनी भाषा कहने में भी स्वयं हिंदीभाषी शिक्षितवर्ग को संकोच होता था। भारतेंदु ने कुछ वर्ष पूर्व हिंदी के प्रति जो नई चेतना जगा दी थी उससे प्रेरित सभा के उत्साही कार्यकर्ताओं के उद्योग से उत्तर भारत में हिंदी-प्रचार का एक प्रवाह सा उमड़ पड़ा। जगह-जगह शाखा-सभाएँ स्थापित हुईं। अदालतों और विद्यालयों में नागरी लिपि और हिंदी भाषा को स्थान दिलाने का आंदोलन किया गया, जिसमें सफलता भी मिली। इसके अतिरिक्त साहित्य की समृद्धि के लिये सभा ने बहुत से ठोस काम किए; यथा नागरीप्रचारिणी पत्रिका एवं पृथ्वीराज रासो, रामचरितमानस, सूरसागर आदि प्राचीन ग्रंथों का संपादन तथा प्रकाशन; बृहद् हिंदी शब्दसागर, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी व्याकरण और वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दकोश का निर्माण तथा प्रकाशन; हिंदी के प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों की खोज; आर्यभाषा पुस्तकालय की स्थापना; इत्यादि। 'सरस्वती' (मासिक पत्रिका) तथा अखिल-भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का आरंभ भी सभा के द्वारा ही हुआ था। आज भी सभा हिंदी भाषा और साहित्य की उन्नति द्वारा राष्ट्र की बहुमूल्य सेवा में तत्पर है। अपने इन्हीं महत्त्वपूर्ण कार्यों के कारण सभा गौरवशालिनी है। उसकी हीरक-जयंती मनाने का शुभ संकल्प सर्वथा अवसरोचित है।

हीरक-जयंती मनाने का उद्देश्य केवल पुराने महत्त्वपूर्ण कार्यों का स्मरण कर हर्षोद्रिक्त होना नहीं है। भविष्य में जिससे सभा द्वारा हिंदी भाषा और साहित्य की और भी उपयोगी सेवा हो सके, ऐसा पथ प्रशस्त करने के लिये विगत साठ वर्षों में हुए सभा के कार्यों तथा हिंदी भाषा और साहित्य एवं देश की भाषाओं की प्रगति का लेखा-जोखा लेने की भी आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से सभा ने हीरक-जयंती उत्सव के अवसर पर तीन विशिष्ट प्रकाशन प्रस्तुत करने का निश्चय किया है—

(१) नागरीप्रचारिणी सभा हीरक-जयंती ग्रंथ,
(२) नागरीप्रचारिणी पत्रिका हीरक-जयंती विशेषांक,
(३) हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज के विवरण।

हीरक-जयंती ग्रंथ

हीरक-जयंती ग्रंथ के तीन खंड होंगे—

(१) सभा की विगत साठ वर्षों की प्रगति का सिंहावलोकन,

(२) हिंदी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के गत साठ वर्षों के साहित्य का सिंहावलोकन,

(३) गत साठ वर्षों के विश्व-साहित्य का सिंहावलोकन।

पत्रिका का हीरक-जयंती विशेषांक

पत्रिका के हीरक-जयंती विशेषांक में भी तीन खंड होंगे। द्वितीय में आरंभ से अब तक पत्रिका की प्रगति का सिंहावलोकन होगा और उसके साथ पत्रिका के नवीन संस्करण (सं० १९७८ से अब तक) के लेखों की अनुक्रमणिका भी रहेगी। तृतीय खंड में विभिन्न विषयों पर अनुसंधानात्मक लेख रहेंगे। जिस समय यह विशेषांक निकलेगा उस समय सभा के अन्यतम संस्थापक स्व० पं० रामनारायण जी मिश्र के स्वर्गवास को लगभग एक वर्ष पूरे हो जायँगे। अपने अंतिम दिनों में सभा की हीरक-जयंती ही उनकी चिंता का प्रधान विषय थी। अतः सभा ने यह विशेषांक उन्हीं को समर्पित करने का संकल्प किया है। इसके प्रथम खंड में पंडित जी का संक्षिप्त जीवनचरित और उनके सभा-संबंधी कार्यों की चर्चा रहेगी।

खोज-विवरण

सभा हस्तलिखित पुस्तकों के खोज का काम करती रही है। सन् १९२५ तक के खोज-कार्य के विवरण त्रैवार्षिक रिपोर्टों में प्रकाशित हो चुके हैं। सन् १९२६ से अब तक के महत्त्वपूर्ण विवरण अभी तक अमुद्रित पड़े थे। इस कार्य के लिये सभा को उत्तर-प्रदेश की सरकार से १००००) का दान प्राप्त हुआ है। इस धन से तीन वार्षिक विवरण छापे जा सकें, ऐसी व्यवस्था हो गई है। रिपोर्टों का छपना शुरू हो गया है और आशा की जा रही है कि हीरक-जयंती समारोह के अवसर पर ये विवरण प्रस्तुत हो जायँगे। यह भी इस अवसर पर एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रकाशन होगा।

समय बहुत कम रह गया है और इस अत्यल्प समय में ही हमें दोनों प्रकाशनों को सभा की हीरक-जयंती के अनुरूप प्रस्तुत करना है। अतः प्रथम दो प्रकाशनों के लिये लेख आने की अंतिम तिथि सौर ४ मार्गशीर्ष सं० २०१० (२० नवंबर १९५३) रखी गई है। हमें आशा और विश्वास है कि अपने विद्वान् लेखकों का हमें पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा।

—संपादक

सभा के नवीन प्रकाशन

भागवत संप्रदाय

ले० श्री बलदेव उपाध्याय, एम० ए०

भारतीय साहित्य और संस्कृति को भागवत अथवा वैष्णव धर्म की महत्त्वपूर्ण देन सर्वविदित है। परंतु इसके मूल तथा इसके भिन्न-भिन्न संप्रदायों के विकास और इतिहास को बतानेवाला कोई खोजपूर्ण ग्रंथ हिंदी में अभी तक नहीं था। इस ग्रंथ में विद्वान् लेखक ने बड़े परिश्रम से सामग्री एकत्र कर वैष्णव धर्म का उद्गम, विकास और प्रसार तथा भिन्न-भिन्न वैष्णव संप्रदायों के मतों की समीक्षा प्रस्तुत की है। पृष्ठ सं० ७००, सजिल्द, मू० ६)

भारतेंदु ग्रंथावली, भाग ३

संपादक श्री व्रजरत्नदास, बी० ए०, एल-एल० बी०

भारतेंदु-ग्रंथावली के प्रथम भाग में भारतेंदु जी के नाटकों, द्वितीय में कविताओं और इस तृतीय भाग में उनकी समस्त गद्य रचनाओं का संकलन है। इस भाग के प्रकाशन से अब भारतेंदु जी का संपूर्ण साहित्य अध्येताओं के लिये प्रस्तुत हो गया है। मू० ९)

मुगल दरबार, भाग ४

अनुवादक श्री व्रजरत्नदास, बी० ए०, एल-एल० बी०

इस पुस्तक में मुगलकालीन अमीरों के जीवनचरित दिए गए हैं। इसका चौथा भाग अभी छपकर तैयार हुआ है। मू० ५)

आदर्श और यथार्थ

ले० श्री पुरुषोत्तम लाल, एम० ए०

इस पुस्तक में आदर्शवाद और यथार्थवाद का विस्तृत विवेचन करके काव्य में इनका उचित समन्वय दिखाया गया है और प्रसंगतः काव्य के स्वरूप तथा रस, अलंकार, भाव आदि विषयों पर विचार किया गया है। प्रारंभ में स्व० आचार्य केशवप्रसाद मिश्र की विद्वत्तापूर्ण भूमिका है तथा अंत में दो उपयोगी परिशिष्ट हैं। पृ० सं० १७८; सजिल्द, मू० २॥)

कहानी से मनोरंजक सच्ची घटनाएँ

ले० श्री शंकर

बालकों के चरित्र-निर्माण को दृष्टि में रखकर इस छोटी-सी पुस्तक में अनेक महापुरुषों के जीवन से चुनी हुई मनोरंजक घटनाएँ संगृहीत की गई हैं। पृष्ठ सं० १०८, मू० १)

नंददास ग्रंथावली

संपादक श्री व्रजरत्नदास, बी० ए०, एल-एल० बी०

अष्टछाप के कवियों में नंददास जी का स्थान बहुत ऊँचा है। इस संग्रह में उनके समस्त उपलब्ध ग्रंथों का प्रामाणिक पाठ आवश्यक पाद-टिप्पणियों सहित दिया गया है। प्रारंभ में विस्तृत भूमिका और कवि की प्रामाणिक जीवनी भी दी गई है। मूल्य ५)

हिंदी व्याकरण

ले० श्री कामताप्रसाद गुरु

हिंदी का यह सबसे बड़ा और प्रामाणिक व्याकरण है। बहुत दिनों से अप्राप्य रहने के बाद इसका संशोधित परिवर्धित और अद्यतन संस्करण हाल में प्रकाशित हुआ है। मू० ७)

औद्योगिक ईंधन

ले० डा० दयास्वरूप, प्रभूलाल अग्रवाल, हीरालाल गुप्त

हिंदी में ईंधन-विज्ञान पर यह प्रथम पुस्तक है। उद्योग-धंधों की प्रगति के साथ-साथ औद्योगिक ईंधन के बढ़ते हुए महत्त्व को देखते हुए इस विज्ञान का महत्त्व स्वयं स्पष्ट है। इस पुस्तक में औद्योगिक ईंधन से संबंधित प्रायः सभी बातों का संक्षेप में समावेश किया गया है। ईंधन-विज्ञान के विद्यार्थियों के लिये पुस्तक बहुत उपयोगी है। साथ ही सामान्य पाठकों के लिये भी ज्ञानप्रद है। ८४ चित्र भी दिए गए हैं। पृ० सं० ३५०; मू० ८)

धातु-विज्ञान

ले० डा० दयास्वरूप

यह पुस्तक मुख्यतः धातु-विज्ञान के आरंभिक विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर प्रस्तुत की गई है। इसमें लोहा और इस्पात, ताँबा, एल्यूमोनियम, सीसा, जस्ता, राँगा, गिलट, सोना, चाँदी, मैंगनीज, क्रोमियम और टंगस्टन—इतनी धातुओं का वर्णन किया गया है। धातुओं के वर्णन के साथ उनके उत्पत्ति-स्थान, शोधन-प्रक्रिया तथा उपयोग आदि सरल भाषा में बतलाए गए हैं। धातु-शोधन के यंत्रादि का सचित्र वर्णन करते हुए धातु के कारखानों और उनकी कार्य-पद्धति का भी पता दिया गया है। हिंदी में यह अपने विषय की सर्वप्रथम मौलिक रचना है। पृ० सं० ३०० से ऊपर; मू० ६)

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

मुद्रक—महताबराय, नागरीप्रचारिणी सभा, नागरी मुद्रण, काशी।

...प्रचारिणी पत्रिका

...यों...

नागरी...

वर्ष ५८ | संवत् २०१० | अंक ४

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वार्षिक मूल्य १०) : इस अंक का २।)

...कियाँ

इन ...

संज्ञाओं का ही ... ण किया ...

...० बी०

...तें ऊँचा है।

पत्रिका के उद्देश्य ... पाद

...प्रामाणि...

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण ...

२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेच...

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनु...

४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला ... है। ...चन।

...संस्कर...

निवेदन

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण एवं सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है और ... प्रकाशन संबंधी सूचना साधारणतः एक मास के भीतर दी जाती है।

(४) लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग वा उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

(५) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। सभी प्राप्त पुस्तकों की प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है, परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

संपादक

हजारीप्रसाद द्विवेदी : कृष्णानंद

सहायक संपादक

पुरुषोत्तम

उनकी काय...

सर्वप्रथम...

...रिणी सभा, ...

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५८] संवत् २०१० [अंक ४

प्राचीन भाषा-काव्यों की विविध संज्ञाएँ

[श्री अगरचंद नाहटा]

उत्तर भारत की समस्त आधुनिक प्रादेशिक भाषाओं का विकास अपभ्रंश भाषा से हुआ है। कुवलयमाला के उद्धरण के अनुसार नवीं शती में सोलह प्रांतीय भाषाएँ कुछ मौलिक विशेषताओं के साथ बोलचाल के रूप में प्रचलित थीं। पर आठवीं से बारहवीं शती तक के अपभ्रंश ग्रंथों से ज्ञात होता है कि साहित्य की भाषा सर्वत्र एक सी रूढ़ हो गई थी, उसके प्रांतीय रूपों में अंतर विशेष नहीं था। ग्यारहवीं शती के राजस्थानी भाषा के कुछ फुटकर पद्य जैन प्रबंध-ग्रंथों में मिलते हैं। मुंज से संबंधित पद्य इसी समय के हैं। प्रबंध-संग्रहों में मौखिक परंपरा के अनुसार उनका संग्रह किया गया प्रतीत होता है। आचार्य हेमचंद्र ने जो प्राचीन दोहे अपने ग्रंथ में संकलित किए हैं वे भी उनसे सौ-दोसौ वर्ष पुराने तो अवश्य होंगे। अतः उनका भी समय दसवीं-ग्यारहवीं शती माना जा सकता है। उन दोहों तथा अन्य प्राप्त पद्यों के द्वारा अपभ्रंश से प्राचीन राजस्थानी के विकास के सूत्र मिल जाते हैं।

तेरहवीं शती में लोकभाषा में काफी परिवर्तन हो चुका था, इ[illegible] विद्वानों को अपभ्रंश के साथ-साथ तत्कालीन भाषा में साहित्य-निर्माण [illegible] कियाँ इन [illegible]त हुआ, क्योंकि अपभ्रंश उस समय सुबोध नहीं रह गई थी [illegible] संज्ञाओं का ही [illegible] [illegible] किया [illegible] बोली भाषा में ही करना था जिसे

साधारण से साधारण व्यक्ति समझ सके। फलतः तेरह० बीसताब्दी से राजस्थानी की रचनाएँ हमें प्राप्त होने लगती हैं। ये रचनाएँ छोटी-छोटी हैं और संभवतः मंदिरों एवं उत्सवों में गीत एवं नृत्य के साथ प्रचारित करने के उद्देश्य से रची गई हैं। नृत्य और गीत के साथ लंबे काव्यों के अभिनय में सुविधा नहीं होती; अतः बड़े-बड़े काव्य संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश में ही रचे जाते रहे। 'रास'-संज्ञक रचनाएँ मूलतः नृत्य के साथ गाई जाती थीं। चौदहवीं शती तक वे लकुटी रास, तालक रास आदि के नृत्य एवं गीत के द्वारा प्रचारित होते रहीं, ऐसा ग्रंथकारों द्वारा रासों के अंत में किए गए निर्देश से स्पष्ट है। इस समय के बड़े-बड़े रास उपलब्ध नहीं हैं। पंद्रहवीं शती से अपेक्षाकृत बड़े रास रचे जाने लगे और क्रमशः उनका विस्तार बढ़ता गया। तब उनका उद्देश्य कथावस्तु का विस्तार से वर्णन करना हो गया और वे व्याख्यानों आदि में गा-गाकर लंबे समय तक सुनाए जाने लगे। आज भी जैन समाज में यह प्रथा प्रचलित है। कुछ वर्ष पूर्व तक श्वेतांबर जैन समाज में नियमित रूप से दोपहर एवं रात का व्याख्यान इन रासों को गाकर ही किया जाता रहा है। गाँवों में अब भी ऐसा प्रचार है, पर नगरों में कम होता जा रहा है। रासों के द्वारा व्याख्यान देनेवालों को लोग कम पढ़ा-लिखा समझने लगे, इसलिये व्याख्याताओं को अपनी विद्वत्ता का परिचय देने के लिये प्राकृत एवं संस्कृत काव्यादि ग्रंथों को अपने व्याख्यानों में अधिकता से अपनाना पड़ा, जिस प्रकार कि राजस्थान में जैन मुनियों को, जिनके व्याख्यान कुछ समय पहिले तक मारवाड़ी भाषा में हुआ करते थे, अब उसी कारण से मारवाड़ी का स्थान हिंदी को देना पड़ा है। फिर भी गाँवों में, जहाँ शिक्षित व्यक्ति कम हैं, जैन मुनियों के व्याख्यान मारवाड़ी में ही होते हैं और उनमें रास, ढालें आदि गाकर सुनाई जाती हैं। तेरहपंथी संप्रदाय में आज भी अधिकतर व्याख्यान मारवाड़ी में ही होते हैं और चातुर्मास्य में रात के समय नियमित रूप से मुनि केशराज रचित रामयशोरसायन रास की ढालें गाकर सुनाई जाती हैं। परंतु समय के प्रभाव से अब वहाँ हिंदी में भाषण देना आरंभ हो गया है, क्योंकि इसके बिना नवशिक्षितों का आकर्षण कम होता है। उनकी काव्य... भी शिक्षितों की कोटि में नहीं समझे जाते। स्थानकवासी संप्रदाय में सर्वप्रथम ... भी ... जाते हैं, पर उनकी भाषा राजस्थानी के बदले हिंदीप्रधान हो ... है। गुजरात में गुजराती के समृद्ध हो जाने के कारण आज भी ... ही रचे जाते हैं ...

यहाँ भाषा-काव्यों का परिचय देने के पूर्व उनकी विविध संज्ञाओं की एक सूची प्रस्तुत की जाती है—

(१) रास; (२) संधि; (३) चौपाई; (४) फागु; (५) धमाल; (६) विवाहलो; (७) धवल; (८) मंगल; (९) वेलि; (१०) सलोका; (११) संवाद; (१२) वाद; (१३) झगड़ो; (१४) मातृका; (१५) बावनी; (१६) कक्क; (१७) बारहमासा; (१८) चौमासा; (१९) पवाड़ा; (२०) चर्चरी (चाँचरि); (२१) जन्माभिषेक (२२) कलश; (२३) तीर्थमाला, (२४) चैत्यपरिपाटी; (२५) संघ वर्णन; (२६) ढाल; (२७) ढालिया; (२८) चौढालिया; (२९) छढालिया; (३०) प्रबंध; (३१) चरित; (३२) संबंध; (३३) आख्यान; (३४) कथा; (३५) सतक; (३६) वहोत्तरी; (३७) छत्तीसी; (३८) सत्तरी; (३९) बत्तीसी; (४०) इक्कीसो; (४१) इकतीसो; (४२) चौबीसी; (४३) बीसी; (४४) अष्टक (४५) स्तुति; (४६) स्तवन; (४७) स्तोत्र; (४८) गीत; (४९) सज्झाय; (५०) चैत्यवंदन; (५१) देववंदन; (५२) वीनती; (५३) नमस्कार; (५४) प्रभाती; (५५) मंगल; (५६) साँझ; (५७) वधावा; (५८) गहूँली; (५९) हीयाली; (६०) गूढ़ा; (६१) गजल; (६२) लावणी; (६३) छंद; (६४) नीसाणी; (६५) नवरसो; (६६) प्रवहण; (६७) वाहण; (६८) पारणो; (६९) पट्टावली; (७०) गुर्वावली; (७१) हमचडी; (७२) हींच; (७३) माला-मालिका; (७४) नाममाला; (७५) रागमाला; (७६) कुलक; (७७) पूजा; (७८) गीता; (७९) पट्टाभिषेक; (८०) निर्वाण; (८१) संयमश्री विवाह वर्णन; (८२) भास; (८३) पद; (८४) मंजरी; (८५) रसावलो; (८६) रसायन; (८७) रसलहरी; (८८) चंद्रावला; (८९) दीपक (९०) प्रदीपिका; (९१) फुलड़ा; (९२) जोड़; (९३) परिक्रम; (९४) कल्पलता; (९५) लेख; (९६) विरह; (९७) मूँदड़ी; (९८) सत; (९९) प्रकाश; (१००) होरी; (१०१) तरंग; (१०२) तरंगिणी; (१०३) चौक; (१०४) हुंडी; (१०५) हरण; (१०६) विलास; (१०७) गरबा; (१०८) वोली; (१०९) अमृतध्वनि; (११०) [illegible] रियो; (१११) रसोई; (११२) कड़ा; (११३) भूलणा; (११४) [illegible] कियाँ (११५) दोहा, कुंडलिया, छप्पय आदि।

इन समस्त संज्ञाओं का विवरण देना इस लेख में संभव नहीं; अतः प्रधान संज्ञाओं का ही संक्षेप में [illegible] किया जाता है।

(१) रास—राजस्थानी एवं गुजराती भाषा की बड़ी रचनाओं में सबसे अधिक रास-संज्ञक ही हैं। छोटी रचनाओं में सबसे अधिक गीत वा स्तवन हैं। रास-संज्ञक रचनाओं का निर्माण अपभ्रंश-काल से ही प्रारंभ हो जाता है। उपदेश-रसायन रास और संदेश रास अपभ्रंश की ही रचनाएँ हैं। इनमें से उपदेश-रसायन रास का नाम उसके रचयिता जिनदत्त सूरि ने केवल 'उपदेशरसायन' ही दिया है, परंतु उसके टीकाकार सूरि जी के प्रशिष्य के शिष्य जिनपाल उपाध्याय ने उसमें 'रासक' जोड़कर उसे 'उपदेशरसायन रास' संज्ञा दे दी है। यह ग्रंथ साधारण जैन जनता के लिये उपदेश के रूप में, विशेषतः उस समय प्रचलित अविधि को हटाने और विधि मार्ग का प्रचार करने के उद्देश्य से, पद्धटिकाबद्ध ८० गेय पद्यों में रचा गया है। टीकाकार के कथनानुसार यह सब रागों में गाया जा सकता है। इस ग्रंथ के छत्तीसवें पद्य में तालारासु और लडड़ारासु नामक दो प्रकार के रासों का उल्लेख किया गया है—

मूल—तालारासु वि दिंति रयणिहिं, दिवसि वि लडड़ारसु सहुँ पुरिसिहिं।

टीका—तालारासकमपि न ददति श्राद्धा रजन्यां प्रदीपोद्योतेऽपि तदानीमदृश्यसूक्ष्म-पिपीलिकादिध्वंसहेतुत्वात्। दिवसेऽपि लगुडरासं पुरुषैस्प्यास्तां योषिद्भिः तस्यान्तविटचेष्टा-रूपत्वात् कदाचित् प्रमादवशान्मस्तकाद्याघातहेतुत्वात्।

आशय यह है कि उस समय जैन मंदिरों में श्रावक आदि लोग रात्रि के समय तालियों के साथ (ताल देकर) रासों को गाया करते थे, उसमें जीवहिंसा की संभावना के कारण रात्रि में तालारास का निषेध किया गया है।[1] इसी प्रकार दिन में पुरुषों के स्त्रियों के साथ लगुडारास करने (डंडियों के साथ नृत्य करते हुए रास गाने) को भी अनुचित बताया गया है। जैन मंदिरों में ये दोनों रास चौदहवीं शती तक खेले जाते थे, यह सं० १३२७ में रचित सप्तक्षेत्री रास से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है—

वइसइ सहूइ श्रमणसंघ सावय गुणवंता।
जोयइ इच्छवु जिनह भुवणि मनि हरख धरंता।

उनकी कार्य
र्वप्रथम

१—सं० १३०० के लगभग जिनेश्वर सूरि के श्रावक जगड्ड रचित सम्यक्त्वमाई चउपई में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है—तालारासु रयणि नहि देइ, लउडारसु मूलह वारेइ ॥ २१ ॥ (प्रा० गु० काव्यसंग्रह पृ० ...)

तीछे तालारस पडइ बहु भाट पढंता।
अनइ लकुटारस जोईइ खेला नाचंता ॥४८॥
सविहू सरीखा सिणगार सवि तेवड तेवड़ा।
नाचइ धामीय रंभरे तउ भावहि रूडा।
सुललित वाणी मधुरि सादि जिणगुण गायंता।
ताल मानु छंद गीत मेलु वाजिंत्र वाजंता ॥४९॥
(प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह, सप्तक्षेत्रिरासु, पृष्ठ ५२)

रास-संज्ञक दूसरी अपभ्रंश रचना संदेशरासक है। इसके रचयिता कवि अब्दुल रहमान ने चौथे पद्य में इसका नाम 'संनेहय रासयं' और उन्नीसवें पद्य में 'संनेह रासउ' दिया है, जो दोनों ही 'संदेश रासक' के अपभ्रंश हैं। 'रासय' शब्द संस्कृत 'रासक' का अपभ्रंश है। उसका परवर्ती विकार य के स्थान में उ होकर 'रासउ' हो गया।

रासक का उल्लेख हर्षचरित (बाण भट्ट, सातवीं शताब्दी) में मिलता है। यह एक उपरूपक-विशेष है। वाग्भट्ट और हेमचंद्र ने काव्यानुशासन में रासक के संबंध में निम्नोक्त स्पष्टीकरण किया है—

डोम्बिका-भाण-प्रस्थान-भाणिका-प्रेरण-शिंगक - रामाक्रीड़-हल्लीसक - श्रीगदित-रासक-गोष्ठी प्रभृतीनि गेयानि। (वाग्भट्ट)

गेयं डोम्बिका-भाण-प्रस्थान-शिंगक-भाणिका-प्रेरण-रामाक्रीड-हल्लीसक - रासक - गोष्ठी-श्रीगदित-राग काव्यादि। (हेमचंद्र)

वाग्भट्ट के काव्यानुशासन की वृत्ति के अनुसार ये सब डोंबिकादि गेय रूपक हैं—

पदार्थाभिनयस्वभावानि डोम्बिकादीनि गेयानि रूपकाणि चिरन्तनैरुक्तानि।

इन्हीं में से रासक भी एक रूपक है जिसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

अनेकनर्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम्।
आचतुःषष्टियुगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्॥

अर्थात् रासक एक ऐसा कोमल और उद्धत गेय रूपक है जिसमें अनेक नर्तकियाँ होती हैं, अनेक प्रकार के ताल और लय होते हैं और ६४ तक के युगल होते हैं।

पीछे रास, रासु अथवा रासउ शब्द प्रधानतया कथाकाव्यों के लिये रूढ़-सा हो गया और रसप्रधान रचना रास मानी जाने लगी। 'रासा' एक छंद विशेष भी है। राजस्थानी में जो परवर्ती रासो मिलते हैं वे युद्ध-वर्णनात्मक काव्य के भी सूचक हैं। इसी कारण राजस्थानी में रासो शब्द का प्रयोग लड़ाई-झगड़े या गड़बड़-गोटाले के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा है। परंतु प्राचीन जैन रचनाओं के नामों में तो रास शब्द का ही प्रयोग मिलता है, रासो का नहीं। कई पुरानी रचनाओं में 'रासु' भी मिलता है। सतरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध एवं अठारहवीं शती की कुछ विनोदात्मक रचनाओं में 'रासो' और 'रासौ' शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। उंदर रासो और मांकड रासो आदि ऐसे ही रास हैं।[२]

(२) संधि—अपभ्रंश काव्यों के सर्गों की संज्ञा 'संधि' है। आचार्य हेमचंद्र ने महाकाव्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—

पद्यं प्रायः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नवृत्तसर्गाश्वाससन्ध्यवस्कन्धकबन्धं सत्सन्धिशब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम्।

अर्थात् महाकाव्य मुख-प्रतिमुखादि संधियों एवं शब्द-अर्थ की विचित्रता से युक्त होता है तथा संस्कृत महाकाव्य सर्गों में, प्राकृत आश्वासों में, अपभ्रंश संधियों में एवं ग्राम्य स्कंधों में निबद्ध होता है।

'संधि' शब्द मूलतः अपभ्रंश महाकाव्य के सर्गों के लिये ही प्रयुक्त होता था, किंतु तेरहवीं-चौदहवीं शती में वह एक सर्ग वाले खंड काव्यों के लिये भी प्रयुक्त होने लगा। अपभ्रंश में जिनप्रभ सूरि आदि की संधि-संज्ञक पंद्रह रचनाएँ मिलती हैं। संधियों की परंपरा उन्नीसवीं शती तक निरंतर चलती रही। चौदहवीं शती के तो दो ही संधि-काव्य मिलते हैं, किंतु सोलहवीं से उन्नीसवीं तक राजस्थानी एवं गुजराती भाषा में वे पचासों की संख्या में प्राप्त हैं, जिनमें राजस्थानी अधिक हैं और उनमें भी खरतरगच्छीय विद्वानों के सबसे अधिक।[३]

(३) चौपाई—रास के बाद बड़ी रचनाओं में सबसे अधिक 'चौपाई' नामक रचनाएँ मिलती हैं। चौपाई या चौपई का संस्कृत रूप चतुष्पदी भी प्रयुक्त मिलता

२—विशेष द्रष्टव्य—'सम्मेलन-पत्रिका', वर्ष ३५ अंक ७ में प्रकाशित लेखक का 'रासो शब्द की व्युत्पत्ति और प्रयोग' लेख।

३—विशेष द्रष्टव्य—'राजस्थानी', भाग १ (राजस्थानी साहित्य परिषद्, कलकत्ता से प्रकाशित) में लेखक का [illegible] संधि-काव्य और उनकी परंपरा' शीर्षक लेख।

है। मूलतः यह चौपाई छंदों में लिखी रचनाओं का नाम था, पर पीछे 'रासो' की भाँति चरितकाव्य के लिये रूढ़ हो गया; यहाँ तक कि कहीं-कहीं एक ही रचना की संज्ञा किसी ने चौपाई लिख दी तो दूसरे ने रास। चौपाई छंद तो अपभ्रंश काव्यों में भी प्रयुक्त हुआ है, पर उन ग्रंथों का नाम चौपाई नहीं रखा गया।

चौदहवीं शती से राजस्थानी रचनाओं के नामों में इस संज्ञा का प्रयोग मिलने लगता है। नेमिनाथ चतुष्पदिका, सम्यक्त्वमाई चौपाई—ये दो सोलहवीं शती की रचनाएँ प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह में प्रकाशित हैं। इनमें से दूसरी रचना में लिखा है—'हासामिसि चउपईबंधु कियउ'।

(४-५) फागु-धमाल—वसंत ऋतु का प्रधान उत्सव फाल्गुन महीने में होता है। उस समय नर-नारी मिलकर एक दूसरे पर अबीर आदि डालते और जल की पिचकारियों से क्रीड़ा करते अर्थात् फाग खेलते हैं। जिनमें वसंत ऋतु के उल्लास का कुछ वर्णन हो या जो वसंत ऋतु में गाई जाती हों ऐसी रचनाओं को 'फागु' संज्ञा दी गई है। इन रचनाओं की यह विशेषता है कि इनमें शब्दालंकार के साथ यमकबंध अनुप्रास पाया जाता है। इस शैली को 'फागुबंधी' कहा गया है। कुछ पद्य उदाहरणार्थ उद्धृत किए जाते हैं—

अणहिलवाडउं पाटण, पाटण नयर जे राउ।
दीसइ जिहां श्रीअ जिणहर, मणहर संपद ठाउ ॥ ८

(जै० ऐ० गु० काव्यसंचय, 'देवरत्नसूरि फाग', पृ० १५१)

पहिलूं सरसति अरचीसूं, रचीसूं वसंत विलास।
वीण धरइ करि दाहिण, वाहण हंसलु जास ॥ १
पहुतीय तिहुणी हिव रति, वरति पहुती वसंत;
दह दिसि परसइ परिमल, निरमल थ्या नभ अंत ॥ २

(प्रा० गु० काव्य, 'वसंत विलास', पृ० १५)

समरवि त्रिभुवनसामणि, कामणि सिरि सिणगारु।
कवियण वयणि जा वरसइ, सरसइ अमिउ अपारु ॥१॥

(जीरापल्ली पार्श्वनाथ फागु, पृ० ६७)

यह शैली फागु-संबंधी सभी रचनाओं में नहीं अपनाई गई है। स्थूलभद्र फाग और पिछले अन्य फागों में भी यह नहीं है।

फागु और धमाल दोनों ही एक प्रसंग से संबंधित हैं, अतः कई रचनाओं की संज्ञा किसी ने फागु दी है तो किसी ने धमाल। फागु और धमाल के छंद एवं रागिनी में अंतर होगा, पर पीछे से ये दोनों नाम होली के आसपास गाई जानेवाली रचनाओं के लिये प्रयुक्त होने लगे। प्राचीन दिगंबर रचनाओं में 'धमाल' का प्राकृत रूप 'ढमाल' भी मिलता है। इधर लगभग डेढ़ सौ वर्षों से छोटे-छोटे भजन डफ और चंगों पर गाए जाने लगे हैं, उनकी संज्ञा 'होरी' भी पाई जाती है। फागु एवं धमाल-संज्ञक रचनाएँ इनसे काफी बड़ी होती थीं। बहुत से व्यक्ति मिलकर चंग, ढोल, डफ और झाँझ आदि वाद्यों के साथ उन्हें गाते थे, तब एक कोलाहल सा मच जाता था, इससे बोलचाल में 'धमाल' का प्रयोग 'कोलाहल' वा 'उपद्रव' के अर्थ में भी होता है।

फागु-संज्ञक रचनाएँ धमाल से अधिक प्राचीन और अधिक संख्या में मिलती हैं। सं० १३५० के आसपास से ऐसी रचनाओं का प्रारंभ होता है। उपलब्ध फागु-काव्यों में खरतरगच्छीय जिनप्रबोध सूरि का जिनचंद सूरि फागु सर्वप्रथम और सबसे प्राचीन है। अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ के खरतरगच्छीय यति राजहर्ष द्वारा रचित 'नेमिफाग' अंतिम कृति है। राजस्थानी एवं गुजराती में फागु-संज्ञक लगभग ५० रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं, जिनका परिचय 'जैन सत्यप्रकाश' (वर्ष ११, १२ एवं १४) में प्रकाशित है। धमाल-संज्ञक रचनाएँ ८-१० ही प्राप्त हैं और वे सतरहवीं शताब्दी की ही अधिक हैं।

(६-८) विवाहलो, धवल, मंगल--जिस रचना में विवाह का वर्णन हो उसे 'विवाहला' कहते हैं। जैन कवियों ने नेमिनाथ आदि तीर्थंकरों और जैनाचार्यों के 'संयमश्री' के साथ विवाह के प्रसंग को लेकर बहुत से विवाहले रचे हैं। आचार्यों के लौकिक विवाह का तो कोई प्रसंग था नहीं, क्योंकि वे ब्रह्मचारी ही रहते थे; अतः उनके द्वारा ग्रहण किए गए व्रतों को ही संयमश्री रूपी कन्या मान उसी के साथ उनके विवाह का वर्णन इन काव्यों में रूपक के रूप में दिया गया है। उदाहरणार्थ, कवि सोममूर्ति द्वारा सं० १३३१ में रचित 'जिनेश्वरसूरि-संयमश्री विवाह-वर्णन रास' में जिनेश्वरसूरि, जिनका बाल्यावस्था का नाम अंबड़कुमार था, जब दीक्षा लेने की तैयारी करते हैं तो पहले अपनी माता से दीक्षा की अनुमति माँगते हुए कहते हैं—

इहु संसारु दुहह भंडारु, ता हउं मेल्हिसु अतिहि असारु ॥ ६ ॥
परिणिसु संजमसिरि वरनारी, माइ माइए मज्झु मणह पियारी ।

इसके पश्चात् जब वे दीक्षा ग्रहण करने के लिये गुरुश्री के पास जाते हैं उस समय यान ले जाने, बाजे बजने, जीमनवार (भोज) होने, चँवरी (मंडप) मँडने, और अग्नि-साक्षी से संयमश्री का पाणिग्रहण करने का वर्णन बहुत ही सुंदर रूपकों के साथ किया गया है। यहाँ कुछ उद्धरण दिए जाते हैं—

अभिनव ए चालिय जानउत्र, अंबड्ड तणइ विवाहि ।
अप्पुणु ए धम्म चक्कवइ, हूयउ जानह माहि ॥ १६ ॥
कारइ कारइ 'नेमिचंदु', भंडारिउ उच्छाहु ।
वाधइ वाधइ जान देखि, ललमिणि हरखु अबाहु ॥ १९ ॥
कुसलिहि खेमिहि जानउत्र, पहुतिय खेड मज्झारि ।
उच्छवु हूयउ अइ पवरो, नाचइ फरफर नारि ॥ २० ॥
जिणवइ सूरिण मुणि पवरो, देसण अमिय रसेण ।
कारिय जीमणवार तहि, जानह हरिस भरेण ॥ २१ ॥
संति जिणेसर नर भुयणि, मांडिउ नंदि सुवेहि ।
वरसिहि भविय दाण जलि, जिम गयणंगणि मेह ॥ २२ ॥
तहि अगयारिय नीपजइ, झाणानलि पजलंति ।
तउ संवेगहिं निम्मियउ, हथलेवउ सुमुहुत्ति ॥ २३ ॥
इणि परि 'अंबड्ड' वर कुयरु, परिणइ संजम नारि ।
बाजइ नंदीयतूर घण, गूडिय घर घर बारि ॥ २४ ॥

उपाध्याय मेरुनंदन के जिनोदयसूरि-विवाहला में भी ऐसा ही सुंदर वर्णन है। उसमें विवाह करानेवाले जोशी का स्थान गुरुश्री को दिया गया है। ये दोनों काव्य हमारे 'ऐतिहासिक जैन काव्यसंग्रह' में प्रकाशित हो चुके हैं।

विवाहला-संज्ञक उपलब्ध रचनाओं में सबसे प्राचीन जिनप्रभसूरि रचित अंतरंग-विवाह अपभ्रंश भाषा में उपलब्ध है। यह भी आध्यात्मिक विवाह है। आदि-अंत की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

प्रारंभ—पमाय गुणठाणु पाटणु तहिं अहे भवियजिउ निरुवमु वरू ए ।
बहुविह ... जानउत्र ... अहे ... सहस सीलंग ॥१॥

अंत — इणिपरि परिणए जो अ जगि अहे लहइ सो सिद्धिपुरि वासु।
मंगलिकु वीर जिणप्रभ ए अहे मंगलिकु चहुवीह संघ ए ॥
(अंतरंग विवाह धवल वसंतरागेण भणनीय)

इसकी रचना सं० १३०० के आसपास की है और इसके बाद ही जिनेश्वर-सूरि-संयमश्री रास का स्थान है। इस प्रकार चौदहवीं शताब्दी से ऐसे काव्यों का निर्माण होने लगता है और बीसवीं शताब्दी तक क्रम जारी रहता है। ऐसी लगभग ४ रचनाओं का अभी तक पता चला है।

विवाह में गाए जानेवाले गीतों को 'धवल' वा 'मंगल' कहा जाता है और विवाह स्वयं एक मांगलिक कार्य माना जाता है, अतः कई रचनाओं में विवाह के साथ 'धवल' शब्द भी नामांत पद के रूप में व्यवहृत है, जैसा कि ऊपर 'अंतरंग विवाह' के साथ यह जुड़ा हुआ मिलता है। धवल-संज्ञक रचनाओं का प्रारंभ तेरहवीं शताब्दी से होता है। 'जिनपति सूरि धवल गीत' उपलब्ध रचनाओं में सबसे प्राचीन है, जो हमारे 'ऐतिहासिक जैन-काव्य-संग्रह' में प्रकाशित है। ऋषभदेव-विवाहले की संज्ञा 'धवलबंध' दी गई है। नेमिनाथ धवल, वासपूज्य धवल, आदि कुछ रचनाएँ 'धवल'-संज्ञक प्राप्त हैं। हिंदी, राजस्थानी और बँगला में जो 'मंगल' संज्ञा वाले काव्य मिलते हैं, वे इसी परंपरा की देन हैं। राजस्थानी का प्राचीन काव्य 'रुकमणी मंगल' बहुत प्रसिद्ध लोककाव्य है। पर इसका नामांत पद 'मंगल' आधुनिक है। मूलतः लेखक ने इसकी संज्ञा 'विवाहलो' ही दी है। इसकी सबसे प्राचीन प्रति सं० १६६९ की प्रस्तुत लेखक के संग्रह में है और दो प्रतियाँ उसे बीसवीं शती की प्राप्त हुई हैं। इसका मूल रूप बहुत छोटा था, परंतु समय-समय पर इसमें लोक-प्रियता के कारण परिवर्त्तन-परिवर्धन होते रहे। प्रकाशित संस्करण हमारी प्रति से कोई पंद्रह-बीसगुना बढ़ गया है।[४]

(६) वेलि—राजस्थानी साहित्य में 'क्रिसन-रुकमणी री वेलि' बहुत प्रसिद्ध ग्रंथ है। इस संज्ञा का स्पष्टीकरण करते हुए 'वेलि' अर्थात् लता का सुंदर रूपक निम्नोक्त दो पद्यों में दिया गया है—

४—विवाहलों के संबंध में 'जैन सत्यप्रकाश', वर्ष ११-१२-१३ तथा १४ में प्रस्तुत लेखक एवं प्रो० कापड़िया के लेख द्रष्टव्य हैं। अहमदाबाद प्राच्यविद्या परिषद् में भी लेखक का एतद्विषयक विस्तृत लेख पढ़ा गया था।

वल्ली तनु बीज भागवत वायौ, महिथाणौ प्रिथुदास मुख।
मूल ताल जड़ अरथ मंडहे, सुथिर करणि चढ़ि छाँह सुख ॥ २९१
पत्र अक्खर दल द्वाला जस परिमल नवरस तंतु त्रिधि अहोनिसि।
मधुकर रसिक सुभगति मंजरी मुगति फूल फल भुगति मिसि। २९२॥

इस संज्ञावाली पचास रचनाओं का मुझे पता लग चुका है, जिनमें पंद्रह राजस्थानी तथा दो गुजराती जैनेतर रचनाएँ (सीतावेलि और व्रजवेल) हैं। हिंदी में भी 'मनोरथ वल्लरी' तुलसीदास और भगवानदास रचित ज्ञात हुई है। २१ रचनाएँ जैन विद्वानों द्वारा रचित हैं, जिनमें वाच्छा श्रावक की 'चहुंगति वेलि' सबसे प्राचीन है। इसका समय सं० १५२८ के लगभग है। इसी शताब्दी में सीहा, लावण्यसमय और सहजसुंदर ने भी वेलियाँ बनाईं। सतरहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक यह क्रम जारी रहा। सं० १८८९ के बाद इस संज्ञावाली कोई रचना उपलब्ध नहीं है।[५]

(१०) सलोका—मूलतः संस्कृत 'श्लोक' शब्द से जनभाषा में सलोका या सिलोका शब्द प्रचलित हुआ प्रतीत होता है। मध्यकाल में वर जब विवाह के लिये ससुराल जाता तो उसकी बुद्धि की परीक्षा के लिये पहले वर का साला कुछ श्लोक कहता और फिर उसकी प्रतिस्पर्धा में वर श्लोकों द्वारा अपनी प्रतिभा का परिचय देता था। पंद्रहवीं शती के लगभग की एक रचना हमारे निजी संग्रह में है जिसमें वर ने साले को संबोधन करते हुए अपने आराध्य देव, गुरु, कुलदेवी, गोत्र, मातापिता, नगर, उसके शासक, तुरंग, तोरण आदि के वर्णनात्मक श्लोक कहे हैं। लोकभाषा में उनकी व्याख्या भी है। इसके अंत में वरदान एवं सुखप्राप्ति के लिये गणेश और सरस्वती की प्रार्थना की गई है। उदाहरण के लिये विवाह-मंडप, कन्या की प्राप्ति आदि के श्लोक कहकर साले का कुतूहल पूर्ण करने की सूचना वाले तीन पद्य यहाँ दिए जाते हैं—

मध्यनिर्मितमनोहरवेदिः प्रेक्षणादिककुतूहलपूर्णः।
गीतलीनतरुणीगणरम्यः स्वर्गखण्ड इव मंडप एषः ॥ ८ ॥

अहो शालक ! जेहनइ मध्यि चहूं दिसि नूतन वेहि जवारा करिउ मंडित। लक्ष्मी करिउ अखंडित, चउरी चतुर चित्तु चोरइ। प्रेक्ष्यणीय प्रमुख कुतुहल संकुल। धवल-मंगल-

५—उपलब्ध रचनाओं के संबंध में श्री कापड़िया का लेख 'जैन-धर्म-प्रकाश', वर्ष ६५ अंक २ में प्रकाशित है।

गीतगान-तत्पर-सुंदर-सुंदरी-जन-मनोहरु । विचित्र पवित्र चंद्रोदय सहितु स्वर्गखण्ड-विजित्वरु मंडपु सोभइ ॥ ८ ॥

तप्तं तपः साधुजनाय दत्तं दानं स्मृता पंचनमस्क्रिया च ।
सतीर्थयात्रा विहिता च तेन पुण्येन लब्धा भवतः स्वसेयं ॥१६॥

अहो शालक ! मइ पूर्विलइ भवि निर्मलु बार भेदु तपु कीधउ । चारि त्रिया तपोधन किही भावना पूर्वकु दानु दीधउ । अनइ जिनशासन सारु, पंच परमेष्ठि नमस्कारु स्मरयउं । श्री शत्रुंजय गिरिनार सरीखइ तीर्थि जाइउ । श्री वीतराग पूज्या । तीणि पुण्य करिउ मइ ताहरी बहिण लाधी ॥ १६ ॥

नालिकेरशतमेकमानय तत्र पूगशतपंच तथैव ।
शालक प्रचुरकाव्यसंचयैः पूरयामि तव कौतुकं यथा ॥१७॥

अहो शालक ! जइ किमइ मुझरहइं नालिकेर नउ सतु । अनइ फोफल ना पांच सय । ढोयणि करइ एक मडि दियइ । तउ हउ सर्वलोक समक्षु अनेकि सलोकि करिउ आपग । शालक नउ कुतूहलु पूरवउं ॥ १७ ॥

विवाह के समय साले और वर के द्वारा सिलोक कहने की प्रथा प्राचीन है। विमल मंत्री के विवाह के प्रसंग में कवि लावण्यसमय ने विमलप्रबंध में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—

पुहता तोरणि जोइ लोक, सीख्या साला कहि शलोक ।
विम वांणि श्रवणे सांभली, ग्या साला ते दह दिशि टली ॥६४॥

खरतरगच्छ के शांतिसागर सूरि और जिनसमुद्र सूरि के प्रवेशोत्सव आदि के वर्णनवाली दो रचनाएँ 'राजस्थानी', भाग २ में प्रकाशित हो चुकी हैं। वे भी "अहो शालक" संबोधन के साथ हैं, अतः वे भी उपर्युक्त विवाह-प्रसंग में वर के द्वारा कही जाने के लिये ही बनाई गई प्रतीत होती हैं।

आगे चलकर उक्त प्रथा एवं तद्विषयक रचना के प्रकार में अंतर आ गया। गुजरात के उत्तरी भाग और राजस्थान में विवाह-प्रसंग में सिलोके कहे जाते हैं जिन्हें बरातियों में से जानकार लोग मंदिर में देवी-देवताओं एवं वीरों के गुणों का वर्णन करते हुए विशेष ढंग के साथ कहकर सुनाते हैं। इन सबकी शैली रूढ़ हो गई है। राजस्थानी भाषा के छंद-ग्रंथ 'रघुनाथरूपक' में वचनिका का दूसरा भेद 'सिलोको' बतलाते हुए जो उदाहरण दिया है, वह नीचे दिया जाता है। उपलब्ध सलोकों में यही शैली प्रयुक्त मिलती है—

दूजो भेद इणनूं लोकोकत सिलोको ही कहै छै ।

बोलै सीतांपत इसड़ीजी बांणी, सुरनर नागां नै लागै सुहांणी ।
सेसाजल हणमंत जिमही सरसाई, वीरां अवरांरी कीधी वडाई ॥
धनुधररा वायक सांभल जोधारा, पोरस अंगां में वधियो अणपारा ।
पुणनै कर जोड़ जीतव फल पायो, मानैं श्रीखांवद इतरो फुरमायो ॥

इस शैली के जैन-जैनेतर पचासों राजस्थानी-गुजराती सिलोके प्राप्त हैं, जिनमें बीसों छप भी चुके हैं । अठारहवीं शती से इनका रचनाक्रम चलता है और उन्नीसवीं के भी काफी सिलोके मिलते हैं । बीसवीं शती में यह प्रथा कमजोर होने लगती है । अब नगरों में सिलोका कहने की प्रथा का अंत हो गया है, परंतु गाँवों में यह अभी तक प्रचलित है ।

(११-१३) संवाद-वाद-झगडो—कवि-हृदय विलक्षण होता है । वह अपनी कल्पना द्वारा, जिन वस्तुओं में वास्तव में कोई विवाद नहीं उनमें भी विरोधी भावना उत्पन्न करके उनके मुँह से अपने गुण और महत्त्व का और दूसरे की हीनता का वर्णन कराता है । उन दोनों के प्रसंग से कवि की प्रतिभा का सुंदर परिचय प्रस्तुत हो जाता है । ऐसी रचनाओं की संज्ञा 'संवाद', 'वाद' अथवा 'झगड़ो' रखी गई है । संस्कृत के 'संवादसुंदर' ग्रंथ में भी ऐसे नौ संवाद संकलित हैं । राजस्थानी एवं गुजराती में ऐसी लगभग तीस रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जो चौदहवीं शती से उन्नीसवीं तक की हैं । जैनेतर संवादात्मक रचनाओं में बीकानेर के महाराजा रायसिंह के आश्रित कवि बारहठ शंकर का 'दातार सूर दो संवाद' प्राप्त है । हिंदी भाषा में भी नरहरि आदि कवियों द्वारा कई संवादात्मक रचनाएँ लिखी गई हैं ।

(१४-१६) मातृका-बावनी कक्क—इनमें वर्णमाला के अक्षर ५२ मानते हुए प्रत्येक वर्ण से प्रारंभ करके प्रासंगिक पद्य रचे जाते हैं । ऐसी रचनाओं की संज्ञा 'बावनी' है । अपभ्रंश से ऐसी रचनाओं का प्रारंभ होता है । इसकी अन्य संज्ञा 'कक्क' है । हिंदी में इसे 'अखरावट' भी कहते हैं । तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी की ऐसी चार रचनाएँ—शालिभद्र कक्क, दूहा मात्रिका, सम्यकत्त्वमाई चौपाई, मात्रिका चौपाई—प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह में प्रकाशित हैं । ये बावनी के पूर्व रूप हैं । सोलहवीं शताब्दी से ऐसी रचनाओं का नाम 'बावनी' व्यवहृत हुआ है, यद्यपि आदि-अंत में कुछ अन्य पद्य जोड़ने से पद्यों की संख्या ५४, ५७, या ६० तक पहुँच गई हैं । कुछ

रचनाएँ मातृकाक्षरों के क्रम पर नहीं रची गईं, पर उनकी पद्य-संख्या ५२ से कुछ ही अधिक होने पर उनको भी 'बावनी' कहा गया है। हिंदी, राजस्थानी, गुजराती तीनों भाषाओं में जैन कवियों द्वारा रचित पचास के लगभग बावनियाँ हैं। भिन्न-भिन्न छंदों में रची होने से इनके नाम दूहाबावनी, सवैयाबावनी, कवित्तबावनी, कुंडलिया-बावनी आदि रखे गए हैं और कुछ के नाम विषय के अनुसार धर्मबावनी गुणबावनी इत्यादि मिलते हैं। टीकमगढ़ से प्रकाशित 'मधुकर' पत्र में कई वर्ष पूर्व 'बावनी-संज्ञक हिंदी रचनाएँ' शीर्षक लेख प्रकाशित हो चुका है। हिंदी भाषा की कतिपय बावनियों, बारहखड़ियों, बत्तीसियों आदि का विवरण लेखक द्वारा संपादित 'राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज', भाग ४ में दिया गया है जो अभी छप रहा है। इनमें वर्णमाला के अक्षरों का क्रम इस प्रकार रखा गया मिलता है— ओं (न मो सि द्धं) अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः, क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह, क्ष।

(१७-१८) बारहमासा चौमासा— बारह महीनों के ऋतु-परिवर्तन, एवं विरह-भाव को व्यक्त करनेवाली रचनाओं का नाम 'बारहमासा' है। जैन और जैनेतर दोनों प्रकार के बारहमासे सैकड़ों की संख्या में मिलते हैं। साधारणतया एक-एक महीने का वर्णन एक-एक पद्य में होने से १५-२० पद्यों में ये रचे जाते हैं। पर कई बारहमासे बहुत बड़े बड़े भी हैं, जिनकी पद्य-संख्या ४९-५० से लेकर १०० से ऊपर तक पहुँच गई है। प्रकृति-वर्णन संबंधी रचनाओं में इन बारहमासों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपलब्ध बारहमासों में सबसे प्राचीन 'जिनधर्मसूरि बारह नांवउ' है, जिसकी पद्य-संख्या ५० है। यह तेरहवीं शताब्दी की रचना है और पाटन की तालपत्रीय प्रति में उपलब्ध है। नमूने के लिये कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

तिहुयण मणि चूड़ामणिहिं, बारहनावउं धमुसुरि नाहह।
निसुणेहु सुयणहु ! नाण सणाहंह पहिलउं सावण सिरि फुरिय ॥ १ ॥
कुवलय दल सामल धणु गज्जइ नं मद्दलु मंडल ज्झुणि छज्जइ।
विज्जुलड़ी झबकिहिं लवइ मणहरु वित्थारेवि कला सु।
अंन्तु करेविणु कलि केका रवु फिरि फिरि नाचहि मोरला।
मेइणि हार हरिय छमिणवर त्रीजण भयउ हिय नीलंबर
नियलिय नय मलिइ कलिय ॥ २ ॥

बारहमासे नेमिनाथ और स्थूलिभद्र सबंधी अधिक मिलते हैं। इसी प्रकार चार मास का वर्णन करनेवाले 'चौमासे' भी प्राप्त हैं।

(१६) पवाड़ा—किसी व्यक्ति के विशिष्ट कार्यों का वर्णन करनेवाली रचनाओं को 'पवाड़ा' कहते हैं। पंद्रहवीं शती में हीरानंद सूरि रचित 'विद्याविलास पवाड़ो' मिलता है। कुछ अन्य जैन पवाड़े भी प्राप्त हैं पर उनकी संख्या अधिक नहीं। सांइयाभूला के 'नागदमण' ग्रंथ में 'पवाड़ा पनगां तणउ' शब्द मिलता है। बाद में महाराष्ट्र में पवाड़ों की परंपरा बहुत जोरों से प्रचलित हुई, पर यह शब्द वीर-काव्य के लिये रूढ़ हो गया।[६]

राजस्थानी भाषा में 'पाबू जी के पवाड़े' बहुत प्रसिद्ध हैं। ये पवाड़े करुण एवं वीर रस से सराबोर हैं। इनमें से 'सोढी जी रो पवाड़ो' 'राजस्थानी-भारती,' वर्ष ३ अंक २ में प्रकाशित हो चुका है। इसी प्रकार कई अन्य पवाड़े भी राजस्थानी में प्रसिद्ध हैं। ये पवाड़े 'पड़' (= घटनाओं का दिग्दर्शन कराने वाला चित्रपट) को दिखाते हुए गाए जाते हैं।

(२०) चर्चरी—रास की भाँति ताल एवं नृत्य के साथ, विशेषतः उत्सव आदि में, गाई जानेवाली रचना को 'चर्चरी' संज्ञा दी गई है। विक्रमोर्वशीय के चतुर्थांक में अपभ्रंश भाषा के कई चर्चरी पद्य पाए जाते हैं, इससे इस संज्ञा की प्राचीनता का पता चलता है। प्राकृत-पिंगल में चर्चरी नामक छंद भी बतलाया गया है। 'चर्चरी' और 'चाचरी' इसके नामांतर हैं। जायसी में भी फागुन और होली के प्रसंग में चाचरि या चाँचर का उल्लेख है। जिनदत्त सूरि जी ने जिनवल्लभ सूरि जी की स्तुति में ४७ पद्यों की चर्चरी नामक रचना अपभ्रंश में रची है, जो अपभ्रंश 'काव्यत्रयी' में प्रकाशित है। इसके पश्चात् जिनप्रभ सूरि, सोलण, जिनेश्वर सूरि और एक अज्ञात कर्ता की, ये चार चर्चरियाँ चौदहवीं शती में रची गईं। इनमें से सोलण वाली ३८ पद्यों की रचना प्रा० गु० काव्यसंग्रह में प्रकाशित है।[७]

(२१-२२) जन्माभिषेक, कलश—तीर्थंकरों के जन्म के अवसर पर उन्हें

६—इस संबंध में विशेष जानकारी के लिये 'कल्पना', वर्ष १ अंक ५ में प्रकाशित लेखक का 'पवाड़ों की प्राचीन परंपरा' शीर्षक लेख द्रष्टव्य है।

७—विशेष द्रष्टव्य—अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृष्ठ ११४-१५ एवं 'जैन सत्यप्रकाश' वर्ष १२ अंक ६ में प्रकाशित श्री हीरालाल कापड़िया का 'चर्चरी' शीर्षक लेख।

इंद्रादि देव मेरुशिखर पर ले जाकर स्नातक करते हैं, उस समय के भाव को प्रकाशित करनेवाली रचना को 'जन्माभिषेक' वा 'कलश' संज्ञा दी गई है। तीर्थंकर की प्रतिमा को कलश से स्नान कराते समय ये रचनाएँ बोली जाती हैं। ऐसी लगभग १५ रचनाएँ चौदहवीं से सोलहवीं शती तक की उपलब्ध हैं। अब उनका स्थान पीछे की बनी हुई 'स्नात्रपूजा' ने ले लिया है, अतः इसका प्रचार नहीं रहा। इस विषय पर 'जैन सत्यप्रकाश', वर्ष १४ अंक ४ में प्रो० हीरालाल कापड़िया का 'जम्माभिसेय ने महावीर कलस' लेख प्रकाशित है।

(२३-२५) तीर्थमाला, चैत्य-परिपाटी एवं संघवर्णन—जिस रचना में जैन तीर्थों की नामावली हो उसे 'तीर्थमाला', जिसमें एक ही स्थान वा अनेक स्थानों के जैन मंदिरों की यात्रा का अनुक्रम से वर्णन हो उसे 'चैत्य-परिपाटी' वा 'परिवाड़ी', तथा जिसमें साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका चतुर्विध संघ के साथ की गई तीर्थयात्रा का वर्णन हो उसे 'संघवर्णन' संज्ञा दी गई है। तीर्थमाला तो प्राचीन भी मिलती हैं, पर चैत्य-परिपाटी चौदहवीं शताब्दी से ही प्राप्त है। संघवर्णन सतरहवीं शताब्दी से अधिक प्राप्त होता है। अनेक स्थानों की ऐतिहासिक सामग्री ऐसी रचनाओं में संकलित है। कई तीर्थमालाएँ बहुत विस्तार से लिखी गई हैं और उनमें भारत के प्रायः सभी जैन तीर्थों के वर्णन हैं। तीर्थयात्रा-वर्णनात्मक स्तवन भी छोटे-बड़े अनेक मिलते हैं। प्राचीन तीर्थों का संग्रह 'तीर्थमाला-संग्रह', 'पाटण चैत्य परिपाटी' एवं ऐसी अन्य बहुत-सी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। अप्रकाशित रचनाएँ हमने संगृहीत कर ली हैं, वे यथासमय प्रकाशित की जायँगी।

(२६-२६) ढाल, ढालिया, चौढालिया, छढालिया आदि—

इस रचना के गाने के तर्ज या देशी की संज्ञा 'ढाल' है। सतरहवीं शती में जब रास, चौपाई आदि की रचना लोकगीतों की देशियों में होने लगी तब इनकी संज्ञा ढालबद्ध हो गई। बड़े-बड़े रासों में शताधिक ढालें पाई जाती हैं। चार या छः ढालोंवाली छोटी रचनाओं को संख्या के अनुसार चौढालिया या छढालिया कहा गया है। अनेक प्रकार की देशियों वा तर्जों में रचे होने के कारण गुणसागर सूरि के 'हरिवंश रास' को 'ढालसागर' भी कहा गया है। तेरहवीं से पंद्रहवीं तक की रचनाएँ चौपाई, रासा, भास, वस्तु, ठवणी आदि छंदों में बनाई जाती थीं। प्राचीन रचनाओं में एक छंद के पूरे हो जाने पर एक 'कड़वक' का पूरा होना माना जाता था। इसी तरह जब ढालों का प्रचार हुआ तो एक ढाल के अंत में

दोहा या छंद देकर उसे पूरा किया जाता था। ढालों में रची जाने के कारण रचना को 'ढालिया' संज्ञा भी दी गई है।

ढालों को किस देशी के तर्ज पर गाना चाहिए, इसका निर्देश उन ढालों के प्रारंभ में उस देशी की प्रारंभिक पंक्ति उद्धृत करके किया गया है। देशियों की प्रथम पंक्तियों के इन उद्धरणों से सहस्रों प्राचीन लोकगीतों के अस्तित्व का पता चलता है। श्री देसाई ने बहुत-सी देशियों का संग्रह 'जैन गुर्जर कविओ' के परिशिष्ट रूप में प्रकाशित किया था। पर अभी इस दिशा में बहुत कार्य शेष है।

(३०-३४) प्रबंध, चरित्र, संबंध, आख्यानक, कथा—चरित्र, आख्यानक और कथा प्रायः एकार्थवाची हैं। जो ग्रंथ जिसके संबंध में लिखा गया है उसे कहीं-कहीं उसके नाम से उसका 'संबंध' या 'प्रबंध' कहा गया है।

(३५-४४) सतक, बहोत्तरी, सत्तरी, छत्तीसी, बत्तीसी, इक्कीसो, इकतीसी, चौबीसी, बीसी, अष्टक आदि--

ये सब नाम रचनाओं के पद्यों की संख्या के सूचक हैं। इनमें से कई बत्तीसियाँ बावनी की भाँति वर्णमाला के बत्तीस अक्षरों से प्रारंभ होनेवाले पद्यों की भी हैं। चौबीसी और बीसी चौबीस तीर्थंकरों और बीस विहरमानों के स्तवनों के संग्रह रूप हैं।

(४५-५३, ८३) स्तुति, स्तवन, स्तोत्र, गीत, सज्झाय, चैत्यवंदन, देव-वंदन, वीनती, नमस्कार, पद आदि—

इनमें तीर्थंकरों या अन्य जैन महापुरुषों के गुणों का वर्णन है। स्तुतिप्रधान रचनाओं को स्तवन, स्तुति, स्तोत्र वा गीत संज्ञा दी गई है। इनमें स्तुतियाँ चार पद्योंवाली होती हैं, जिन्हें 'थूई' भी कहते हैं। चैत्यवंदन मंदिर में वंदन करने की क्रियाविशेष है। बैठकर स्तवन करते समय पहले चैत्यवंदन पढ़ा जाता है। देव-वंदन पर्व-दिवसों के लिये विशेष अनुष्ठानरूप हैं। विनयप्रधान रचना को विज्ञप्ति या वीनती कहते हैं। गेय पदों की संज्ञा गीत है। साधुओं वा सतियों के गुण वर्णन करनेवाले तथा दुर्गुणों के परिहार एवं सद्गुणों के स्वीकार के प्रेरणादायक गीत 'स्वाध्याय' या 'सज्झाय' कहलाते हैं। 'पद' विशेष रूप से आध्यात्मिक गीतों को कहते हैं। वे राग-रागिनियों में गाए जाते हैं।

(५७-५८) प्रभाती, मंगल, साँझ, बधावा, गहूँली आदि—प्रातःकाल गाए जानेवाले गीतों को 'प्रभाती' एवं 'मंगल' और संध्या समय गाए जानेवालों को 'साँझ' या 'साँझी' कहते हैं। आचार्यों के आगमन पर बधाई के रूप में गाए जानेवाले गीतों को 'बधावा' वा 'बधावणा' और आचार्यों के सम्मुख चावल के स्वस्तिक आदि की गहूँली करते समय उनके गुणवर्णनादि के जो गीत गाए जाते हैं उन्हें 'गहूँली' कहते हैं।

(५९-६०) हीयाली, गूढ़ा—जिन पदों का अर्थ गूढ़ हो, उन्हें 'गूढ़ा' कहते हैं। किसी वस्तु के नाम को गुप्त रखते हुए, नाम को स्पष्ट करनेवाली विशेष बातों का वर्णन जिनमें किया गया हो ऐसी रचनाओं को 'हीयाली' या 'हरियाली' कहते हैं। हिंदी में इन्हें 'कूट' कहा जाता है। इनके द्वारा बुद्धि की परीक्षा की जाती है। रसों में पति-पत्नी की परस्पर गोष्ठी का जहाँ वर्णन आता है वहाँ वे हीयालियों एवं गूढ़ाओं द्वारा परस्पर मनोरंजन एवं विनोद करते पाए जाते हैं। प्राकृत सुभाषित-ग्रंथ 'वज्जालग्ग' में हीयाली वज्जा की पद्धति है। उससे तो हीयाली भी गूढ़ा जैसी ही एक-पद्यवाली रचना प्रतीत होती है। परंतु जैन कवियों की प्राप्त हीयालियाँ ५, ७ वा १० पद्यों तक की भी मिलती हैं। सोलहवीं शताब्दी से ऐसी हीयालियों का विशेष प्रचार हुआ। ये सैकड़ों की संख्या में मिलती हैं। लगभग पचास तो हमारे ही संग्रह में हैं। उनमें कई बड़ी सुंदर हैं। जैन मुनियों ने अपने नित्य के व्यवहार में आनेवाले ओघा, मुँहपत्ति, स्थापनाचारी आदि से संबंधित हीयालियाँ भी बनाई हैं। ज्ञानसार जी रचित गूढ़ाबावनी ग्रंथ हमारी ज्ञानसार-ग्रंथावली में छप चुका है।

(६१-६४) गजल, लावणी, छंद, नीसाँणी आदि—जैन कवियों की गजल-संज्ञक रचनाओं में नगरों और स्थानों का वर्णन है। इनकी रचना का एक विशेष प्रकार होता था। सभी गजलें उस एक ही शैली में रची गई हैं। सबसे प्राचीन नगर-वर्णनात्मक गजल जटमल नाहर रचित 'लाहोर गजल' है, जो सं० १६८० के आसपास की है। भाषा हिंदी है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शती में गजलें रचने का बड़ा प्रचार रहा है। लगभग चालीस गजलें मैंने संगृहीत की हैं। उनकी भाषा प्रधानतया हिंदी होने पर भी उनमें राजस्थानी के शब्दों का व्यवहार प्रचुरता से किया गया है। लावणी, नीसांणी और छंद भी रचना के विशेष प्रकार हैं। छंद जैन तीर्थंकरों में पार्श्वनाथ के अधिक मिलते हैं। वैसे लोकमान्य देवी-देवताओं के संबंध में तो काफी संख्या में मिलते हैं। सतरहवीं से उन्नीसवीं शती तक इनका प्रचार अधिक रहा। लावणी अधिक प्राचीन नहीं मिलती।

(६५-६८) नवरसो, प्रवहण, वाहण, पारणो आदि—जिस रचना में नौ रसों का वर्णन हो उसका नामांत पद 'नवरसा' मिलता है। स्थूलभद्र और नेमिनाथ के दो ही नवरसे ज्ञात हैं। 'प्रवहण' और 'वाहण' उन रचनाओं के नाम हैं जिनमें जहाज के रूपक का वर्णन होता है। भगवान महावीर आदि तपस्वियों के पारणे का जिसमें वर्णन हो ऐसी रचना की संज्ञा 'पारण' रखी गई है।

(६९-७०) पट्टावली-गुर्वावली—इनमें जैन गच्छों की आचार्य-परंपरा का इतिवृत्त संकलित किया गया है। पट्ट-परंपरा वा गुरु-परंपरा का वर्णन होने से इनका नाम पट्टावली वा गुर्वावली प्रसिद्ध है।

(७१-७२) हमचड़ी-हींच—तालियों से ताल देते हुए और संगीत की लय के साथ पाँवों से ठेका देते हुए रास की भाँति गोलाकार घूमते हुए जिस रचना को पुरुष गाते हैं उसे 'हींच' और जिसे स्त्रियाँ गाती हैं उसे 'हमचड़ी' कहते हैं। कभी-कभी पुरुष और स्त्रियाँ साथ-साथ भी गाती हैं। इस संज्ञा वाली जैन रचनाएँ दो-चार ही मिलती हैं।

(७३-७५) माला, मालिका, नाममाला, रागमाला आदि—जिन रचनाओं में तीर्थंकरों के विशेषणों वा साधुओं के नामों की माला गुंफित की गई हो उन्हें नाममाला, मुनिमालिका, आदि संज्ञा दी जाती है। शील के रूपकों के नामोंवाली रूपकमाला-संज्ञक दो जैन रचनाएँ सोलहवीं शती की प्राप्त हैं। जिन रचनाओं में राग-रागिनियों के नामों को ग्रथित किया हो उन्हें 'रागमाला' कहा जाता है।

(७६) कुलक—जिस रचना में किसी शास्त्रीय विषय की आवश्यक बातें संक्षेप में संकलित की गई हों या किसी व्यक्ति का संक्षिप्त परिचय दिया गया हो उसकी संज्ञा 'कुलक' वा 'कुलउ' दी गई है। प्राकृत एवं अपभ्रंश में सैकड़ों कुलक मिलते हैं, जिनकी सूची संकलित करके मैंने 'जैनधर्म प्रकाश', वर्ष ६४ अंक ८, ११, १२ में प्रकाशित की है। राजस्थानी में सोलहवीं-सतरहवीं शताब्दी के कुछ कुलक प्राप्त हैं।

(७७) पूजा—जैनागम रायपसेणीय सूत्र में तीर्थंकरों की मूर्ति में सतरह प्रकार की पूजन-विधि का वर्णन है। जंबूद्वीपपन्नति आदि में तीर्थंकरों की जन्माभिषेक-विधि का विस्तृत विवरण है। मध्यकाल में अष्ट प्रकार की पूजा का बड़ा प्रचार रहा। इसके संबंध में प्राकृत भाषा में कथाग्रंथ भी मिलते हैं। उन पूजाओं में से स्नात्रविधि पहले संस्कृत में रची जाती थी और पीछे अपभ्रंश के

जन्माभिषेक और कलश भी इसी विधि में सम्मिलित कर दिए गए। पंद्रहवीं शताब्दी तक तो यही क्रम चालू रहा, पर सोलहवीं में कवि देपाल ने तत्कालीन भाषा में स्नात्रविधि की रचना की। फिर इस संज्ञावाली अनेक पद्य रचनाएँ राजस्थानी और गुजराती में बनती चली गईं। अष्टप्रकारी पूजा भी पहले एक-एक श्लोक बोलकर कर ली जाती थी। पीछे से उसके विस्तृत वर्णनवाली पूजाएँ भी लोकभाषा में रची गईं। अन्य पूजाओं में भी इन आठ प्रकारों को महत्त्व दिया गया है। सत्तरभेदी पूजा का सतरहवीं शताब्दी में तपागच्छीय सकलचंद और खरतरगच्छीय साधुकीर्ति आदि ने सर्वप्रथम लोकभाषा में निर्माण किया। पूजाओं का प्रचार उन्नीसवीं शताब्दी में बड़े जोरों से हुआ। फलतः पचासों विविध नामोंवाली पूजाओं का उन्नीसवीं शती से अब तक निर्माण होता रहा है।

(७८) **गीता**—भगवद्गीता का प्रचार विगत कई शताब्दियों से बढ़ता चला आ रहा है, अतः 'गीता' शब्द की लोकप्रियता से आकर्षित होकर कुछ जैन विद्वानों ने इस नामांत पदवाली रचनाएँ भी की हैं, जिनका कुछ परिचय मैंने 'श्रमण', वर्ष २ अंक ९ में 'गीता-संज्ञक जैन रचनाएँ' लेख में दिया है।

(७९-८०) **पट्टाभिषेक, निर्वाण, संयमश्री विवाह वर्णन आदि**—जिस रचना में जैनाचार्यों के पट्टाभिषेक (आचार्य-पद-प्राप्ति) का वर्णन हो उसे 'पट्टाभिषेक रास' एवं जिसमें उनकी स्वर्ग-प्राप्ति या निर्वाण वर्णन हो उसे निर्वाण तथा जिसमें दीक्षा-वर्णन की प्रधानता हो उसे 'संयमश्री विवाह वर्णन' संज्ञा दी गई है।

संस्कृत साहित्य में व्याख्या की पद्धतियाँ

[श्री रामशंकर भट्टाचार्य]

संस्कृत साहित्य में अति प्राचीन काल से व्याख्या करने की रीति चली आ रही है तथा व्याख्या-ग्रंथों के अनेक भेदों एवं विशेषताओं के सोदाहरण उल्लेख भी प्राचीन काल से ही दृष्ट होते हैं। व्याख्या की पद्धति का विकास कितने रूपों में हुआ तथा व्याख्या-ग्रंथों के कितने भेद आदि हैं, यह संक्षेप में इस लेख में बताया जायगा। प्रसंगतः व्याख्या के स्वरूप, प्रयोजन आदि की भी आलोचना की जायगी।

शंका हो सकती है कि व्याख्या तो सदैव एकरूप ही होती है—उसमें केवल दुर्बोध शब्द का स्पष्टीकरण किया जाता है—अतः उसमें विकास का प्रसंग क्या ? उत्तर यह है कि शाब्दिक अस्पष्टता का ज्ञान मेधा के तारतम्य के अनुसार होता है, अतः शाब्दबोध में जिस प्रकार का विपर्यय होगा उसके दूरीकरण के लिये उसी प्रकार की व्याख्या भी होगी। अतएव व्याख्या की अनेक रीतियाँ हो सकती हैं। वक्ष्यमाण उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा।

व्याख्या के उद्देश्य को आचार्य व्याडि ने बहुत स्पष्ट शब्दों में बताया है—"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्।" इससे तीन सिद्धांत विनिर्गत होते हैं—(१) शास्त्र के अर्थज्ञान में संदेह हो जाया करता है; (२) संदेह होने के कारण शास्त्रार्थ की अप्रतिष्ठा नहीं समझनी चाहिए; (३) परंपरागत साधु व्याख्यान से संदेह दूर हो जाते हैं।

व्याख्या के लक्षण

१—पतंजलि ने व्याख्या के विषय में कहा है—"ननु च तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति ? न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्, किं तर्हि ? उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत् समुदितं व्याख्यानं भवति" (पस्पशाह्निक)। अर्थात् जिस सूत्र में उदाहरण, प्रत्युदाहरण तथा वाक्याध्याहार (गम्यमान अर्थ का कथन) हो वह व्याख्या है। केवल चर्चापद (चर्च्यमानानि विभज्यमानानीत्यर्थः—उद्योत) अर्थात् सूत्र का विच्छेद करना ही व्याख्यान नहीं है, क्योंकि उससे

निःसंशय अर्थबोध नहीं होता। इससे ध्वनित होता है कि अपेक्षित अंश का पूरण तथा समझाने के लिये आवश्यक विषय का कथन व्याख्यान है।

२—पराशर उपपुराण (अ० १८) में कहा है—"पदच्छेदः पदार्थोक्तः विग्रहो वाक्ययोजना। आक्षेपस्य समाधानं व्याख्यानं पंच लक्षणम् ॥" अर्थात् व्याख्यान में पाँच विषयों का उपन्यास होना चाहिए—(१) पदच्छेद, अर्थात् व्याख्येय वाक्य के अंतर्गत पदों का पृथक्करण, क्योंकि पदों का अन्वयपूर्वक बोध होने से वाक्यार्थ का बोध हो ही जायगा; (२) पदार्थोक्ति, अर्थात् अप्रचलित एवं क्लिष्ट पदों का अर्थ-कथन; (३) विग्रह, अर्थात् समासों में प्रत्येक पद को अलग-अलग दिखाना; (४) वाक्ययोजना, अर्थात् अवांतर वाक्यों का परस्पर संबंध दिखाना या मूल वाक्य का आशय बतलाना, (५) आक्षेप का समाधान। यद्यपि इस अंतिम का व्याख्या से साक्षात् संबंध विशेष नहीं है तथापि मूल वाक्य में जो न्याय-दोष हो उसका निराकरण उन्नत व्याख्या में होना चाहिए। परवर्ती काल में यह लक्षण अधिकता से मिलता है।

३—'प्रयोगरत्नमाला' में उपर्युक्त के समान ही एक व्याख्या-भेद का उल्लेख है—'उदाहृतिः पदकृतिः पदार्थानां विवेचनम्। तन्त्राणां त्रिविधा व्याख्या शिशूनां शीघ्रबोधिनी ॥" वस्तुतः यह लक्षण पूर्वोक्त दोनों लक्षणों का सार-रूप है।

४—निरुक्त-व्याख्या में भगवद्दुर्गाचार्य ने व्याख्या का स्वरूप बतलाया है—'विविच्य आख्या'; अर्थात् मूल का विवेचन कर जो विवरण किया जाता है वह व्याख्या है।

५—व्याख्या के स्वरूप के संबंध में विष्णुधर्मोत्तर (३।५) में अनेक विशिष्ट तथ्य कहे गए हैं जिनका सारांश इस प्रकार है—'सूत्र की व्याख्या छः प्रकार की होती है—आरंभ (ग्रंथारंभ का सार्थक्य, जैसा शंकराचार्य ने वेदांत-भाष्य में दिखाया है); संबंध (अन्य शास्त्र से संबंध तथा पूर्वापर संबंध); सूत्रार्थ; सूत्र-विशेषण (सूत्र में अकथित, अथच सूत्र से ज्ञाप्यमान विषय का विवरण तथा सूत्र की निर्दोषता का प्रकाशन); चोदक (शंका); परिहार (उत्तर)। सूत्र की व्याख्या में पहले पदच्छेद करना चाहिए, फिर समास दिखाना चाहिए और फिर उसका अर्थ। योग (इसका अर्थ चिंत्य है)[1] की व्याख्या षड्विध है—सूत्रार्थ, पदार्थ, हेतु,

---

१—पाणिनीय शास्त्र में योग सूत्र का पर्यायवाची है, संभव है यही अर्थ यहाँ विवक्षित हो।

क्रम, निरुक्त, विन्यास। तंत्र की व्याख्या भी छः प्रकार की है--उपोद्घात (प्रयोजन तथा संबंध का विवेचन), पद, पदार्थ, पद-विग्रह, अविमर्श, प्रत्यवस्था (अविमर्श=पूर्वपक्ष; संदेह प्रकट करना। प्रत्यवस्था=उसका उत्तर देना)।' कहीं-कहीं तंत्र-व्याख्या का थोड़ा-सा भिन्न लक्षण भी दिया गया है; यथा "उपोद्घातः पदंचैव पदार्थः पदविग्रहः, चालना प्रत्यवस्था च व्याख्या तंत्रस्य षड्विधा।" यहाँ 'चालना' का अर्थ स्पष्ट नहीं है, संभवतः इसका अर्थ 'संदेह करना' है। किसी के मत से प्रकृति-प्रत्यय से निर्मित आदेश का नाम चालना है।

व्याख्या की पद्धतियाँ

वैदिक वाङ्मय सर्वप्राचीन साहित्य है। उसके प्राचीनतम अंश मंत्र-संहिता में भी व्याख्या का प्रतिभास दिखाई पड़ता है। यद्यपि संहिता से प्राक्तन ग्रंथ न होने के कारण उसमें किसी अन्य ग्रंथ की व्याख्या नहीं हो सकती, तथापि कहीं-कहीं उसमें निर्वचन के साथ शब्दों का प्रयोग मिलता है, यथा 'अश्नन्तौ अश्विनौ' (अश्विन् शब्द के साथ अश् धातु का भी उल्लेख)। यह असंदिग्ध रूप से प्रमाणित करता है कि व्याख्या की रीति वेद-समकालिक है, तथा स्वयं ग्रंथकार को भी व्याख्या के साथ कहने की प्रवृत्ति होती है। ब्राह्मण-ग्रंथों में भी यह रीति मिलती है ('तद् यद् अक्षरत् तदक्षरम्', शतपथ ६।१।३।६)। अतः पहले हम वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध व्याख्या-रीतियों का ही निदर्शन करेंगे।

(१) वेदशाखीय—वैदिक वाङ्मय में व्याख्या का जो प्राचीनतम रूप दृष्ट होता है उसे हम 'वेदशाखीय व्याख्या' कह सकते हैं। इससे पहले किसी ग्रंथ को व्याख्येय मानकर उसकी व्याख्या के लिये ग्रंथ-रचना की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। मूल संहिता के साथ शाखाओं की तुलनात्मक आलोचना से 'शाखीय व्याख्या' का रूप स्पष्ट हो जायगा। इस पद्धति की विशेषता यह है कि इसमें केवल पदों का परिवर्तन कर दिया गया है, अर्थात् अप्रचलित एवं क्लिष्ट पदों के स्थान पर सुबोध्य तथा तत्काल प्रचलित पदों का प्रयोग किया गया है। किसी प्रकार का शंका-समाधान या शाब्दिक विश्लेषण इसमें नहीं दिखाई पड़ता। उदाहरणार्थ, मूल यजुर्वेद में पाठ है—'भ्रातृव्यस्य वधाय' (१।१८), किंतु परवर्ती काल में काण्व संहिता में उसी स्थल का पाठ है—'द्विषतो वधाय' (१।२।६)। इसी प्रकार मूल यजुर्वेद में है 'एष वो अमी राजा' (९।४०), पर काण्व-संहिता में है 'एष वः कुरवो राजा, एष पञ्चाला

राजा' (११।३।२)। मूल वेद में जो सामान्य शब्द था वह बाद में विशेषण तथा अन्य विवरण सहित पढ़ा गया, इससे शाखीय व्याख्या का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इन उदाहरणों से प्रकट है कि वेद के आविर्भाव के बहुत समय बाद जब कुछ शब्द अप्रचलित हो गए या उनके गूढ़ार्थ अस्पष्ट होने लगे तब उनके स्थान पर तत्काल प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा। इस प्रकार शाखाओं द्वारा उनके विवक्षितार्थ की रक्षा की गई। इस प्राचीन काल में अन्य प्रकार के संदेहों की उत्पत्ति नहीं हुई थी, अतः इस व्याख्या में शब्द-परिवर्तन मात्र दिखाई पड़ता है।

(२) पदपाठीय—वैदिक वाङ्मय में व्याख्या की एक अन्य रीति भी प्रचलित है। प्रत्येक वेद के पद-पाठ हैं जिनमें मूल वैदिक पदों का विभाग किया गया है। समस्त पदों का विग्रह, तिङंत पदों में उपसर्ग और धातु का पृथक्करण आदि इस व्याख्या-शैली की विशेषता है। पदपाठ की भिन्नता से अर्थ में भी भेद हो जाता है, यह उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। वेद में एक शब्द है 'मासकृत्'। इसका पद-विच्छेद मा+सकृत् या मास+कृत्, दोनों प्रकार से हो सकता है, और पदकारों द्वारा किए गए पद-विच्छेद के अनुसार ही अर्थ करना शिष्ट मार्ग कहा जा सकता है। निरुक्त तथा व्याकरण में जो व्याख्या करने की विकसित पद्धति दिखाई पड़ती है, पदपाठ उसी का प्रारूप है, यह कहना अनुचित न होगा। वस्तुतः पदपाठीय व्याख्या ही वेद की आदिम तथा अकृत्रिम व्याख्या है।

(३) क्रमपाठीय—वैदिक साहित्य में 'क्रम-पाठ' भी एक प्रकार की व्याख्या-पद्धति ही है, क्योंकि इसमें मंत्रस्थ पदों का अन्वयपूर्वक पाठ किया जाता है, जिससे अर्थ-बोध में संशयों के दूरीकरण के साथ-साथ शब्द-बोध में सौकर्य भी होता है। यह एक अति प्राचीन रीति है। आधुनिक काल में भी अन्वय के साथ-साथ व्याख्या करने की रीति प्रचलित है। यह अन्वय दो प्रकार का होता है—(१) दंडान्वय तथा (२) खंडान्वय। क्रमपाठ में दंडान्वय की ही रीति पाई जाती है, क्योंकि इसमें मंत्रस्थ पदों का अर्थबोधानुसारी सज्जीकरण किया जाता है। जान पड़ता है कि जब 'दंडान्वय' से अर्थबोध शीघ्रता से नहीं होने लगा, तभी दूसरी रीति का प्रयोग आरंभ हुआ, जिसमें प्रश्नपूर्वक अन्वय किया जाता है। काव्यों की अति प्राचीन टीकाओं में यह रीति नहीं दिखाई पड़ती, अतएव यह रीति आधुनिक है। क्रमपाठ की व्याख्यान-पद्धति का एक उदाहरण लीजिए। 'अग्निमीले पुरोहितम्.........' (१।१।१)। यह ऋग्वेद का आदिम मंत्र है, पर यदि अन्वय-

पूर्वक इसका पाठ इस प्रकार किया जाय—'पुरोहितम् अग्निम् ईळे', तो यह क्रमपाठ हुआ। स्पष्ट है कि इससे अर्थबोध में सौकर्य होता है, अतः यह एक व्याख्यान-पद्धति विशेष है।

(४) शिखा, घन, जटा आदि—पूर्वोक्त सिद्धांत से यह भी निर्गलित होता है कि वेद के 'शिखा', 'घन', 'जटा' आदि पाठ भी मुख्य या गौण रूप से एक प्रकार की व्याख्या-पद्धति ही हैं। मंत्रों के इन सब पाठों से केवल यही नहीं कि मंत्र-शरीर अविकृत रहता है, अपितु इनसे अर्थबोध भी कभी विपर्यस्त नहीं हो सकता तथा अनेक स्थलों पर शब्दबोध में संशयोच्छेदपूर्वक सुकरता होती है। शिखा, घन आदि के स्वरूप की आलोचना यहाँ अप्रासंगिक अतः अनावश्यक है। इन सबका विवरण 'जटाद्यष्टविकृति संग्रह' में देखना चाहिए।

अब वेदांगों की व्याख्यान-पद्धति भी द्रष्टव्य है। वेदांगों में 'कल्प' तथा 'ज्योतिष' को साक्षात् रूप से व्याख्या नहीं कहा जा सकता, अतः यहाँ 'शिक्षा', 'निरुक्त' आदि की ही विशिष्टता आलोचित होगी।

(५) शिक्षा—वेदांगों में प्रथम व्याख्यान-पद्धति 'शिक्षा' में दृष्ट होती है। शिक्षा = उच्चारण की विद्या। शंका हो सकती है कि इससे व्याख्यानपद्धति का क्या संबंध है? उत्तर यह है कि कई स्थलों पर उच्चारण के भेद से अर्थ में भिन्नता हो जाती है। यथा—'इन्द्रशत्रु' शब्द यदि अंतोदात्त हो, तो उसका अर्थ होगा 'इंद्र का शत्रु', पर यदि आद्युदात्त हो तो उसका अर्थ होगा 'इंद्ररूपी शत्रु' (पतंजलि, पस्पशाह्निक)। अतएव शिक्षाशास्त्र भी व्याख्यान में सहायक होने के कारण व्याख्या की एक पद्धति विशेष है।

स्वर के बिना विवक्षित अर्थ का भी बोध नहीं होता। इसका उदाहरण है भाष्योक्त 'स्थूल-पृषती' शब्द। इसके दो अर्थ हो सकते हैं—स्थूला च असौ पृषती, अर्थात् स्थूल बिंदु; तथा स्थूल पृषती वाली गौ। इन दोनों अर्थों में भिन्न प्रकार के स्वरों का प्रयोग होता है और उनके प्रयोग के बिना वक्ता का अभीष्ट अर्थ कदापि गम्य नहीं हो सकता।

(६) निरुक्त—इस शास्त्र में भी एक विचित्र व्याख्या-पद्धति का परिचय मिलता है। यह पदपाठ व्याख्या से अधिक विकसित है, ऐसा पहले कहा जा चुका है। निरुक्त व्याख्या की विशिष्टता यह है कि प्रत्येक शब्द की प्रकृति का निर्देश

करता है, प्रत्येक शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त के अनुसार उसके व्युत्पत्तिनिमित्त का अन्वेषण करता है तथा एक शब्द से अनेक अर्थों की अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है, इसका सप्रमाण निरूपण करता है। उदाहरणार्थ, निघंटु के प्रथम शब्द (गो) की व्याख्या में निरुक्तकार ने कहा है—'गो' पृथिवी का नाम है, क्योंकि यह दूर तक गमन करती है, किंच इसमें भूत (प्राणी) गमन करते हैं। अथवा 'गा' धातु से भी यह शब्द संभव है...' इत्यादि। यही बात 'पद' शब्द के निर्वचन में भी है। यास्क के अनुसार 'पाद' शब्द गत्यर्थक धातु से बनता है, उसका निधान होने के कारण पद का नाम पाद है × × ×। पशुओं के चार पैर होते हैं, अतः पाद शब्द चतुर्थांशवाची भी होता है, इत्यादि। अर्थ के साथ शब्द की प्रकृति का समन्वय दिखाना इस रीति का मौलिक वैशिष्ट्य है।

(७) व्याकरण—व्याकरणशास्त्र की व्याख्या-पद्धति निरुक्त से अनेक अंशों में भिन्न है अतः यह भी एक विशिष्ट व्याख्या-पद्धति का विज्ञापक है। यद्यपि ये दो शास्त्र परस्पर स्वार्थसाधक हैं, पर व्याकरण-पद्धति की कुछ अपनी विशेषता है। नैरुक्त व्याख्या केवल शब्द की प्रकृति का उल्लेख करती है, प्रत्यय का नहीं, परंतु व्याकरण में अवश्यंभावी रूप से प्रत्येक पद के प्रकृति-प्रत्यय को दिखाया जाता है। इस शास्त्र के अनुसार प्रत्यय का अर्थ प्रकृति के अर्थ से बलवान् होता है, अतः प्रत्यय का उल्लेख इसकी व्याख्या-पद्धति का मौलिक वैशिष्ट्य है। व्याकरणशास्त्र निरुक्त की भाँति शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त के साथ उसके व्युत्पत्तिनिमित्त का समन्वय सर्वत्र नहीं दिखाता। उसकी व्याख्या-पद्धति इस प्रकार की होती है कि उससे अज्ञात शब्द सुनकर उसके प्रकृति-प्रत्यय का ऊहन कर कथंचित् अर्थबोध किया जा सकता है। व्याकरणशास्त्र यह भी नहीं बतलाता कि अर्थों का विकास किस प्रकार होता है तथा किस प्रकार एक शब्द विभिन्न अर्थ देने लगते हैं—जो निरुक्त की एक मुख्य विशेषता है। परंतु यह विशेषता केवल व्याकरण में ही होती है कि वह व्याख्या द्वारा यह बतलाता है कि कौन शब्द किस अर्थ में साधु है, कौन किस अर्थ में असाधु।

(८) छंदशास्त्र—यद्यपि छंदशास्त्र का मुख्य संबंध अर्थों के विशदीकरण से नहीं है और इस कारण यह कोई मौलिक व्याख्या-पद्धति नहीं है, तथा लौकिक संस्कृत में छंदभेद के साथ अर्थभेद का दृष्टांत भी नहीं मिलता एवं वेद में भी कचित्

ही मिलता है, तथापि छंदशास्त्र वेद-व्याख्यान के लिये ही है और वेद में कई स्थलों पर छंदभेद से अर्थभेद हो जाता है, अतः अर्थज्ञान में सहायक होने के कारण इसकी भी गणना हमने व्याख्या-रीतियों में की है।

छंदभेद से अर्थभेद का एक विशिष्ट उदाहरण दिया जाता है। ऋग्वेद में एक मंत्र है "त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः देवेभिर्मानुषे जने" (६।१६।१)। इसके छंद के विषय में दो मत हैं। ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार यह 'वर्धमाना गायत्री' (६+७+८ अक्षर) है। पर निदान सूत्र के अनुसार यह 'पिपीलिका मध्या' है। वर्धमाना गायत्री मानने पर अन्वय होगा—त्वमग्ने यज्ञानां—होता विश्वेषां हितः—देवेभिर्मानुषे जने; और द्वितीय मत से होगा—त्वमग्ने यज्ञानां होता—विश्वेषां हितः—देवेभिर्मानुषे जने। प्रथम मत से 'होता' शब्द पूर्वान्वयी होगा, द्वितीय मत से उत्तरान्वयी। अतः छंदभेद से अर्थभेद मानना पड़ेगा।

अब हम लौकिक संस्कृत साहित्य से ऐसी व्याख्या-रीतियों का विवरण देंगे जिनमें केवल शब्द का विश्लेषण ही नहीं, अपितु अपेक्षित विषय का पूरण एवं शंका-समाधान आदि भी है। अर्थ-विश्लेषण की दृष्टि से ये पद्धतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें शाब्दिक विश्लेषण कुछ अंश तक गौण है।

(९) वृत्ति—इस रीति का प्रयोग सूत्रग्रंथों की व्याख्या के लिये किया जाता था। इसका लक्षण है—"सूत्रार्थप्रधानो ग्रंथो वृत्तिः" (पदमंजरी); अर्थात् जिस रीति में केवल सूत्रों का अर्थ मात्र दिखाया जाय वह 'वृत्ति' है। सूत्र का स्वरूप अति लघु होता है, अतः उसमें अनेक विषयों का अध्याहार कर सूत्रार्थ की पूर्णता दिखाई जाती है। इसी पूर्णता-विधायक रचना-शैली का नाम वृत्ति है। सूत्रों की व्याख्या में वृत्ति ही सर्वप्राचीन है। सूत्र व्याख्यासापेक्ष होते ही हैं (सूत्राणां सोपस्कारत्वात्, प्रदीप ६।१।१) और इनका अविनाभावी उपस्कार (सापेक्ष अर्थ का पूरण) वृत्ति से ही किया जाता है। जैसा कि आचार्य कुमारिल ने कहा है (प्रसिद्धहानिः शब्दानां अप्रसिद्धे च कल्पना; न कार्या वृत्तिकारेण सति सिद्धार्थसंभवे—श्लोकवार्तिक, १।१।१), वृत्ति में शंका-समाधान तथा अनपेक्षित अर्थ का अवतरण नहीं करना चाहिए।

(१०) वार्तिक—इस व्याख्या में सूत्रों की समालोचना की जाती थी। इसका लक्षण है—"उक्तानुक्तदुरुक्तादिचिंता यत्र प्रवर्तते, तं ग्रंथं वार्तिकं प्राहुः वार्तिकज्ञा

विपश्चितः" (संबंधवार्तिक, पृष्ठ ७); अर्थात् व्याख्येय ग्रंथ की उक्त-अनुक्त-दुरुक्त संबंधी समालोचना का नाम वार्तिक है। विष्णुधर्मोत्तर में भी वार्तिक का लक्षण दिया है, वहाँ प्रयोजनांश के विवरण तथा संशय-निर्णय की उपपत्ति को भी वार्तिक-शैली का वैशिष्ट्य बतलाया गया है।

(११) भाष्य—संशय-निराकरण आदि से युक्त व्याख्या-शैली का दूसरा प्रकार 'भाष्य' भी है। व्याख्या की पद्धतियों में यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका सामान्य लक्षण है—"आक्षेपसमाधानपरो ग्रंथो भाष्यम्" (पदमंजरी)। अन्यत्र इसका लक्षण है—"सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः, स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।" इन दोनों को मिलाने से भाष्य का लक्षण इस प्रकार होगा—'जिस व्याख्या-पद्धति में शंकाओं का समाधान हो, सूत्रानुसारी शब्दों से सूत्रार्थ का विचार हो तथा अपनी ओर से प्रयुक्त शब्दों की भी व्याख्या हो, वह भाष्य है।' वार्तिक में जो शंका रहती है वह सूत्रों से स्वयं उत्थित होती है, अन्य संप्रदाय द्वारा उठाई गई नहीं, तथा वार्तिक में अप्रासंगिक विषयों का विचार नहीं होता; परंतु भाष्य-व्याख्या में शास्त्र से संबंधित सभी विषयों का विचार किया जाता है।

(१२) न्यास—जिस व्याख्यान-पद्धति में मूल ग्रंथ के सिद्धांत की स्थापना की ओर अधिक चेष्टा की जाती है उसका नाम 'न्यास' है; क्योंकि इसका लक्षण किया गया है—"न्यस्यते स्थाप्यते दृढीक्रियते अनेनेति न्यासः।" यद्यपि प्रचलित न्यास-ग्रंथों में केवल स्वमत-स्थापन का ही प्रयत्न नहीं दिखाई पड़ता, परमत-खंडन भी है, तथापि यह समझना चाहिए कि उन स्थलों पर परमत-खंडन स्वमत-स्थापन के लिये ही है, अतएव लक्षण का समन्वय हो जाता है।

(१३) चूर्णि—उक्त पद्धति की विपरीत पद्धति भी है, उसका नाम है 'चूर्णि'। किसी के मत से यह भाष्य का पर्यायवाची है। इस रीति में परमत-खंडन ही अधिक मात्रा में किया जाता था। यह शैली परमत को विचूर्ण करती थी, इसी से इसका नाम 'चूर्णि' पड़ा।

उपर्युक्त दो रीतियाँ न्यायशास्त्र के 'जल्प' तथा 'वितण्डा' के अनुसार हैं। केवल स्वमत-स्थापन करने का नाम है 'जल्प' तथा केवल परमत-खंडन का 'वितण्डा'।

उपर्युक्त व्याख्यान-शैलियों में विचारांश की कुछ प्रधानता होती है, लेकिन ऐसी भी व्याख्यान-पद्धतियाँ हैं, जो मूल व्याख्येय ग्रंथ के अतिरिक्त कुछ भी नहीं

कहतीं, मूल का अर्थबोध कराना ही जिनका एकमात्र लक्ष्य है। वक्ष्यमाण पद्धतियाँ इसी प्रकार की हैं।

(१४) टीका—इस रीति में व्याख्येय ग्रंथ के प्रत्येक पद की व्याख्या होती थी। इसका लक्षण है—"टीका निरन्तरा व्याख्या"; अर्थात् अंतरहीन व्याख्या का नाम टीका है। यह रीति संभवतः बालकों को कठिन ग्रंथों का अर्थबोध कराने के लिये आविष्कृत हुई थी। अति प्राचीन काल में यह रीति नहीं दिखाई पड़ती।

(१५) पंजिका—यह टीका का ही एक उन्नततर रूप है; क्योंकि इसका लक्षण है—'पंजिका पदभंजिका", अर्थात् पंजिका का कार्य पदों का विभजन करना है। यहाँ 'पद' का अर्थ 'विषम पद' (अर्थात् जिसका अर्थ सहज रूप से समझ में नहीं आता) समझना चाहिए, अन्यथा पंजिका और टीका में कोई मौलिक अंतर नहीं रहेगा। प्रचलित पंजिकाओं में विषम-पद-व्याख्या के साथ-साथ टीका-रीति भी दीख पड़ती है, जो प्रमाणित करता है कि बाद में इन सब रीतियों का परस्पर सांकर्य हो गया।

(१६) पस्पश—यह भी एक विशिष्ट व्याख्यान-रीति जान पड़ती है। शिशुपाल वध (२।११२) की व्याख्या में वल्लभ ने कहा है—"पस्पशः प्रयोजनग्रंथः", अर्थात् जिसमें मूल ग्रंथ का प्रयोजन दिखाया जाय उस व्याख्या का नाम 'पस्पश' है। मल्लिनाथ ने भी प्रायः ऐसा ही कहा है—"पस्पशः शास्त्रारम्भसमर्थकः उपोद्घातसन्दर्भग्रंथः" (घंटापथ)। यह व्याख्या व्याख्या-ग्रंथ के आरंभ में ही लिखी जाती थी, जैसा कि व्याकरण-महाभाष्य में है।

(१७) वर्णिका—यद्यपि इसके विशेष स्वरूप का पता नहीं चलता, किंतु यह भी एक व्याख्यापद्धति जान पड़ती है। सिद्धांतकौमुदी की व्याख्या में तत्त्वबोधिनी में लिखा है—'वर्णिका ग्रन्थविशेषस्य व्याख्या" (पृ० ५१०, लाहौर-संस्करण)। किसी के मत से यह किसी व्याख्या का नाम है। वेदांत-भाष्य में १।१।३ सूत्र की आचार्य शंकर ने दो व्याख्याएँ की हैं और प्रत्येक व्याख्या के अंत में कहा है "इति प्रथमं वर्णकम्", "इति द्वितीयं वर्णकम्।" क्या इससे यह ध्वनित हो सकता है कि वैकल्पिक व्याख्या का नाम 'वर्णक' है?

अन्य आवश्यक ज्ञातव्य

अब हम व्याख्या संबंधी कुछ विशिष्ट तत्त्वों के विषय में प्राचीन आचार्यों का अभिमत प्रस्तुत करेंगे।

(१) यह सर्वविदित है कि व्याख्या ग्रंथ की ही होती है, किसी पदार्थ-विशेष की नहीं, पर व्याकरण-महाभाष्य में कहा गया है[२]—"पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानी सुकोशला", अर्थात् सुकोशला नगरी पाटलिपुत्र नगर की व्याख्या करती है। वस्तुतः यहाँ व्याख्या सादृश्यमूलक है, अर्थात् व्याख्यान-ग्रंथों में जैसे व्याख्येय ग्रंथ के अवयवों का स्पष्टीकरण (विशिष्ट आख्या) किया जाता है, वैसे ही सुकोशला नगरी यह दिखाती है कि पाटलिपुत्र नगर का अवयव-संस्थान कैसा है। 'अवयवशः आख्या व्याख्या'-- यह लक्षण ग्रंथ तथा नगर दोनों में ही चरितार्थ हो रहा है—भिन्न दृष्टिकोण से।

(२) 'व्याख्या विकल्प' व्याख्या का एक अवश्य-ज्ञातव्य तत्त्व है। कभी-कभी देखा जाता है कि व्याख्याकार प्राक्तन व्याख्या का खंडन किए बिना ही नई व्याख्या करते हैं, तब यह प्रश्न उठता है कि यह इस नई व्याख्या का प्रयोजन क्या ? इस प्रश्न का युक्ततम उत्तर आचार्य कुमारिल ने दिया है—"सर्वव्याख्या विकल्पस्य द्वयमेव प्रयोजनम्, पूर्वत्रापरितोषो वा व्याख्यावैशद्यमेव वा" (तंत्र-वार्त्तिक, १।१।१); अर्थात् वैकल्पिक व्याख्या के दो ही प्रयोजन होते हैं—पहला, पूर्व व्याख्या से असंतोष; दूसरा, नई व्याख्या का पूर्व व्याख्या से उत्कर्ष। ऐसे स्थलों पर कौन सी व्याख्या व्याख्याकारसम्मत है, इस विषय में संप्रदाय ही प्रमाण होता है।

(३) षट्काव्यों के टीकाकार मल्लिनाथ ने अपनी काव्य-व्याख्या के वैशिष्ट्य का उल्लेख किया है। यह व्याख्यान-पद्धति सर्वोत्कृष्ट है, इसमें कोई संदेह नहीं। उनका कथन है—'इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया, नामूलं लिख्यते किंचिन् नानपेक्षितमुच्यते" (सब टीकाओं के प्रारंभ में कथित)। वस्तुतः उनकी टीका में व्याख्येय ग्रंथ के सर्वांश की व्याख्या है, कोई वाक्य निर्मूल नहीं है, तथा अप्रासंगिक बातों का प्रसंग नहीं है। मल्लिनाथ की इस उन्नततम शैली का एक कारण है। प्राचीन लोग कहते थे—"समासोक्तं मतिं हन्ति विस्तरोक्तं न गृह्यते", अर्थात् स्वल्प कहने से अर्थबोध दुर्घट हो जाता है और विस्तार से कहने से सुनने में प्रवृत्ति नहीं होती। अतः मल्लिनाथ ने एक तृतीय शैली को जन्म दिया।

२—तस्य व्याख्यान इति [illegible] नामनि। (अष्टाध्यायी)

(४) प्राचीन आचार्यों ने कभी-कभी दो सर्वथा पृथक् ग्रंथों में भी, एक अन्य का व्याख्या-ग्रंथ है—ऐसा माना है। इसका उदाहरण स्वल्प है तथा इसे एक गौण व्याख्यान समझना चाहिए। उदाहरणार्थ, श्रीमद्भागवत के विषय में गरुड पुराण में कहा गया है—'गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ...' इत्यादि, अर्थात् भागवत गायत्री का भाष्य है। भाष्य का जो लक्षण पहले कहा गया है वह गायत्री मंत्र पर कुछ भी नहीं घटता। शायद प्राचीन लोग यह समझते थे कि भागवत का अंतिम तात्पर्य वही है जो गायत्री का है तथा भागवत की कथा इत्यादि सब उसके अर्थ की पुष्टि के लिये है, इसलिये गौण रूप से उसे 'भाष्य' कहा गया। यही बात पुराणों पर भी घटती है, क्योंकि पुराणों को 'वेद-व्याख्या स्वरूप' कहा जाता है। वेद के शास्त्रीय व्याख्यान तथा पौराणिक व्याख्यान में अंतर है। शास्त्रीय व्याख्यान में वैदिक शब्दानुपूर्वी को, जहाँ तक संभव है, लेकर व्याख्या की गई है (भाष्यादिकों की तरह नहीं), पर पुराणों की शब्दानुपूर्वी वेद से साक्षात् कुछ भी संबंध नहीं रखती।

(५) वेद की व्याख्या के विषय में मध्व-संप्रदाय में एक विशिष्ट तथ्य है (यद्यपि वह आजकल के विद्वानों की दृष्टि में संगत नहीं होगा)। तदनुसार लारी टीका में कहा गया है 'गुणाधिक्यं येन भवेद् वेदस्यार्थः स एव हि" (पृ० १), अर्थात् जिस व्याख्या में मंत्र का सबसे उच्च अर्थ हो, वही वेद का ठीक अर्थ है—ऐसा जानना चाहिए। वेद-व्याख्या करने के लिये इस रीति को अपनाने का कारण यह है कि भारतीय परंपरा के अनुसार वेद सर्वोच्च ज्ञान का अकृत्रिम आकरस्थान है, अतएव जिस व्याख्या में सर्वोत्कृष्ट अर्थ किया गया हो उसी को ठीक-ठीक वेद-व्याख्या कहा जा सकता है।

प्राचीन आचार्य यह भी मानते थे कि व्याख्याता को स्वसंस्कार के अनुसार अर्थ का प्रतिभास होता है और इसी लिये व्याख्या व्याख्यातृप्रज्ञा की अनुगामिनी ही होती है। यही कारण है कि प्राचीन काल में व्याख्यानकर्ता के लिये प्राचीनतम सांप्रदायिक आचार्यों के मतों का अनुसरण भी एक आवश्यक कर्तव्य समझा जाता था। निरुक्त व्याख्या में भगवद्दुर्गाचार्य ने कहा है कि प्रज्ञाशुद्धि के अनुसार व्याख्याता वेद की साधु तथा साधुतर व्याख्या कर सकता है। इस सिद्धांत को उन्होंने अन्यत्र भी कहा है, यथा—'अनुपक्षीणशक्तयो हि विषया वेदशब्दाः यथाप्रज्ञपुरुषाणामर्था-

भिधाने विपरिणममानाः सर्वतोमुखा अनेकार्थान् प्रकुर्वन्ति इत्येतदनेन प्रदर्शितं भवति' (निरुक्त टीका १।२०)।

(६) व्याख्यान के गुण के विषय में प्राचीन शास्त्र में एक और भी नियम दीख पड़ता है, वह है 'व्याख्यान-गौरव' तथा 'व्याख्यान-लाघव'। जब अनावश्यक क्लिष्टता से व्याख्या की जाती है तब उसमें 'व्याख्यानगौरव' रूप दोष होता है और इसी लिये वह प्रायः त्याज्य होती है, तथा जिस व्याख्या में इस प्रकार की क्लिष्ट कल्पना न कर लघुता के साथ युक्तिसंगत अर्थ दिखाया जाता है उसी को प्राचीन लोग प्रामाणिक मानते थे। इसमें हेतु यह है कि यदि क्लिष्ट-कल्पनापूर्वक व्याख्या की जाय तो वैसी व्याख्याओं की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। क्योंकि क्लिष्ट कल्पना का कोई नियामक नहीं है। अतएव गौरवयुक्त व्याख्यानों के प्रति अंत में अविश्वास हो जाता है। 'व्याख्यालाघव' में यह दोष नहीं है, यह सहज ही समझा जा सकता है।

अवहट्ठ और उसकी मुख्य विशेषताएँ

[श्री शिवप्रसाद सिंह]

भाषाशास्त्रियों के बीच अवहट्ठ काफी विवाद का विषय रहा है। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने कभी इसे मैथिल अपभ्रंश, कभी संक्रांतिकालीन भाषा और कभी पिंगल आदि नाम दिए हैं। यह विचारणीय है कि अवहट्ठ क्या है, और इसका प्रयोग अब तक के उपलब्ध साहित्य में किस-किस रूप में हुआ है।

अवहट्ठ शब्द का सबसे पहला प्रयोग ज्योतिरीश्वर[1] ठाकुर के 'वर्णरत्नाकर' (१३२५ ई०) में मिलता है। राजसभाओं में भाट जिन छः भाषाओं का वर्णन करता है उनमें एक अवहट्ठ भी है। दूसरा प्रयोग विद्यापति की कीर्तिलता में हुआ है,[2] जो सर्वविदित है। प्राकृतपैंगलम् के टीकाकार वंशीधर ने पहले सूत्र की व्याख्या में पिंगल को अवहट्ठ के रूप में स्वीकार किया है।[3] तेरहवीं शती के प्रसिद्ध अपभ्रंश कवि अब्दुर्रहमान ने अपने 'संदेशरासक' में अवहट्ठ भाषा का नाम लिया है।[4]

इन चारों प्रयोगों पर विचार करने से पता चलता है कि अवहट्ठ का प्रयोग सब जगह अपभ्रंश के लिये ही किया गया है। षड्भाषा प्रसंग में सर्वत्र संस्कृत और प्राकृत के बाद अपभ्रंश का ही नाम लिया जाता है। षड्भाषा का भी प्रयोग विरल नहीं। लोष्टदेव कवि की प्रशंसा में मंख ने कहा था कि छः भाषाएँ उसके मुख में

१—पुनु कइसन भाट, संस्कृत, पराकृत, अवहट्ठ, पैशाची, शौरसेनी, मागधी छहु भाषा क तत्त्वज्ञ, शकारी, आभिरी, चांडाली, सावली, द्रावली, औतकली, विजातीया सातहु भाषा क कुशलह। (वर्णरत्नाकर, ५५ ख)

२—देसिल वअना सब जन मिट्ठा, तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा। (कीर्तिलता)

३—प्रथमं भास तरंडो णओ सो पिंगलो जअइ।

टीका—प्रथमो भाषा तरंडो प्रथम आद्यः भाषा अवहट्ठ भाषा यया भाषया अयं ग्रंथो रचितः सा अवहट्ठ भाषा। (प्रा० पैं०, पृ० ३)

४—अवहट्ठय सक्कय पाइयंमि पेसाइयमि भाषाए।

लक्खण छन्दाहरणे सुकइत्तं भूसियं जेहिं। (संदेशरासक, १० सं० ६)

सदा निवास करती हैं।[५] पृथ्वीराज की प्रशंसा करते हुए जयानक ने लिखा है कि छः भाषाओं में उनकी शक्ति थी।[६] ये छः भाषाएँ कौन थीं? मंख कवि के श्रीकंठचरित की टीका से पता चलता है कि छः भाषाओं में संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची और अपभ्रंश भाषा की गणना होती थी।[७]

श्रीकंठचरित की टीका में वर्णित ये छः भाषाएँ श्री ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर में कथित छः भाषाओं से पूर्णतया मेल खाती हैं। इन प्रसंगों से स्पष्ट मालूम होता है कि अपभ्रंश ही को ज्योतिरीश्वर ने अवहट्ठ कहा है। विद्यापति और अद्दहमाण ने संस्कृत, प्राकृत और अवहट्ठ, इन तीन भाषाओं की चर्चा की है। यह भाषात्रयी भी काफी प्रसिद्ध है। संस्कृत, प्राकृत के पश्चात् अपभ्रंश की गणना प्रायः ही होती है।

'अपभ्रंश' शब्द वस्तुतः स्वयं अपभ्रंश भाषा के नियमों के अनुसार 'अवहंस' हो जाता है। इस 'अवहंस' शब्द का प्रयोग बहुत पहले प्राकृत भाषा के एक कवि ने किया है। अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका में श्री एल० वी० गांधी ने आठवीं शताब्दी के उद्योतन सूरि की कुवलयमाला का एक उद्धरण दिया है, जिसमें 'अवहंस' शब्द का प्रयोग हुआ है। अपभ्रंश की प्रशंसा करते हुए कवि ने कहा है कि अपभ्रंश शुद्ध हो या संस्कृत-प्राकृत से मिश्रित हो, यह पहाड़ी कुल्या की तरह अप्रतिहतगति है तथा कुपित प्रियतमा के संलाप की तरह मनोहर है।[८] राजशेखर कवि ने अपने बालरामायण में इसी 'अवहंस' को 'अवहत्थ' कहा है। इन प्रयोगों से इतना स्पष्ट हो जाता है कि अवहंस, अवहट्ठ, अवहत्थ आदि अपभ्रंश के ही भिन्न अभिधान हैं। हाँ, अवहट्ठ के प्रयोग के बारे में एक बात और

५—मुखे यस्य भाषाः षडधिशेरते। (श्रीकंठचरित, अंतिम सर्ग)

६—बाल्येऽपि लीलाजिततारकाणि गीर्वाणवाहिन्युपकारकाणि।
जयन्ति सोमेश्वरनन्दनस्य षण्णां गिरां शक्तिमतो यशांसि॥
(पृथ्वीराज विजय, प्रथम सर्ग)

७—प्राकृत संस्कृत मागध पिशाच भाषाश्च शौरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः॥ २।१२

८—ता किं अवहंसं होइ। तं सक्कयपय उभय सुद्धासुद्ध पय सम तरंग रंगत वग्गिरं पणय कुविय पियमाणिणि समुल्लाव सरिसं मणोहरं।

विचारणीय है। अवहट्ठ शब्द का प्रयोग केवल परवर्ती अपभ्रंश के कवियों ने किया है, इसलिये चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि यह जान-बूझकर हुआ और ये कवि इस शब्द से अपभ्रंश की भी भ्रष्टता, या भाषाविज्ञान की पदावली में कहें तो अपभ्रंश का विकास द्योतित करना चाहते थे।

परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ठ के विषय में बहुत सी भ्रांत धारणाएँ हैं जिनका निराकरण आवश्यक है, पर इस निबंध में हम अवहट्ठ की मुख्य विशेषताएँ दिखाना चाहते हैं इसलिये यहाँ हम अन्य विवादास्पद प्रश्नों को अलग रखकर थोड़े में अपनी अवहट्ठ संबंधी मान्यताओं का ही उल्लेख कर देना उचित समझते हैं।

अवहट्ठ, जैसा कि समझा जाता रहा है, मैथिल अपभ्रंश नहीं है। एक तो इस शब्द का प्रयोग केवल मैथिल कवियों ने (विद्यापति, ज्योतिरीश्वर) ही नहीं किया है, अपितु यह संपूर्ण उत्तर भारत के विभिन्न कवियों द्वारा परवर्ती अपभ्रंश के लिये प्रयुक्त शब्द है। दूसरे केवल कीर्तिलता की भाषा को अवहट्ठ का प्रतिमान मानकर क्षेत्रीय प्रयोगों के आधार पर इस भाषा को मैथिल अपभ्रंश कहना उचित नहीं है।[९] अवहट्ठ पश्चिमी प्रांतों में पिंगल नाम से ख्यात थी, ऐसा डा॰ चटर्जी का विश्वास है।[१०] प्राकृतपैंगलम् के टीकाकार ने पिंगल और अवहट्ठ का सदृशार्थक प्रयोग अवश्य किया है, पर वहाँ भी इस अर्थसाम्य का कोई आधार नहीं बताया गया। भिखारीदास ने षट् भाषाओं में नाग भाषा का नाम लिया है।[११] नाग भाषा से शायद भिखारीदास का तात्पर्य पिंगल से है। पिंगलाचार्य नाग जाति के थे, यही इसका आधार प्रतीत होता है। एक ओर पिंगल को नाग भाषा कहा गया, दूसरी ओर मिर्जा खाँ ने अपने व्रजभाषा व्याकरण में प्राकृत अर्थात् अपभ्रंश को नागबानी या पातालबानी कहा है। संस्कृत, प्राकृत और भाषा (व्रज) के बारे में वे कहते हैं कि पहली अर्थात् 'सहंसकिर्त' में विभिन्न कला, विज्ञान आदि विषयों

९—मैंने अपने निबंध 'अवहट्ठ और कीर्तिलता' में इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है।

१०—'ओरिजिन एंड डेवेलपमेंट ऑव् बेंगाली लैंग्वेज', १९२६, पृ० ११४

११—व्रज मागधी मिले अमर नाग जवन भाखानि।
सहज पारसीहू मिले खट विधि कहत बखानि॥
(काव्यनिर्णय, १।१५)

पर पुस्तकें लिखी गई हैं। इसे आकाशवाणी या देववाणी कहते हैं। दूसरी 'पराकिर्त' है। इसका प्रयोग राजा और मंत्रियों की प्रशंसा के लिये किया जाता है। इसे पातालबानी या नागबानी कहते हैं।[१२] मिर्जा खाँ 'पराकिर्त' को संस्कृत और व्रज के बीच की वस्तु मानते हैं। अब हम चाहें तो भिखारीदास की नागभाषा, मिर्जा खाँ की पातालबानी या नागबानी (जिसे वे पराकिर्त कहते हैं) और वंशीधर की पिंगल को एक मान सकते हैं और इसे परवर्ती अपभ्रंश कहें तो अनुचित न होगा। इस तरह यदि पिंगल शब्द परवर्ती अपभ्रंश के लिये प्रयुक्त हो तो इसे 'अवहट्ठ' का सदृशार्थक मान सकते हैं। किंतु यदि यह राजस्थानी मिश्रित पुरानी व्रज का नाम है तो अवहट्ठ का वाचक नहीं हो सकता।

सच तो यह है कि अवहट्ठ का साहित्य बहुत न्यून मात्रा में उपलब्ध है और जो कुछ है भी वह इसके मूल प्रदेश के बाहर का है जिसके कारण लोग इसे नाना नामों से पुकारते हैं। अवहट्ठ के सच्चे स्वरूप की यदि भाषाशास्त्रीय व्याख्या हो सके, तो पुरानी बंगला, पुरानी असमिया, पुरानी मैथिली आदि नामों के बिल्ले जो किसी परवर्ती अपभ्रंश ग्रंथ पर लगा दिए जाते हैं, निरर्थक हो जायँगे। इसी प्रकार जूनी गुजराती, प्राचीन राजस्थानी और प्राचीन गुर्जर आदि नाम भी सोच-समझ कर रखे जाने चाहिएँ। दसवीं से बारहवीं शती तक का पूरा अपभ्रंश साहित्य, जो अपनी विकसित प्रवृत्तियों एवं आधुनिक आर्यभाषाओं के उद्गम बिंदु पर प्रतिष्ठापित होने के कारण अपनी तरह का अकेला है, वस्तुतः सबका है, पर वह स्वयं अपना एक अस्तित्व रखता है। इसे आप तेसीतोरी के शब्दों में पिंगल अपभ्रंश कह लीजिए,[१३] संक्रमणकालीन अपभ्रंश कह लीजिए, इससे भाषा के स्वरूप में कोई अंतर नहीं आता। सच तो यह है कि इस काल की भाषा का ढाँचा मूलतः शौरसेनी अपभ्रंश का है, परंतु उसमें विकसित अवस्था का दर्शन होता है। अवहट्ठ का स्वरूप आधुनिक आर्य भाषाओं के मूल ढाँचे को खड़ा कर रहा था। इसमें आधुनिक आर्य भाषाओं के विकास संबंधी बहुत से रहस्य छिपे हुए हैं। अवधी, व्रज, खड़ी बोली की ही तरह अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं के ऐतिहासिक विकास की कहानी अवहट्ठ के स्वरूप-ज्ञान के बिना अधूरी या अलिखित रह सकती

१२—'ए ग्रैमर ऑव दि व्रज', विश्वभारती (कलकत्ता), १९३५, पृ० ३४

१३—'ओल्ड वेस्टर्न राजस्थानी', इंडियन एंटिक्वेरी, सन् १९१४-१६

है। बहुत से विद्वानों को पूर्ववर्ती और परवर्ती बँटवारा भी मान्य नहीं है। पर मेरी दृष्टि से अपभ्रंश और अवहट्ठ में मूल ढाँचे का अंतर भले न हो, विकास की अवस्था में भेद अवश्य है, और इसे ही मैं अवहट्ठ की विशेषता मानता हूँ।

पूर्ववर्ती अपभ्रंश और परवर्ती अपभ्रंश के बीच यद्यपि विभाजनरेखा खींच सकना कठिन है, परंतु दसवीं से तेरहवीं तक तीन शताब्दियों की भाषा के नमूनों का यदि ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया जाय, तो दोनों प्रकार के अपभ्रंशों के अंतर स्पष्ट मालूम हो सकते हैं। वाक्यगठन के विकास की दशा के निरीक्षण से स्पष्ट हो जायगा कि अवहट्ठ के वास्तविक रूप किस प्रकार अपभ्रंश की अपेक्षा आधुनिक आर्य भाषाओं के अधिक निकट होते जाते हैं। आगे इस विषय पर कीर्तिलता, चर्या-गीत, ढोला मारू रा दूहा, प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह की रचनाओं, प्राकृतपैंगलम्, वर्णरत्नाकर, ज्ञानेश्वरी आदि की भाषा के आधार पर विचार किया गया है। अवहट्ठ और अपभ्रंश में ध्वनिविचार की दृष्टि से कोई बहुत महत्त्व का अंतर नहीं दिखाई देता, फिर भी परवर्ती भाषा में चार ऐसी बातें मिलती हैं जो उसे पूर्ववर्ती से भिन्न करती हैं। कुछ विद्वान् इनमें से एकाध की गणना अपभ्रंश की ध्वनि संबंधी विशेषताओं में ही कर देते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि उनके सामने पूर्ववर्ती और परवर्ती नामक कोई भेद नहीं है।

१—पूर्व स्वर पर स्वराघात

द्वित्व व्यंजनों को उच्चारण की दृष्टि से थोड़ा सहज बनाने के लिये हटा दिया जाता है और उनकी जगह एक व्यंजन का प्रयोग होता है। ऐसी अवस्था में द्वित्व व्यंजन के पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है। यह प्रवृत्ति अवहट्ठ का प्राण कही गई है। डा० तेसीतोरी ने इसे अवहट्ठ की सर्वप्रमुख विशेषता स्वीकार किया है।[१४] यथा—

संस्कृत	अपभ्रंश	अवहट्ठ
अक्षर	अक्खर	आखर (ढोला० ६७)
	ठक्कुर	ठाकुर (ढोला० १७७)
विद्युत्		वीजुलिय (थू० फा० ६)
नृत्यति	नच्चइ	नाचइ ,, ,,
	अच्छइ	आछइ (नेमि० ११)

१४—तेसीतोरी, इंडियन एंटिक्वेरी, १९१४, प्राचीन राजस्थानी।

दिट्ठइ	दीठइ	,,	१६
सिज्झइ	सीझइ	,,	,,
दुस्सिहइ	दूसिहइ (कीर्ति०)		
तिन्न	तीनू	,,	

२—स्वरों की सानुनासिकता में परिवर्तन

स्वरों की सानुनासिकता के क्षेत्र में भी परिवर्तन दिखाई पड़ता है। प्रा० भा० आर्यभाषा काल में अनुस्वार और सानुनासिक दोनों का तात्पर्य स्वर की सानुनासिकता से था। स्पर्श व्यंजनों में अनुस्वार नहीं लगता था। पंचम वर्ण के संयोग से ही सानुनासिकता का प्रयोजन सिद्ध हो जाता था। अनुस्वार केवल य, र, ल, व, श, ष, स, ह के होने पर ही लगता था। किंतु म० आ० भा० काल में अनुस्वार देने की प्रवृत्ति बढ़ गई। परवर्ती अपभ्रंश में युक्ताक्षर के पूर्वस्वर पर स्वराघात देकर अनुस्वार को भी हल्का करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। यथा—

आँग (कीर्ति०) < अंग	आँकुस < अंकुस
पाँच (चर्या० १४, १५) < पंच	फाँधअ < कंधा (चर्या० ३)
चाँद (चर्या० ४) < चंद्र	आँगन < अंगण (चर्या० २)

एम० जी० पंसे ने ज्ञानेश्वरी की भाषा का अध्ययन करके इस विषय पर विस्तार से विचार किया है।[१५]

३—अकारण सानुनासिकता की प्रवृत्ति

स्वर के क्षतिपूरक दीर्घीकरण के साथ अनुस्वार को ह्रस्व करने की प्रवृत्ति तो बढ़ी ही, कभी-कभी अकारण सानुनासिक बनाने की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है। अकारण सानुनासिकता की प्रवृत्ति आधुनिक आर्य भाषाओं में प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। इसका आरंभ अवहट्ट काल से ही हो गया था—

काँज (कीर्ति० पृ० ६८) < कज्ज; काँच (पृ० ६०) < कच्चु;

भाँग (चर्या० ८२) < भग्ग < भग्न;

औंठिम (ज्ञाने०) < ओष्ठ।

४—एक साथ कई स्वरों का प्रयोग

मध्यकालीन आर्य भाषाओं में एक साथ दो-दो तीन-तीन स्वरों के प्रयोग मिलते हैं। स्वरों के ऐसे स्वच्छंद प्रयोग से किस प्रकार गड़बड़ी फैली और किस

१५—बुलेटिन ऑव द डेकन कालेज रिसर्च इंस्टीट्यूट, भाग १० सं० २, पृ० १५५-५६

प्रकार उनके स्थान पर पुनः व्यंजनों का प्रयोग होने लगा जिससे तत्सम शब्दों की बहुलता दिखाई पड़ने लगी, यह एक दूसरा प्रकरण है। यहाँ इतना ही कहना है कि क्रियाओं के अंत में, कभी अन्य पदों के अन्य स्थानों में भी, स्वरों को संयुक्त स्वर बनाने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इस प्रकार के दो संयुक्त स्वर ऐ और औ परवर्ती अपभ्रंश की अपनी विशेषताएँ हैं।

ऐ (अ+इ)—प्रायः क्रियाओं तथा अन्य शब्दों में भी अंत के अ और इ, इन दो स्वरों को मिलाकर संयुक्त कर देते हैं—

तूटै (चर्या०) < टुट्टइ गुणै (कीर्ति०) < गुणइ
पै (कीर्ति०) < पइ रहै (कीर्ति०) < रहइ

औ—संप्रयुक्त स्वर के विधान के कारण अपभ्रंश में एक साथ कई स्वर दिखाई पड़ते हैं। पिछले अपभ्रंश में इन्हें संप्रयुक्त न रखकर संयुक्त कर देने की प्रणाली दिखाई पड़ती है—

करौ (कीर्ति० १२) < करउ चौरा (कीर्ति०) < चउअर < चत्वर
दूणौ (कीर्ति) < दुण्णउ तौ (कीर्ति०) < तउ
आऔ (प्रा० पैं० ५१६) < आअउ < आगत

५—संकोचन वा अक्षरलोप

ध्वनिविचार के सिलसिले में ही परवर्ती अपभ्रंश की एक बहुप्रचलित पद्धति संकोचन का भी उल्लेख किया जा सकता है। यों भाषाविज्ञान की पदावली में इसे अक्षर-लोप का भी उदाहरण कहा जा सकता है। आधुनिक आर्यभाषाओं में ऐसे अनेक शब्द मिलेंगे जिनके प्राचीन एवं नवीन रूपों में आकाश-पाताल का अंतर दिखाई पड़ता है। 'अँधेरा' शब्द 'अन्धकार' से बना है। कीर्तिलता में इसका रूप 'अन्धार' मिलता है—"अन्धार कूट, दिग्विजय छूट" (पृ० ८२)। उसी प्रकार 'देवकुल' का 'देउर', देवगृह (?) का 'देवहा', 'कोट्टशीर्ष' का 'कौसीस', 'उपवास' का 'उपास', 'उत्तिष्ठ' का 'ऊंठ' और 'स्फुलिंग' का 'फुलुग' आदि रूप कीर्तिलता में मिलते हैं। इस प्रकार के रूप संदेशरासक और प्राकृतपैंगलम् में भी विरल नहीं हैं। सहकार का 'सहार' (सं० रा० १३४) तथा स्वर्णकार का 'सुन्नार' (सं० रा० १०८) मिलता है। थूलिभद्द फागु के नवें पद्य में "जिमि जिमि नाचइ मोर" में मयूर का रूप 'मोर' देखने योग्य है।

६—परसर्गों के स्थान पर मूल शब्द

रूपविचार की दृष्टि से भी पूर्ववर्ती अपभ्रंश में सूक्ष्म अंतर दिखाई पड़ता है। लिंग, वचन आदि में तो अंतर ढूँढ़ना व्यर्थ है, हाँ, कारक-विभक्तियों में कुछ अंतर अवश्य मिलता है। परंतु मुख्य अंतर परसर्गों के प्रयोग में दिखाई पड़ता है। अपभ्रंश-काल से ही परसर्गों का प्रयोग होने लगा था। परसर्गों में अपभ्रंश में सबसे प्रधान 'केंहि' और 'रेसि', ये दो चतुर्थी के परसर्ग दिखाई पड़ते हैं। इन परसर्गों का प्रयोग बाद में घटने लगा और आश्चर्य है कि कीर्तिलता में इनमें से किसी का एक बार भी प्रयोग उपलब्ध नहीं होता। परसर्गों के रूप में बहुत से संस्कृत के मूल शब्द ही प्रयोग में आने लगे। पूर्ववर्ती अपभ्रंश में मूल शब्दों के स्थान पर द्योतक शब्द अधिक मिलते हैं। संकाश, समान, प्रति, कारण, विना, सहित आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। नीचे परसर्गों की एक तालिका दी जाती है—

करण—सन, सथ्थ, समान, सहित, सउं, विना, सरिस, सरीख।

संप्रदान—लग्गि, लागे, प्रति, कारण।

अपादान—हुते, हुंति, सिउं।

संबंध—कर, को, करेउ, की, करेओ, क।

अधिकरण—माँझ, ऊपर, भीतर, माहि, माहु।

इनमें से थोड़े से ही परसर्ग ऐसे हैं जिनका प्रयोग पूर्ववर्ती अपभ्रंश में भी मिलता है।

७—सर्वनामों की प्रचुरता

परवर्ती अपभ्रंश के ग्रंथों में सर्वनामों का प्रयोग भी बड़ी छूट के साथ होने लगा। पुराने सर्वनामों के ऐसे विकसित रूप मिलते हैं जो बहुत-कुछ आजकल के रूपों की तरह दिखाई पड़ते हैं—

१. मोर वअन आकण्णे करहु।
२. मोरहु जेट्ठ गरिट्ठ अछ।
३. रण वलि नाहिं मों। (कीर्ति०)
४. पिय मेरा मइ पिय की। (ढोला०)
५. तोहार कुडिया (चर्या० ३२)।
६. तूटइ वासना तोरा (चर्या० ४१)
७. मन तोहोर दोसे (चर्या० ३६)
८. ताक जणणी (प्रा० पैं०)

मोर, मोरहु, मों, मेरा, मइ, तोरा, तोहोर, तोहार, ताक आदि सर्वनामों का पूर्वी अपभ्रंश में मिलना मुश्किल है। कीर्तिलता में तो 'जिसने' या 'जिन्होंने' का पूर्ववर्ती रूप 'जेन्ने' भी मिलता है।

८—क्रियापदों का विकास

किसी पर भाषा के विकास की सूचना उसके क्रियापदों के नाना रूपों से मिलती है। अवहट्ठ भाषा के विकास की क्या दिशा थी, यह भी इसके क्रियापदों को देखने से ही मालूम हो जाता है। वस्तुतः अवहट्ठ के क्रियापद वर्तमान भाषाओं के वाक्य-विन्यास की बहुत सी समस्याओं का सुलझाव उपस्थित कर सकते हैं।

(१) वर्तमान काल में कृदंत प्रयोग बढ़ गए। वर्तमान आर्य भाषाओं में गुजराती, हिंदी आदि में वर्तमान काल में कृदंत रूप का प्रयोग होता है। आज के 'ता' वाले रूप मध्यकाल के 'अन्तः' वाले रूपों से विकसित हैं जो प्राचीन अत् से विकसित हुआ है—ता < अन्तः < अत्।[१६]

अपभ्रंश के 'अन्त' प्रत्यय वाले रूप इस काल में प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए। कीर्तिलता, प्राकृतपैंगलम्, थूलिभद्द फागु आदि में यह प्रवृत्ति चरम है। उदाहरणार्थ,

मधुर मेघ जिमि जिमि गाजन्ते
पंचवाण निज कुसुमवाण तिमि तिमि साजन्ते।
सीतल कोमल सुरभि वाय जिमि जिमि वायन्ते
मान मडफ्फर मानिनि तिमि तिमि नाचन्ते।
(थूलि० फागु, पृ० ५८)

परंतु लगता है ये रूप प्रायः अन्य पुरुष बहुवचन के ही होते हैं। कहीं-कहीं एक वचन के भी हैं, जैसे ऊपर के दो रूप साजन्ते, वायन्ते। हो सकता है कि इन प्रयोगों में एकवचन और बहुवचन का भेद न रह गया हो।

(२) भूतकालिक कृदंत भी वर्तमान की तरह प्रयोग में आते हैं। उनके प्रयोग दो प्रकार के होते हैं। कभी तो वे अपने पूर्ण रूप में होते हैं, जैसे कहअ, बांधअ आदि; कभी केवल धातु मात्र ही रहते हैं। पुरानी हिंदी में ये दोनों रूप तुलसी और जायसी में पर्याप्त मिलते हैं। पूर्ण रूप में, यथा—

१. काहु होअ अइसनो आस (कीर्तिलता, पृ० ३८)।
२. वाँटत मिलल महासुख साँगा (चर्या० ८)।
३. खणह न छाडअ मुसुक अहेरी (चर्या० ६)।
४. हरिणी बोलअ सुनु हरिणा तों (चर्या० ६)।
५. मूसा करअ अचारा (चर्या० २१६)।

१६—पिशल, ग्रैमेटिक, § ५६२

दूसरे प्रकार के रूप मूलतः धातु रूप में ही होते हैं पर वे वस्तुतः भूत कृदंत के ऊपर कहे रूपों के ही बिगड़े आकार हैं। यथा—

चलि चूअ कोइल साव महु मास पंचम गाव।
मण मज्झ वम्मह ताव ण हु कंत अज्जवि आव। (प्रा० पैं० ८७)

कीर्तिलता में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं जिन्हें देखा जा सकता है।

(३) वर्तमान के तिङंत रूपों में अंत में 'इ' के स्थान पर 'ए' कर देते हैं। यह प्रवृत्ति बहुत प्रचलित है। यथा—

कंपए (प्रा० पैं०, ३७२।४) दीसए (प्रा० पैं०, ३००।३)
कोहाए (कीर्ति०, पृ० ४०) पाए (कीर्ति०, पृ० ४०)

(४) इसी काल में कृदंत के वर्तमान काल के रूपों के साथ सहायक क्रिया लगाकर भी रूप बनने लगे। यह प्रवृत्ति पीछे तो आर्य भाषाओं में से कई में बहुत प्रबल दिखाई पड़ती है। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के अपभ्रंश ग्रंथों में, जैसा कि तेसीतोरी ने अपने निबंध में दिखाया है, संयुक्त क्रियाओं के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं।[17] वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता आदि में भी ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं—

१. गोमेदक पारी चारिहु दिश छलति अछ। (वर्ण०)
२. इंद्रनील क साटि पद्मराग चक्र हिमालय क पुरुष अधिष्ठान वइसल अछ।(वर्ण०)
३. खिसियाय खाण है। (कीर्तिलता, पृ० ४०)
४. आवत्त हुअ हिंदू दल गमनेन। (कीर्ति०)
५. सहहि न पारइ। (कीर्ति० ६०)

(५) भूतकाल की क्रियाओं में भी परवर्ती अपभ्रंश काल में बहुत से नए रूप दिखाई पड़ते हैं।

(क) भूत कृदंत का भूतकाल की सामान्य क्रिया के रूप में प्रयोग करने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। वर्तमान हिंदी में भूत कृदंत प्रायः आकारांत रूपों में दिखाई पड़ते हैं—देखा, खाया, गया, बिका आदि। भूत कृदंतों को अकारांत से आकारांत करने की प्रवृत्ति अवहट्ठ काल में जोरें से चल पड़ी। कीर्तिलता, प्राकृतपैंगलम् तथा अन्य ग्रंथों में इसके रूपों का बाहुल्य है। यथा—

१. अंबर मंडल पूरीया। २. पअ भरे पाथर चूरीआ। (कीर्ति०, पृ० ४६)
३. सैंना संचरिआ। (कीर्ति०, ८०)

१७—तेसीतोरी, इंडियन एंटिक्वेरी, १९१६

४. अइ आइ हत्थ णवेंद विरम्वि दिज्जिआ।

६. गुरु एक्क काहल वेवि अंतह किज्जिआ॥ (प्रा० पैं० ४८६)

इसमें स्त्रीलिंग में रूप हिंदी की तरह बदलते हैं—"देखिये लगी जही यही कही" (प्रा० पैं० ३४५।३)। ऐसे रूप ही सरलीकृत होकर वर्तमान खड़ी बोली के भूतकालिक क्रिया के सामान्य रूप की तरह व्यवहृत होते हैं। उदाहरण के लिये 'विक्किआ' क्रिया का रूप 'विका' हो जायगा। यह 'बिका' रूप भी कीर्तिलता में मिलता है—"चांदन का मूल्य ईंधन बिका"। ये रूप छंदानुरोध के कारण पादांत दीर्घीकरण की प्रवृत्ति के दिखाई पड़ते हैं, पर बीच में भी मिलते हैं।

(ख) भूत कृदंत रूपों से कभी-कभी स्वार्थे 'क' लगकर थाकिउ, उद्धरिउ आदि रूप बनते हैं। ये रूप सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण अ, उ के योग से थाक्यो, उद्धर्यो, करो, गयो आदि रूपों में बदल जाते हैं। कहना न होगा कि ब्रज-भाषा के भूतकाल में इस प्रकार के रूपों का आधिक्य है। नीचे अवहट्ठ की रचनाओं से उदाहरण उपस्थित किए जाते हैं –

१. आओ पाउस कीलंताए। (प्राकृतपैंगलम्, ३१६।४)

२. जसु आइ हत्थ विआणिओ।

३. तह वे पओहर जाणिओ। (प्रा० पैं० ४००।१)

६—*निर्विभक्तिक प्रयोग*

अवहट्ठ की सबसे बड़ी विशेषता उसका निर्विभक्तिक प्रयोग है। निर्विभक्तिक प्रयोग अवधी, ब्रज आदि में प्रचुरता से मिलते हैं। ये प्रयोग अवहट्ठ काल से ही आरंभ हो गए थे। निर्विभक्तिक पदों के कारण कभी-कभी अर्थ करने में शब्दों के स्थानों की नियोजना में बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है, अन्यथा अर्थ का अनर्थ होने की संभावना रहती है। इसीलिये प्राकृतपैंगलम् के टीकाकार ने निर्विभक्तिक प्रयोगों से भरी अवहट्ठ भाषा में पूर्वनिपातादि नियमों के अभाव के कारण उत्पन्न गड़बड़ी को दूर करने के लिये यथोचित योजना कर लेने की सलाह दी है—अवहट्ठ भाषायां पूर्वनिपातादिनियमाभावात् यथोचित योजना कार्या सर्वत्रेति बोध्यम्।[१८]

नीचे निर्विभक्तिक प्रयोगों के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

१. केतकि महमहंत परिमल विहसावइ। (थूलि०)

१८—प्राकृतपैंगलम्, पृ० ४७५

२. भुवन जागर तुम्ह परताप। (कीर्ति०)

३. मकरंद पाण विमुद्ध महुअर सद्द मानस मोहिआ।

इन पदों में कर्ता, कर्म, करण, अधिकरण आदि की विभक्तियों का लोप स्पष्ट ही है।

ऊपर जितनी विशेषताएँ कही गई हैं, यदि उनके प्रकाश में अवहट्ठ के दिए हुए उद्धरणों की पूर्ववर्ती अपभ्रंश से तुलना की जाय तो अंतर बहुत ही स्पष्ट हो जाता है। नीचे पुरानी अपभ्रंश भाषा के कुछ दोहे और अवहट्ठ के कुछ पद दिए जा रहे हैं—

(१) सत्यसरण वियाणियहं धम्मुण चढ़इ मणे वि।
दिणयर सउ जइ ज अग्गमइ घूपड अधड तोवि॥
(देवसेन, सावयधम्म दोहा)

(२) तणहं तइज्जी भंगि नवि ते अवडयडि बसन्ति।
अह जणु लग्गित उतरइ अह सह सइं मज्जन्ति॥

ऊपर केवल दो दोहे दिए गए हैं। दोनों बहुत प्रसिद्ध दोहे हैं। इनकी विशेषताएँ स्पष्ट हैं। विभक्तियाँ सभी शब्दों में साफ हैं। उ का सार्थक प्रत्यय कई जगह लगा है। अपभ्रंश का यह परिनिष्ठित प्रयोग कहा जा सकता है। अब अवहट्ठ के पद देखिए—

(१) जिमि जिमि केतकि महमहंत परिमल विहसावइ।
तिमि तिमि कामिअ चरण लग्गि निय रमणि मनावइ॥ (थूलिभद्द फागु)

(२) तसु नन्दन भोगीसराअ वर भोग पुरन्दर
हुअ हुआसन तेजि कन्ति कुसुमाउंह सुंदर
जाचक सिद्धि केदार दान पंचम बलि जानल
पियसल मण पियरोजसाह सुरतान समानल।
पच्चाये दान समान गुणें जे सब करिअउं अप्प वस।
वित्थरिय किंत्ति महिमंडलहिं कुंद कुसुम संकास जस॥

इन उदाहरणों से भाषा का अंतर स्पष्ट हो जाता है। मूल ढाँचा वही है, किंतु विभक्तियों के घिस जाने, निर्विभक्तिक पदों का प्रयोग होने तथा भाषा की अनावश्यक कठोरता को विकास देने से इसमें एक हल्कापन और लालित्य आ गया है।

प्राणि-नामों का ऐतिहासिक महत्त्व

[श्री देवीशंकर मिश्र]

फ्रैंसिस बेकन (Francis Bacon) ने अपने एक निबंध में कहा है—"काल के प्रलयकारी प्रभाव से—समय के विनाशकारी हाथों से—स्मारकों, नामों, शब्दों, लोकोक्तियों, परंपराओं, असार्वजनीन अभिलेखों एवं अंतःसाक्ष्यों, आख्यायिकाओं के अंशों, ग्रंथों के स्थलों तथा इसी प्रकार की अन्य सामग्री के रूप में हम कुछ तो बचा ही लेते हैं, कुछ का तो प्रत्युद्धार कर ही लेते हैं।"[1]

ठीक भी है, मानव जाति के प्राचीन इतिहास को अंधकार से प्रकाश में लाने के अपने प्रयत्न में आधुनिक इतिहासकार जिस सामग्री को आधार बनाकर आज आगे बढ़ रहे हैं वह विभिन्न प्राचीन जातियों की पौराणिक कथाओं, धार्मिक आख्यानों, पवित्र ग्रंथों, प्राचीन साहित्य तथा उनकी आदि भाषाओं के रूप में ही उपलब्ध है। प्राचीन आर्य-साहित्य देखने पर हमें उसमें अनेक प्राणियों के नाम तथा स्थान-स्थान पर उनके वर्णन भी मिलते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इन प्राणि-नामों का कुछ कम महत्त्व नहीं।

आज हम इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं कि आर्याद्य भाषा परिवार[2] की

१—"Out of monuments, names, words, proverbs, traditions, private records and evidences, fragments of stories, passages of books and the like, we do save and recover some-what from the deluge of time."

—Francis Bacon, 'Essays' (प्रथमबार सन् १५६८ में प्रकाशित)

२—विभिन्न भाषाविदों ने इस भाषा-परिवार के लिये 'सिंधु-जर्मनीय' (Indo Germanic) परिवार, 'सिंधु-केल्टिक' (Indo-Celtic) परिवार, 'भारत-यूरोपीय' या 'भारोपीय' (Indo-European) परिवार, 'आर्य' परिवार, 'संस्कृत' या 'सांस्कृतिक' (Samskritic) परिवार, 'कॉकेशियन' (Caucasian) परिवार, 'जफ़ेटिक' (Japhetic) परिवार, आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया है। आज ये सभी नाम भाषाविदों के किसी-न-किसी समुदाय द्वारा विभिन्न कारणों से अपूर्ण, अमान्य अथवा अवैज्ञानिक

समस्त प्राचीन भाषाएँ किसी एक ऐसी प्राचीन भाषा से निकलीं जो ऋग्वेद-कालीन प्राचीन संस्कृति से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी। उस आर्याद्य भाषा का वास्तविक स्वरूप क्या था और किस आधार पर उस भाषा में शब्दों का निर्माण हुआ अथवा होता था, इस विषय पर आज हम केवल अनुमान ही कर सकते हैं, निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कह सकते। ऐसा भी अनुमान होता है कि ऋग्वेद-काल से पूर्व की आर्याद्य भाषा परिवार की समस्त प्राचीन बोलचाल की भाषाओं में परस्पर नाम-मात्र को बहुत थोड़ा प्रादेशिक भेद रहा होगा, जिस प्रकार हमें अवधी, कन्नौजी, भोजपुरी, बुंदेलखंडी तथा हरियानी में मिलता है। प्रश्न उठता है कि वह कौन-सा समय रहा होगा जब कि वे प्राचीन भाषाएँ परस्पर एक दूसरे से असंबद्ध होने लगीं अथवा—ऐतिहासिक भाषा में—इन भाषाओं को बोलनेवाले विभिन्न समुदाय पारस्परिक संपर्क से रहित विभिन्न स्वतंत्र जातियों के रूप में अलग-अलग प्रदेशों में बँटकर रहने लगे? इसके बाद ही इससे संबद्ध दूसरा प्रश्न स्वभावतः यह सामने आता है कि वह समय कौन-सा रहा होगा जब इन स्वतंत्र जातियों की भाषाएँ एक दूसरे से बहुत-कुछ भिन्न हो चुकी होंगी और साथ ही स्वयं इतनी सामर्थ्यपूर्ण हो गई होंगी कि अपने लिये शब्दों का स्वयं निर्माण कर सकें? भाषामूलक प्राचीन शोध का बहुत-कुछ कार्य भाषाविज्ञान के अधीयानों द्वारा किया जा चुका है, परंतु यदि हम इस कार्य में प्राणिनामों की भी सहायता

माने जाते तथा उनकी आलोचना के विषय बन चुके हैं। आधुनिक भाषाविदों का मत यह है कि जातीयतासूचक नामों को हटाकर उनके स्थान पर अन्य उपयुक्त तथा स्वतंत्र नाम रक्खे जायँ। कुछ भाषावैज्ञानिकों द्वारा इस भाषा-परिवार के लिये 'वाइरोस' (wiros) या 'वीर' परिवार नाम भी प्रस्तावित किया गया है। 'वाइरोस' शब्द आंग्ल भाषा का 'वेर' (wer) शब्द है जो लैटिन का 'वीर' (vir), प्राचीन सैक्सन तथा प्राचीन साहित्यिक जर्मन का 'वेर' (wer), गॉथिक का 'वेइर' (wair), प्राचीन नॉर्स का 'वेर' (verr), प्राचीन आयरिश का 'फ़ेर' (fer), लिथुआनियन का 'विरास' (vyras) तथा संस्कृत का 'वीर' है। इन सभी भाषाओं में ये शब्द 'मनुष्य', 'सैनिक' अथवा 'पति' के लिये आते हैं। लेखक का अपना विचार है कि इन सभी नामों से अधिक उपयुक्त नाम होगा 'आर्याद्य-भाषा' परिवार, जो कि आर्यों की उस आद्य भाषा की ओर संकेत करता है जिसकी इस परिवार की सभी प्राचीन तथा अर्वाचीन भाषाएँ विश्व के समस्त भाषावैज्ञानिकों द्वारा पुत्रियाँ, पौत्रियाँ अथवा प्रपौत्रियाँ स्वीकार की जा चुकी हैं।

लें और साथ ही इस बात का भी पता लगाने का प्रयत्न करें कि विभिन्न देशों में लगभग एक-से ही नाम से पुकारे जानेवाले विभिन्न प्राणी मूल रूप से किस देश के निवासी हैं, तो संभवतः हमारी बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझ जायँ और साथ ही अनेक इतिहास संबंधी भ्रमों का भी निवारण हो जाय।

उदाहरण के लिये ऊँट नामक प्राणी को ही ले लीजिए, जिसका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण (२।८; ३।३४), शतपथ ब्राह्मण (माध्यंदिन-शाखीय, १।२।३।९; ७।४।२।३५ तथा काण्वशाखीय, २।२।१।२२) तथा तांड्य ब्राह्मण (१।८।१२) में भी है और नारदपरिव्राजकोपनिषद् (५।१) तथा संन्यासोपनिषद् (२।६) में भी। महर्षि वाल्मीकि ने अपने रामायण (सुंदरकांड, २७।२९-३०) में इस प्राणी का नामोल्लेख नीचे दिए हुए संदर्भ में किया है—

रावणस्य सुताः सर्वे मुण्डास्तैलसमुक्षिताः ।
वराहेण दशग्रीव शिशुमारेण चेन्द्रजित् ॥
उष्ट्रेण कुम्भकर्णश्च प्रयातो दक्षिणं दिशम् । इत्यादि ॥

अर्थात् 'रावण के समस्त पुत्रों के शिर मुँडे हुए हैं और वे तेल का लेपन किए हुए हैं। रावण सुअर पर सवार है, मेघनाद सूँस पर और कुंभकर्ण ऊँट पर, और सब दक्षिण दिशा की ओर जा रहे हैं।'

'उष्ट्र' शब्द की व्युत्पत्ति √उष् धातु से है जो 'वध करने' या 'दहन करने' के अर्थ में आती है, और इसी कारण उपरिलिखित अवतरण में यह मृत्यु का सूचक बनकर आया भी है। ऐतिहासिक दृष्टि से उष्ट्र शब्द तो नहीं परंतु इसका पर्याय 'क्रमेल' अवश्य बड़े महत्त्व का है।[3] भारत से बाहर बोली जानेवाली भाषाओं

३—वैज्ञानिक दृष्टि से भी 'क्रमेल' शब्द बड़े ही महत्त्व का है। इसका एक अर्थ तो होता है 'ऐसा प्राणी जो क्रम से एलन करता हुआ चले (क्रमेण एलति यः स)'। एलन शब्द √इल् (क्षेपे = फेंकना) धातु से व्युत्पन्न है तथा एक विशिष्ट प्रकार की गति के अर्थ में आता है। इस गति का बहुत-कुछ अनुमान हम ऊँट पर बैठे हुए सवार के शरीर के हिलने-डुलने की गति से कर सकते हैं। अपने दूसरे अर्थ में 'क्रमेल' ऊँट की एक और विशेषता की ओर संकेत करता है। वह यह कि यह प्राणी एकदम से घुमाया नहीं जा सकता—नकेल खींचने पर यह चक्कर काटकर क्रम से थोड़ा-थोड़ा घूमता है (क्रमेण क्रामति)। केवल इतना ही नहीं, यह पीछे की ओर चल भी नहीं सकता (पश्चात् परावर्-

को देखने पर हमें इस प्राणी के नाम के लिये लैटिन में 'कमेलुस', ग्रीक में 'कमेलोस', ऐंग्लो-सैक्सन तथा प्राचीन उत्तरी फ्रेंच में 'कैमेल', प्राचीन आंग्ल तथा प्राचीन फ्रेंच में 'चामेल', हिब्रू तथा फोनीशियन में 'गामाल', और अरबी में 'जमल' आदि शब्द मिलते हैं। देखना है कि 'क्रमेल' शब्द संस्कृत भाषा का स्वयं अपना शब्द है अथवा भारत में बाहर से आया ? एक बात तो निश्चित है कि 'क्रमेल' अथवा 'क्रमेलक' शब्द अब से कम-से-कम दो हजार वर्ष पूर्व तो भारत में था ही, क्योंकि 'अमरकोष' में यह अपने अन्य पर्यायों के साथ आता है—

उष्ट्रे क्रमेलकमयमहाङ्गाः करभः शिशुः ।
करभाः स्युः शृङ्खलका दारवैः पादबन्धनैः ॥

'पंचतंत्र' (१।४१४) में भी एक स्थान पर 'क्रमेलक' शब्द आया है—

भो ममाग्रेऽपि क्रमेलकहृदयं भक्षयित्वा अधुना मम मुखमवलोकयसि ।

अर्थात् 'क्यों ! मेरे आगे ही ऊँट के हृदय को खाकर अब मेरा मुख ताक रहा है ?'

किसी अन्य कवि ने भी लिखा है—

प्रवीक्षते केलिवनं प्रविष्टः क्रमेलकः कण्टकजालमेव ।

अर्थात् 'क्रीड़ा करने के उद्यान में प्रवेश करके ऊँट वहाँ भी कोई कँटीला झाड़ ढूँढ रहा है।'

व्युत्पत्तिक दृष्टि से भी 'क्रमेल' अथवा 'क्रमेलक' शब्द भारत का ही है, क्योंकि इसका अर्थ होता है वह प्राणी जो क्रम से एलन (√इल क्षेपे) गति करता हुआ चले। भारतीय वैज्ञानिकों ने गति के आधार पर अनेक प्राणियों के नाम रक्खे हैं, जैसे 'भुजग' (भुजेन कौटिल्येन गच्छति इति), सरीसृप (कुटिलं सर्पति इति), हय (हयति, विशेषेण गच्छति इति), कपि (चलने; बालकों को कपि इसी लिये कहते हैं कि वे एक स्थान पर थोड़ी देर भी स्थिर होकर नहीं बैठ सकते), वायस (वयते, वय गतौ), श्वान (श्वयति गच्छतीति, श्वि गतौ) हंस

तिंतु न शक्नोति), जब भी इसे पीछे ले जाना होगा तो क्रम से थोड़ा-थोड़ा घुमाकर ही। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि यह प्राणी सदैव उसी दिशा में आगे बढ़ेगा जिस दिशा में इसका मुख होगा, मुख से विपरीत दिशा में चल सकना इस प्राणी के लिये संभव नहीं रहता—कुछ तो शारीरिक बनावट के कारण और कुछ इसकी विचित्र प्रकृति के कारण।

(हन्ति सुंदरं गच्छति इति) आदि। स्वभावतः ही हमारी ऐसी धारणा बनती है कि 'क्रमेल' शब्द शुद्ध संस्कृत का है जो भारत में कहीं बाहर से नहीं आया प्रत्युत भारत से बाहर गया और विभिन्न विदेशी भाषाओं में आज अपने विभिन्न परिवर्तित रूपों में पाया जाता है। और हमारी इस धारणा की पुष्टि हो जाती है जब हम देखते हैं कि आधुनिक ऊँट भारत का अपना प्राणी है, इसकी उत्पत्ति यहीं पर हुई और यहीं से यह बाहर अन्य पास-पड़ोस के देशों में गया। सेजविक महोदय लिखते हैं—"ऊँटों के प्राचीनतम अस्तित्वावशेष (Fossils) भारत के उत्तर-मध्यनूतन युग (Upper Miocene) के प्रस्तर-स्तरों में पाए जाते हैं"।[४]

इस प्रकार यह भी सिद्ध सा हो जाता है कि क्रमेल नामक प्राणी भारत का अपना प्राणी है, यह भारत से ही विदेशों में गया और साथ ही लेता गया अपना 'क्रमेल' नाम भी। गया भी यह प्राणी भारत से बाहर उस समय, जब ऊँट के लिये

४—"Fossil species (of the genus *Camelus*) in upper Miocene of India."

—Sedgwick, Adam, M. A., F. R. S., 'A Student's Text-Book of Zoology', Vol II. p.587.

उधर लल (Lull, Richard Swan) महोदय अपनी पुस्तक ('Organic Evolution') में पृष्ठ ६१६ पर लिखते हैं कि—

"......we have the first recorded remains of it in the famous Siwalik formation (Lower Pliocene) of India."

अर्थात्, ऊँट के प्राचीनतम अभिलिखित अवशेष हमें भारत के प्रसिद्ध शिवालिक प्रस्तर-स्तरों में (अवर-अतिनूतन युग के) मिले हैं।'

जिसका अर्थ यह हुआ कि ऊँट के अस्तित्वावशेष भारत में मध्यनूतन युग के नहीं, किंतु उसके बाद के अवर-अतिनूतन युग के प्रस्तर-स्तरों में पाए गए हैं। यही नहीं, पृष्ठ ६१३ पर दी गई सारणी में वे उसे उत्तर-अतिनूतन (Upper Pliocene) युग का अंकित करते हैं—संभवतः इस कारण कि वे उसे उत्तरी अमेरिका के अवर अतिनूतन युग के प्रस्तर-स्तरों में पाए जानेवाले प्रोकैमेलस (*Procamelus*, प्राक्क्रमेलक) का ही वंशज मानते हैं। वे कहते हैं कि यह बेरिंग स्थलडमरूमध्य (Bering Land-Bridge) से होकर अमेरिका से पुरानी दुनिया (Old world) में आया।

'क्रमेल' नाम वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त मान लिया जा चुका था। वह समय कौन-सा रहा होगा, इसपर प्राचीन संस्कृत साहित्य के वे अंश पर्याप्त प्रकाश डाल सकते हैं जिनमें इस प्राणी के विभिन्न नामों का प्रयोग हुआ है। प्रतीत अवश्य ऐसा होता है कि उस समय तक भारत में आर्यों की सभ्यता का बहुत-कुछ विकास हो चुका था।

आर्यों की सभ्यता कितनी प्राचीन है इसपर विचार करने के लिये हम एक अन्य प्राणी के नाम की सहायता ले सकते हैं। यह प्राणी है घोड़ा, जो भारत का अपना प्राणी है। इस बात के वैज्ञानिक प्रमाण मिलते हैं कि इस प्राणी की उत्पत्ति— अधिक उपयुक्त होगा यदि हम कहें कि आधुनिक अश्व (*Equus*) की उत्पत्ति — भारतवर्ष में ही हुई और फिर यहीं से यह बाहर भी गया। सेजविक के लेखानुसार "आधुनिक अश्व जाति के प्राचीनतम अस्तित्वावशेष सबसे पहले भारतवर्ष में शिवालिक की पहाड़ियों के उत्तर-मध्यनूतन (? अतिनूतन) युग के प्रस्तर-स्तरों में पाए जाते हैं।"[५]

लल महोदय का विचार फिर इससे कुछ भिन्न है। उनके मतानुसार आधुनिक अश्व की उत्पत्ति उत्तरी अमेरिका में ही हुई जहाँ से वह दक्षिणी अमेरिका तथा यूरेशिया में फैला। उत्तरी अमेरिका तथा दक्षिणी अमेरिका में इसकी जाति किन्हीं अज्ञात कारणों से नष्ट हो गई, जब कि यूरेशिया में यह विकसित होता रहा। बाद में यूरेशिया से ही यह अफ्रीका तथा उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका में ले जाया गया।

लल महोदय के मत का खंडन अथवा मंडन हमें यहाँ पर अभीष्ट नहीं। शिवालिक की पहाड़ियों में पाए गए आधुनिक अश्व के अस्तित्वावशेष प्राचीनतम होने के नाते यह तो बतलाते हैं ही कि अश्व भारत से ही अन्य देशों में गया। कब गया और कहाँ-कहाँ गया, इसी पर हमें विचार करना है।

भारतीय साहित्य में घोड़े के लिये अर्वा, अश्व, आजानेय, एतश, कर्क, किण्वी, कुंडी, कुदर, केसरी, क्रमण, क्रांत, गंधर्व, घोटक, चतुष्कर, चामरी, जवन,

---

५—"The genus (*Equus*) first appears in the Upper Miocene (? Pliocene) of India (Siwalik Hills)."

—Sedgwik, Adam, M.A., F.R.S., 'A Student's Text-Book of Zoology', Vol II, p. 587.

तुरग, तुरंग, तुरंगम, त्रुटि, दंड, पीती, पृष्ठ्य, प्रकीर्णक, प्रोथी, माषाशी, रथ्य, वाजी, वाडव, वाडवेय, वातायन, वाह, वीती, शालिहोत्री, श्रीभ्राता, सप्ति, साधुवाही, सैंधव, स्थौरी, हय, हरि, हेषी, ह्वार्य, हंसास्य आदि लगभग पचहत्तर नाम आए हैं। इन समस्त नामों में एक सार्थक तथा प्राचीन नाम ह्वार्य (ह्वार्याणाम्) है जो ऋग्वेद में आया है। इस शब्द का संबंध √ह्व धातु से प्रतीत होता है जो 'स्पर्धा' के अर्थ में आती है। हय (हयति गच्छति इति) वायु के वेग से स्पर्धा करता हुआ आगे बढ़ता है इसी कारण उसे यह संज्ञा दी गई है। आखेट का पीछा करने में तथा रणस्थल में इस प्राणी का उपयोग होता था, यह इसके नाम से ही सिद्ध हो जाता है। मिस्र देश की प्राचीन भाषा में भी हमें घोड़े के लिये 'ह्य' अथवा 'हय' शब्द का ही व्यवहार किया गया मिलता है। प्रश्न उठता है कि यदि विज्ञान की बात थोड़ी देर के लिये छोड़ दी जाय तो 'हय' शब्द तथा 'हय' नामक प्राणी, ये दोनों मिस्र देश से भारत आए अथवा भारत से मिस्र गए, इस विषय में इतिहास का क्या मत है? इतिहास यह बतलाता है कि मिस्र देश में घोड़ा ईसा से लगभग ३००० वर्ष पूर्व कहीं बाहर से पहुँचा अथवा पहुँचाया गया था—उससे पहले वह वहाँ नहीं पाया जाता था। वीच (Weech, W. N.) महोदय लिखते हैं—"फाराओह खुफु के लिये जिगेह में बनाया गया महान् कोणस्तूप (Great Pyramid) लगभग तेरह एकड़ भूमि को घेरे हुए है। विभिन्न समाधि-भवनों तथा उन्हें परस्पर मिलाती हुई दीर्घाओं के अतिरिक्त शेष सारा-का-सारा कोणस्तूप ठोस बना हुआ है। उसे देखने से इस बात का आभास मिलता है कि उस युग के सम्राट् कितने अधिक शक्तिशाली होते थे तथा निम्न श्रेणियों के व्यक्ति कितने कठोर परिश्रमी होते थे; क्योंकि उन दिनों मिस्र देश में घोड़े का कहीं पता न था, और कहा यह जाता है कि इस महान् कोणस्तूप को बनाने में एक लाख आदमियों को बीस वर्ष तक काम करना पड़ा।"[६]

६—"The Great Pyramid, built at Gizeh for the Pharaoh Khufu, covers thirteen acres, and is solid, save for the various burial-chambers and their connecting passages. It is obvious how absolute was the power of the rulers of those days, and how hard-working were the

उपर्युक्त उद्धरण के अनुसार अबसे लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व यदि घोड़ा मिस्र देश में कहीं बाहर से पहुँचा तो उसके लिये केवल दो मार्ग थे—एक तो यूरोप से और दूसरा भारत से। प्राणिनामों को ही आधार बनाकर चलने पर हम देखते हैं कि लैटिन में घोड़े को 'इकुअस', ग्रीक में 'हिप्पॉस', प्राचीन सैक्सन में 'एहु' अथवा 'होस', प्राचीन नॉर्स में 'जोर' अथवा 'ह्रॉस', प्राचीन आयरिश में 'एश', ऐंग्लो-सैक्सन में 'इओह' अथवा 'होर्स', लिथुआनियन में 'अस्व', डच और प्राचीन साहित्यिक जर्मन में 'रोस', तथा फारसी में 'अस्प' संज्ञाएँ दी गई हैं। स्पष्ट है कि ये सभी शब्द संस्कृत के 'अश्व' शब्द से समानता रखते हैं। अब यदि अश्व यूरोप से मिस्र देश में जाता तो अपने साथ 'इकुअस' अथवा 'अश्व' से ही मिलता-जुलता अपना कोई नाम भी ले जाता, या फिर यदि मिस्र देश में पहुँच कर कोई सर्वथा नवीन तथा स्वतंत्र नाम धारण करता तो उस नाम का 'हय' से मिलता-जुलता होना सभी भाँति संभव तो न था। इससे प्रतीत यह होता है कि घोड़ा भारत से ही मिस्र देश में पहुँचा और फिर भारत से ही यूरोप में भी। विज्ञान भी इस बात की पुष्टि करता है जब वह निर्देश करता है कि आधुनिक अश्व भारत से ही अन्य देशों को गया अथवा ले जाया गया, जैसा कि हम पीछे देख आए हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय सभ्यता कम से कम मिस्र देश की सभ्यता के समकक्ष तो थी ही, और इस प्रकार वह यूरोप की सभी प्राचीन सभ्यताओं से पूर्व की है।[७]

इस ऐतिहासिक ग्रंथि को सुलझाने में हमें बिल्ली नामक प्राणी के नामों से भी बहुत-कुछ सहायता मिलती है। संस्कृत साहित्य में बिल्ली के लिये 'आखुभुक्',

---

lower classes. For the horse was then unknown in Egypt, and a hundred thousand men are said to have worked for twenty years on the building of the Great Pyramid."

—Weech, W.N., 'History of the World', pp. 39-40.

७—भारतीय सभ्यता मिस्र देश की सभ्यता से कहीं अधिक पूर्व की है तथा बैबीलोनिया की सभ्यता अथर्ववेद काल की सभ्यता है, इस विषय में लेखक ने विभिन्न इतिहासकारों के मत तथा अनेक प्रमाण अपने 'भारतीय सभ्यता की प्राचीनता' शीर्षक लेख में दिए हैं।

'ओतु', 'जिह्वाप', 'दीप्तलोचन', 'दीप्ताक्ष', 'नक्तंचरी', 'मायावी', 'मार्जार', 'मूषिकाराति', 'मेनाद', 'विडाल', 'वृषदंशक', 'शालावृक', 'सूचक' तथा इन्हीं से मिलते-जुलते लगभग बीस नामों का व्यवहार किया गया मिलता है। इन नामों में से एक भी नाम ऐसा नहीं है जो यूरोप की किसी भी भाषा में बिल्ली के लिये प्रयुक्त होनेवाले किसी भी शब्द से समानता रखता हो। ग्रीक भाषा में बिल्ली के लिये 'केट्टा, लैटिन में 'केट्टा अथवा 'केट्टस', तथा केल्टिक, स्लेवोनिक, ऐंग्लो-सैक्सन, फिनिश, प्राचीन उत्तरी फ्रेंच; मध्यकालीन आयरिश, वेल्श, यहाँ तक कि अरबी में भी इसके लिये 'कैट' अथवा इसी से मिलते-जुलते उच्चारण वाले शब्द प्रयुक्त होते हैं। 'कैटस' से मिलता-जुलता 'खट्टाश' अथवा 'खट्टास' शब्द यदि संस्कृत साहित्य में मिलता भी है तो वह बिल्ली से सर्वथा भिन्न एक अन्य वंश के प्राणी के लिये, जिसके अन्य नाम संस्कृत साहित्य में 'गंधमार्जार', 'गंधोतु', 'वनवासन', 'वनश्वा', 'वनाखु' तथा 'शालि' दिए गए हैं। ये विभिन्न नाम खट्टाश जाति के प्राणी के ही विभिन्न भेदों के लिये प्रयुक्त हुए हैं। यह प्राणी बिल्ली से सर्वथा भिन्न है जिसका तुंड चूहे के तुंड की भाँति आगे निकला होता है तथा शरीर लंबा और पैर छोटे होते हैं। फिर, बिल्ली जहाँ छोटे-छोटे पशु-पक्षियों का आखेट कर उन्हीं का आहार करती है वहाँ खट्टाश जाति के विभिन्न प्राणी अंशतः और कभी-कभी तो पूर्ण रूप से वनस्पतियों का ही आहार करते हैं। केवल इतना ही नहीं, खट्टाश जाति के प्राणी भारत के अपने प्राणी हैं जो यहाँ से बाहर गए—

"खट्टाश पूर्वी देशों में सभी-कहीं तथा अफ्रीका में पाए जाते हैं। अफ्रीका से ही इन्होंने दक्षिणी यूरोप में प्रवेश किया, परंतु इन प्राणियों के मूल निवासस्थान भारत तथा मलय देश ही प्रतीत होते हैं जहाँ इनकी जाति के सबसे अधिक भेद देखने को मिलते हैं। पूर्व-ऐतिहासिक काल में भारत में वास्तविक खट्टाश (Viverra) जाति के प्राणी रहते थे (जिनकी जाति का किसी अन्य प्राणिजाति के साथ मिश्रण नहीं हुआ था)। इन प्राणियों के प्राचीन अस्तित्वावशेष मद्रास-की एक गुहा में तथा शिवालिक पहाड़ियों के प्रस्तर-स्तरों में पाए गए हैं।"[८]

८—"Civets are found all over the Oriental Region and in Africa from whence they have passed into Southern Europe; but the head-quarters of the tribe appears to be

इससे यह सिद्ध हो गया कि यूरोपीय भाषाओं का 'कैटस' तथा भारतीय 'खट्टास' न तो एक ही प्राणी ही हैं और न एक ही प्राणी के लिये प्रयुक्त परस्पर किसी भी रूप में संबंधित प्राणिनाम ही। हाँ, 'सिवेट' तथा 'खट्टास' अवश्य एक-दूसरे से संबंधित हैं। दूसरी बात जो हमने देखी वह यह कि 'खट्टास' जाति के प्राणी यदि अफ्रीका पहुँचे तो भारत से ही, और फिर अफ्रीका से ही दक्षिणी यूरोप में प्रविष्ट होकर वहाँ फैल गए। यदि हम यहाँ कहें कि घोड़ा भी इसी प्रकार यूरोप पहुँचा, और इसी प्रकार बिल्ली भी—जैसा कि हम अभी देखेंगे—तो संभवतः उचित ही होगा।

बिल्ली भारत से पहले मिस्र गई और फिर मिस्र से यूरोप, इसके प्रमाण में पहली बात तो यही है कि इतिहासकार स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि बिल्ली यूरोप में ईसा की चौथी शताब्दी में मिस्र देश से पहुँची, और उस समय तक यूरोपीय परिवार की समस्त भाषाएँ इतनी समर्थ हो चुकी थीं कि नवीन प्राणियों के स्वतंत्र नाम दे सकें। यूरोप से होकर यह भारत नहीं आई, इसके प्रमाण में हम महाभारत (५।१५९।१६) में प्रयुक्त इसके 'मार्जार' नाम की ओर संकेत कर सकते हैं। महाभारत पाश्चात्य मतानुसार भी ईसा से कम-से-कम ३०० वर्ष पूर्व लिखा गया ग्रंथ है जब कि यदि बिल्ली यूरोप से होती हुई भारत आती तो ईसा की पाँचवीं शताब्दी से पहले नहीं आ सकती थी।

दूसरी बात यह कि मिस्र देश का इतिहास उठाने पर हम पाते हैं कि ईसा से पूर्व पाँचवीं सहस्राब्दी के मिस्र देशवासी अलग-अलग छोटी-छोटी अनेक टुकड़ियों में रहते तथा विभिन्न पशुओं को अपने-अपने वंश का देवता मानते थे। यही प्रवृत्ति हमें रामायणकालीन भारत की कुछ उन अर्धसभ्य जातियों में देखने

India and the Malay countries, where the largest number of species live. There were true civets (Viverra) living in India in pre-historic times. Their fossil remains have been discovered in a cavern in Madras and in the rocks of the Siwalik Hills."

—Salim Ali, 'The Book of Indian Animals', Bombay, 1950, p. 58.

को मिलती है जो मुख्यतया विंध्य गिरि के दक्षिण में रहती थीं।[१] बिल्ली को अपने वंश का प्रवर्तक माननेवाली जाति ने 'पसहत' को बिल्लियों का देवता माना है। यह शब्द मिस्र देश की भाषा में 'पस' और 'अहत' से मिलकर बना प्रतीत होता है। 'पस' का अर्थ होता है 'पति' अथवा 'प्रधान' और 'अहत' का अर्थ 'विडाल'

६—प्राचीन काल में लगभग सभी देशों में यह एक प्रथा सी थी कि विभिन्न जातियाँ प्रकृति के विभिन्न उपकरणों, विभिन्न प्राणियों तथा विभिन्न पौधों के नाम पर अपनी जातियों के नाम रखतीं, अपने को उनको वंशज मानतीं, तथा प्रायः उनके चित्र भी अपने शरीर की त्वचा पर किसी भी उपयुक्त स्थान पर उत्कीर्ण कराती थीं। प्राचीन भारत में जहाँ एक ओर सूर्यवंशी तथा चंद्रवंशी क्षत्रिय प्रसिद्ध हैं वहीं रामायणकालीन दक्षिण भारत की जातियों में ऋक्षवंशी तथा वानरवंशी योद्धा भी, जिन्होंने लंका-विजय में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री रामचंद्र जी का साथ दिया था। यह भी संभव है कि राम की सेना के प्रसिद्ध योद्धा जांबवान् जिन्हें हमने अज्ञानवश ऋक्ष (= भालू) मान लिया है, अपने को ऋक्ष (= नक्षत्र-) वंशी माननेवाली किसी प्राचीन जाति के योद्धा रहे हों, क्योंकि 'ऋक्ष' का मूल अर्थ है 'नक्षत्र', जो संस्कृत 'ऋ' (गणेश, सूर्य, अदिति) से व्युत्पन्न है। इसी प्रकार भक्तश्रेष्ठ हनुमान जी भी आधुनिक काल के से बंदर नहीं प्रत्युत किसी प्राचीन वनचारी जाति के योद्धा प्रतीत होते हैं जिसने वानरों के किसी गुण—संभवतः चपलता पर मुग्ध होकर उन्हें अपने वंश का प्रवर्तक मान लिया। बिहार प्रांत के विद्वान् पंडित रामचंद्र द्विवेदी के मतानुसार बाली, श्रीकंठ, अंगद, हनुमान, नल, नील, द्विविद आदि वानर नहीं, प्रत्युत उस सेना के योद्धा थे जिसकी ध्वजा पर वानर का चित्र था तथा इसी कारण जो वानरी सेना कहलाती थी। हनुमान जी के विषय में आपका मत है कि चारों वेदों के ज्ञाता, व्याकरण के अगाध विद्वान् तथा शब्दशास्त्र के पारंगत एक ब्राह्मण-कुमार थे जिनके पिता का नाम पवन विद्याधर तथा पितामह का नाम प्रह्लाद विद्याधर था। वाल्मीकीय रामायण, किष्किंधाकांड, ३।२८-३३, १६।१२, २५।५०-५१; उत्तरकांड, ३४।६; बालकांड, १७।९; तथा गोस्वामी तुलसीदास जी के 'धरि बटु रूप देखु तैं जाई' से यह मत संगत भी प्रतीत होता है। नागवंश से भी तात्पर्य सर्पों के किसी विशेष वंश (Elapidae : Cobrss) से नहीं प्रत्युत मानवों की ही एक प्राचीन जाति से है जिसने—कुछ विद्वानों के मतानुसार—अपनी सभ्यता का निशान जाकर माक्षिक प्रदेश (Mexico America) में फहराया। महामुनि श्रृंगी हरिण योनि से जन्मे कहे गए हैं। यहाँ भी हरिण का वास्तविक अर्थ हरिण नामक पशु नहीं, वरन् हरिण के

अथवा 'मार्जार'। आर्यांग्र भाषा में संस्कृत 'ओतु' का रूप 'अहत' से अधिक भिन्न न रहा होगा, जैसा कि भाषाविज्ञान के नियमों से प्रतीत होता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मिस्र देश तथा भारत का संबंध उस समय का है जब कि दोनों की भाषाएँ परस्पर आदान-प्रदान करने में हिचकती न थीं। और यह समय अवश्य ही दोनों ही सभ्यताओं के विकास का प्रारंभिक काल रहा होगा।

फिर, मिस्र देश के प्राचीन निवासी बिल्ली को पूजते भी थे। बिल्ली के मिस्र देश में पूजे जाने का धार्मिक आधार क्या है; इस प्रश्न पर वहाँ की उपलब्ध प्राचीन कथाएँ कुछ भी प्रकाश नहीं डालतीं। दूसरा देश, जहाँ बिल्ली को उपयोगी जंतु मानकर उसके संरक्षण की ओर कुछ ध्यान दिया गया हो, भारत है। इस प्राणी को 'ओतु'[१०] की संज्ञा देना ही हमारी इस धारणा की पुष्टि करता

समान मनोहारी (हरति मनो हरिणः) तथा चपल, या हरिण को अपने वंश का प्रवर्तक माननेवाली कोई जाति प्रतीत होता है। ऐसा अनुमान होता है कि श्रृंगी ऋषि की माता अपने को हरिणवंशी माननेवाली किसी तत्कालीन प्राचीन जाति की कन्या थीं।

१०—संस्कृत की √अव् धातु रक्षण के अर्थ में प्रयुक्त होती है (अव रक्षणे)। बिल्ली चूहों से घर की रक्षा करती है (अवति गृहम् आखुभ्यः) इस कारण इसे 'ओतु' की संज्ञा दी गई। जैसा कि वैज्ञानिकों का कथन है प्रत्येक प्राप्तवयस्क चूहा अपने नन्हें-नन्हें पैने दंतों से व्यर्थ ही कपड़ों, लकड़ी आदि के सामानों तथा पुस्तकादि को नष्ट करने के अतिरिक्त प्रतिवर्ष स्वयं जो कुछ खाता है उसे छोड़कर आजकल के हिसाब से लगभग पचहत्तर रुपए का अन्न खेती को कुतरकर नष्ट कर डालता है, जो कि एक स्वस्थ मनुष्य के भोजन के लिये लगभग छः मास के लिये पर्याप्त होगा। मेजर कुन्हार्ड (Major Kunhardt) ने अबसे लगभग पचीस वर्ष पूर्व, जब गेहूँ का भाव रुपए के सोलह सेर के हिसाब से था और उसी हिसाब से अन्य खाद्य सामग्री, कपड़े, लकड़ी का सामान आदि वस्तुएँ भी सस्ती थीं, ऐसा अनुमान लगाया था कि भारत में चूहों द्वारा की गई आर्थिक हानि प्रतिवर्ष लगभग बासठ करोड़ साढ़े बारह लाख रुपए तक की होती है। इस हानि का लगभग आधा तो उनके द्वारा खाए गए अथवा नष्ट किए गए अन्न आदि के कारण होता है और शेष आधा उनके द्वारा फैलाई गई महामारी के कारण अकाल ही काल के गाल में चले जानेवाले मनुष्यों तथा रोगी होकर काम करने के अयोग्य हो जानेवाले व्यक्तियों के कारण होनेवाली श्रम की हानि एवं महामारी से जनता को बचाने के उपायों में किए गए धन व्यय के कारण होता है।

है। आगे चलकर तो इसका मारना पाप गिना जाने लगा और जनसाधारण के लिये यह एक व्यवस्था सी दे दी गई कि यदि मारने से बिल्ली मर जाय तो हत्याकारी पाप से मुक्ति तब तक नहीं पाता जब तक कि वह सोने की बिल्ली दान न करे। संभवतः जब मनुष्यों ने देखा कि चूहों की बढ़ती हुई संख्या को दाबकर रखनेवाला प्राणी बिल्ली ही है तो उन्होंने उसे पालना आरंभ किया, 'ओतु', 'आखुभुक्' तथा 'मूषिकाराति' की संज्ञाएँ दीं, और फिर उसके संरक्षण का उक्त प्रकार प्रबंध कर दिया; क्योंकि बिल्ली केवल चूहों पर ही नहीं, अपितु मनुष्यों द्वारा सँभालकर रक्खे गए दूध, दही, मलाई, मक्खन तथा मट्ठे आदि पर भी समय-असमय हाथ साफ कर दिया करती थी और परिणामस्वरूप यदा-कदा मनुष्य की झुँझलाहट का शिकार हो अपने जीवन तक से हाथ धो बैठती थी। इससे प्रतीत यह होता है कि व्यापारिक जलयानों द्वारा पहले तो भारत से चूहा मिस्र देश पहुँचा और फिर चूहों को दाबकर रखने के लिये वहाँ बिल्ली पहुँचाई गई। ले जाई गई बिल्लियों की संख्या अधिक न थी, अतः उनकी सुरक्षा के लिये उनकी पूजा करने, उन्हें पवित्र मानने तथा उन्हें किसी भी प्रकार की हानि न पहुँचाने का धार्मिक विधान बना दिया गया। बिल्ली को वहाँ के लोगों ने चंद्रमा की देवी माना और आगे चलकर तो उसकी मूर्तियाँ बनाकर पूजने भी लगे। इतना ही नहीं, कोणस्तूपों में बिल्लियों के परिरक्षित शव (Mummies) भी रक्खे जाने लगे जिससे वे मृत व्यक्ति के धान्य की रक्षा वहाँ भी करती रहें।[११]

११—प्राचीन मिस्र-निवासियों का यह दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य मरता नहीं है। इस सांसारिक मृत्यु के बाद भी उसका एक जीवन होता है जिसमें उसे अन्न-वस्त्र आदि से संबंधित सुख एवं सुविधाओं की आवश्यकता पड़ती है। इस कारण वे मृत व्यक्ति के शव को औषधियों द्वारा परिरक्षित कर तब समाधिस्थ करते थे और शव के चारों ओर मिट्टी के बरतनों में धान्य, पेय पदार्थ तथा मृत व्यक्ति के प्रिय अस्त्र-शस्त्र आदि रख देते थे। स्त्रियों की समाधियों में उनके परिरक्षित शव के साथ सौंदर्य-वृद्धि में प्रयुक्त होनेवाले अभ्यंजनादि भी रख दिए जाते थे। सम्राटों, अमात्यों तथा धनिकों की समाधियों पर कोणस्तूप बनाए जाते थे जिनमें मृत व्यक्तियों की सुविधा का ध्यान रखते हुए कक्षों (rcoms) तथा दीर्घाओं (galleries) का निर्माण किया जाता था। कभी-कभी तो उनके परिरक्षित शवों के साथ न केवल जीवनोपयोगी सामग्रियाँ ही रक्खी

इसी प्रकार यदि हम अन्य प्राणियों को भी लें, विभिन्न देशों में पाए जाने वाले उनके नामों का तुलनात्मक अध्ययन करें, उनसे संबंधित उन देशों में प्रचलित कथाओं के मूल में छिपे हुए तथ्यों का उद्‌घाटन करने का प्रयत्न करें, उन प्राणियों के मूल निवासस्थान तथा संभावित प्रसार एवं वितरण के मार्गों का पता लगाएँ, तो असंभव नहीं कि भाषा, संस्कृति, सभ्यता तथा इतिहास से संबंधित हमारी अनेक ऐतिहासिक उलझनें सुगमता से सुलझ जायँ।

जाती थीं अपितु उनके प्रिय दास-दासियों को कत्ल कर उनके शवों को भी परिरक्षित करके समाधिस्थ कर दिया जाता था जिससे वे अपने स्वामी की सेवा वहाँ भी कर सकें। इन्हीं कोणस्तूपों में चिड़ियों के भी परिरक्षित शव मिले हैं।

विमर्श

जायसी कृत महरीबाईसी या कहरनामा

नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा खोज में उपलब्ध हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण (सन् १९२६-१९२८) सभा की हीरकजयंती के अवसर पर प्रकाशित हुआ है । यह लगभग आठ सौ पृष्ठों का बहुत ही महत्त्वपूर्ण विवरण है जो उत्तर प्रदेश शासन द्वारा प्रदत्त दस सहस्र की सहायता के एक अंश से प्रकाशित किया गया है । शेष धन से इसी प्रकार के दो और त्रैवार्षिक खोज-विवरण प्रकाशित करने की सूचना ग्रंथ के आरंभिक वक्तव्य से प्राप्त होती है । इस प्रकार के खोज-विवरण प्रायः अंग्रेजी में प्रकाशित होते रहे । पहली बार सभा ने कालोचित परिवर्तन करके इस मूल्यवान् सामग्री को हिंदी में प्रकाशित किया है । हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज का कार्य यद्यपि लगभग पचास वर्षों से हो रहा है किंतु अब समय आ गया है जब उत्तर प्रदेश के समान अन्य राज्यों में भी जहाँ हिंदी भाषा का क्षेत्र है, इसी प्रकार का कार्य तुरंत सुव्यवस्थित ढंग से आरंभ हो जाना चाहिए । बारहवीं शती से उन्नीसवीं शती तक हिंदी भाषा का जो विकास है उसकी अनेक खोई हुई कड़ियों को पुनः प्राप्त करने के लिये खोज में प्राप्त सामग्री ही एक मात्र उपाय है । नहीं कहा जा सकता कब कहाँ से कौन सा नया ग्रंथ उपलब्ध हो जाय और जो ग्रंथ पहले से विदित भी हैं उनके प्राचीन आदर्श मिल जायँ । हिंदी साहित्य के बृहत् विस्तार की अपरिमित सामग्री इन खोज-विवरणों में भरी हुई है । सभा के पास इस प्रकार के लगभग आठ त्रैवार्षिक विवरण और तैयार हैं जिनकी सामग्री लगभग छः सहस्र पृष्ठों की होगी । आशा है उत्तर प्रदेश शासन की सहायता से पुनः आरंभ किया हुआ प्रकाशन-कार्य आगामी पाँच वर्षों में समाप्त किया जा सकेगा ।

प्रस्तुत विवरण के पृष्ठ चार सौ इकतीस पर मलिक मुहम्मद जायसी विरचित 'कहारानामा' ग्रंथ का परिचय दिया गया है । ग्रंथ का विवरण इस प्रकार है—

पत्र बारह, आकार ६ × ४ इंच, पंक्ति प्रति पृष्ठ ३६, प्राचीन पद्य, लिपि नागरी, लिपिकाल सं० १७७० (१८२७ ई०), प्राप्तिस्थान आनंदभवन पुस्तकालय, बिसवाँ, जि० सीतापुर।

इधर पद्मावत पर कुछ काम करने के कारण जायसी विरचित नए ग्रंथ का नाम पढ़कर कुतूहल हुआ। ग्रंथ के प्रारंभ (अथ कहारानामा लिष्यते) और अंत (इति श्री कहारानामा समाप्तम्) में ग्रंथ का नाम 'कहारानामा' दिया गया है। सौभाग्य से विवरण लेनेवाले अन्वेषक ने ग्रंथ के आरंभ की अठारह पक्तियाँ और अंत की बीस पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। इन्हें डा० माताप्रसाद जी गुप्त द्वारा संपादित जायसी के अभिनव संस्करण के अंत में प्रकाशित (पृ० ७११–७२१) 'महरीबाईसी' ग्रंथ के साथ मिलाकर देखने से तुरंत यह विदित हो गया कि कहारानामा की प्राचीन प्रति महरीबाईसी की ही प्रति है। नामभेद होते हुए भी दोनों ग्रंथ एक हैं। श्री माताप्रसाद जी ने लिखा है कि महरीबाईसी की प्रति उन्हें लंदन के कौमनवेल्थ रिलेशन्स आफिस से प्राप्त हुई। हर्ष की बात है कि अवध में भी उसकी एक प्रति का अस्तित्व मिल गया, यद्यपि यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि बिसवाँ के आनंदभवन पुस्तकालय में वह प्रति अभी तक सुरक्षित है या नहीं। पाठकों से निवेदन है कि यदि कहारानामा या महरीबाईसी की अन्य प्रति का पता लग सके तो कृपया मुझे सूचित करें।

पं० रामचंद्र जी शुक्ल ने पद्मावत के पहले संस्करण (१९२४ ई०) में जायसी-कृत पद्मावत के अतिरिक्त अखरावट का भी मुद्रण किया था। शुक्ल जी के दूसरे संस्करण (सं० १९९२) में जायसी का तीसरा ग्रंथ 'आखिरी कलाम' भी मुद्रित हुआ था। लगभग सत्रह वर्ष बाद डा० माताप्रसाद जी गुप्त ने अपने संशोधित संस्करण (१९५२ ई०) में जायसी के चौथे ग्रंथ महरीबाईसी को खोजकर प्रकाशित किया। जायसी के यही चार ग्रंथ अब तक उपलब्ध हैं।

सौभाग्य से पद्मावत की बहुसंख्यक हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं जिनके आधार पर उस महत्त्वपूर्ण कृति का संशोधित प्रामाणिक संस्करण तैयार किया जा सकता था। हर्ष है कि श्री माताप्रसाद जी ने अत्यंत परिश्रम से इस कार्य को पूर्ण कर दिया है। उसका फल हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित जायसी-ग्रंथावली के रूप में हमारे सामने है। जायसी पर किए गए अब तक के कार्यों में गुप्त जी का कार्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है और उन्होंने अपने इस प्रामाणिक संस्करण द्वारा पद्मावत और अवधी भाषा का जो उपकार किया है वह अत्यंत श्लाघनीय है। इस प्रकार दूसरे संस्करणों की अपेक्षा सैकड़ों स्थलों पर इस संस्करण के पाठ भाषा और भाव की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं। इसका परिचय किसी दूसरे लेख में दिया जायगा।

अखरावट और आखिरी कलाम की प्रतियों का एक प्रकार से अभाव ही है। जैसा श्री माताप्रसाद ने लिखा है, पं० रामचंद्र शुक्ल को इन दोनों ग्रंथों का उर्दू अक्षरों में मुद्रित एक-एक संस्करण मिला था, उन्हीं के आधार पर शुक्ल जी ने अपनी जायसी-ग्रंथावली में इन ग्रंथों के पाठ दिए थे। माताप्रसाद जी को भी इन ग्रंथों की कोई प्राचीन प्रति नहीं मिल सकी अतएव उन्हें भी वही पाठ रखना पड़ा। संशोधन की दृष्टि से इन दोनों ग्रंथों का पाठ अभी संतोषजनक नहीं हो सका है। हिंदी पाठकों से निवेदन है कि भविष्य में इन दो ग्रंथों की प्राचीन प्रतियों की सूचना मुझे या माताप्रसाद जी को देने की कृपा करें।

चौथे ग्रंथ महरीबाईसी के विषय में श्री माताप्रसाद जी ने लिखा है—"उपर्युक्त के अतिरिक्त खोज में मुझे जायसी की एक अन्य कृति मिली है, जिसे इस संस्करण में पहली बार प्रकाशित किया जा रहा है। यह है 'महरीबाईसी'। यह नाम मेरा दिया हुआ है, स्पष्ट नामोल्लेख कृति में नहीं है। केवल महरीं गाने का उल्लेख कृति में जहाँ-तहाँ हुआ है, और इस कृति में कुल बाईस गीत हैं इसलिये यह नाम दे दिया गया है। संभव ही नहीं आशा भी है कि आगे की खोजों में इस कृति का ठीक नाम ज्ञात हो जावेगा।" (जायसी-ग्रंथावली, पृ० १०४)

बिसवाँ की नई प्रति से यह बात अब निश्चित हो जाती है कि जिसे गुप्त जी ने 'महरीबाईसी' नाम दिया था, उस कृति का मूल नाम जायसी के अनुसार 'कहारानामा' था, जैसा कि ग्रंथ के आदि और अंत में स्पष्ट कहा गया है। अन्वेषक ने जो अंत का अंश उद्धृत किया है उसमें अंतिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

कहरानामा भाषा कीन्हा जो गावै सो तरिहै रे।
रामनाम परमारथ महिमा राखै पार उतारै रे॥

इससे ज्ञात होता है कि प्रतिलिपिकर्ता ने कहरानामा और कहारानामा दोनों नाम दिए हैं। किंतु ग्रंथ का मूल नाम संभवतः कहरानामा ही था। 'नामा' उत्तर पद फ़ारसी का है। उसका पूर्व पद भी हिंदी से इतर भाषा का होना चाहिए, जैसे 'क़ूज़ानामा', 'रज़्मनामा' इत्यादि, यह समझकर मैंने सोचा कि इसका मूल नाम 'क़हरनामा' था। किंतु श्री पुरुषोत्तमलाल ने निम्नलिखित सूचना भेजकर मुझे अनुगृहीत किया है—"इसमें कहरानामा का कहरा मूलतः वही शब्द मालूम होता है जो कबीर में भी आया है। बिरहुली, चौंतीसी आदि के साथ कबीर ने कहरा भी लिखा है। कहरा और कहरवा संभव है एक ही। कहरवा अवधी का एक गीत है।"

श्री पं० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी से जब मैंने इसकी जिज्ञासा की तो उन्होंने कबीर के कहरा से मेरा विस्तृत परिचय कराया और यह सम्मति दी कि जायसी का यह काव्य-रूप निश्चित वही है जिसे कबीर ने भी लिखा है। उनका यह भी अनुमान है कि यह काव्य-रूप और भी संत कवियों में मिलना चाहिए। कबीर ने बीजक ग्रंथ के अंतर्गत बारह पदों का कहरा लिखा है जिसमें दूसरे पद के अंत की दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

प्रेमबान इक सतगुरु दीन्हा गाढ़ो तीर कमाना हो।
दास कबीर कीन्ह यह कहरा महरा माहिं समाना हो॥

बीजक के टीकाकार महाराज राघवदास ने यहाँ कहरा का अर्थ जन्म-मरण रूप कहर या दुःख ही किया है। नाम के संबंध में यह प्रश्न बना रहता है कि कहरानामा में कहरा शब्द का संबंध कहार से है या कहर से। यह अनुसंधान का विषय है कि कहरा की धुन जो कबीर और जायसी में समान है, कहार जाति में विशेष रूप से पाई जाती है या नहीं और कहरवा संज्ञक अवधी गीत का कहारों से कहाँ तक संबंध है एवं उसकी धुन क्या है ? अपनी परिमित जानकारी के कारण इस प्रश्न पर मैं अभी कोई प्रकाश नहीं डाल सकता।

बिसवाँ की इस नई प्रति की सूचना पाकर श्री माताप्रसाद जी गुप्त ने अपने २६।४।५४ के पत्र में दो और नई प्रतियों की सूचना मुझे दी है—"बिहार के मनेरशरीफ स्थान में जायसी-ग्रंथावली की शाहजहाँकालीन प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनका विवरण पटना कालेज के इतिहास-विभाग के प्रोफेसर अस्करी ने बिहार रिसर्च जर्नल के मार्च-जून १९५३ के अंक में प्रकाशित किया है। एक प्रति इनमें 'महरीनामा' की भी है। किंतु वह कदाचित् पूर्ण नहीं है। एक अन्य प्रति रामपुर की स्टेट लायब्रेरी में भी है।" उन्होंने यह भी लिखा है कि आगे यदि संभव होगा तो वे इन तीनों नई प्रतियों का उपयोग करके इस ग्रंथ का पुनः संपादन करेंगे। मनेरशरीफ और रामपुर की प्रतियों में ग्रंथ का नाम क्या है यह अभी ज्ञातव्य है।

—वासुदेवशरण अग्रवाल

चयन

श्री संपूर्णानंद जी का स्वागत-भाषण

विगत सौर फाल्गुन २२ सं० २०१० को राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद जी द्वारा नागरीप्रचारिणी सभा के हीरकजयंती समारोह के उद्घाटन के अवसर पर स्वागताध्यक्ष माननीय श्री संपूर्णानंद जी द्वारा दिए गए स्वागत-भाषण का मुख्यांश यहाँ उद्धृत है। तत्रभवान् राष्ट्रपति का सादर स्वागत करते हुए उक्त अवसर पर सभा में उनके पधारने के विशेष महत्त्व का उल्लेख कर माननीय श्री संपूर्णानंद ने कहा—

सभा का काशी में स्थापित होना भले ही देखने में आकस्मिक घटना-सा प्रतीत हो परंतु ऐसा कहना स्यात् अयुक्त न होगा कि इस आकस्मिक घटना के पीछे उस अज्ञात शक्ति की प्रेरणा थी जो राष्ट्रों और समुदायों के भविष्य का नियंत्रण करती है। यों तो हिंदी का संबंध मातृभाषा रूप से उत्तर भारत के बहुत बड़े भू-भाग से है और उत्तर प्रदेश उसका विशेष रूप से क्रीड़ा-प्रांगण रहा है, परंतु वाराणसी का हिंदी और उस संस्कृति के, जिसका कि हिंदी प्रतीक है, विकास में विशेष स्थान रहा है। यह नगर संस्कृत का प्रधान केंद्र है। आज भी यह संस्कृत का महाविद्यापीठ है जिसमें कई सहस्र विद्यार्थी संस्कृत पढ़ते हैं। संस्कृत का हिंदी तथा दूसरी भारतीय भाषाओं से जो संबंध है उसे बतलाने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रदेश को बुद्धदेव द्वारा धर्मचक्र-प्रवर्तन और जैन तीर्थंकरों द्वारा धर्म के उपदेश सुनने और देखने का अवसर मिला है। आदि शंकराचार्य को यहाँ अपने वेदांत-ज्ञान की परीक्षा देनी पड़ी थी। यहीं कबीर, तुलसी और रैदास ने अपने अमर साहित्य की सृष्टि की थी। वह धारा आज भी अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित हो रही है। भारतेंदु हरिश्चंद्र, रामचंद्र शुक्ल, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', जयशंकर 'प्रसाद' और प्रेमचंद ने उस परंपरा को सजीव रक्खा और हमको विश्वास है कि आगे भी इस नगरी के द्वारा हिंदी की वैसी ही सेवा होती रहेगी। ऐसे वातावरण में पलने से निश्चय ही सभा को बल मिला। उसके साठ वर्षों का इतिहास वस्तुतः वर्तमान हिंदी का इतिहास है और अनेक विघ्न-बाधाओं के आघात होने पर भी वह इतिहास आशा और विजयोल्लास का इतिहास है।

सभा ने आरंभ से ही अपने क्षेत्र को विस्तीर्ण रक्खा। नागरी लिपि के साथ-साथ उसने हिंदी भाषा के प्रचार और प्रसार को अपनी कार्यावली में प्रमुख स्थान दिया और अपने सामने सतत यह लक्ष्य रक्खा कि हिंदी का वाङ्मय इस प्रकार सर्वांगपूर्ण बन जाय कि एक दिन यह भाषा देश की राष्ट्रभाषा बन सके। आप जैसे राष्ट्रनायकों के प्रयत्न से आज वह उद्देश्य सिद्ध हुआ है और देवनागरी में लिखी हुई हिंदी भाषा देश की राष्ट्रभाषा मान ली गई है। सभा ने अपने को राजनीति से सर्वथा अलग रक्खा इसलिये उसको सभी विचारों के माननेवालों का सहयोग प्राप्त हुआ और न केवल उत्तर प्रदेश वरन् उत्तर भारत के सभी प्रांतों और राज्यों में उसने लोकप्रियता प्राप्त की। आज देश में कई ऐसी संस्थाएँ हैं जो विभिन्न क्षेत्रों में हिंदी की सेवा कर रही हैं। इन सबका किसी न किसी रूप में सभा से संबंध रहा है और सभा के कार्यकर्ताओं की तपस्या ने उसके कामों को सफल बनाया है। यह सभा के लिये बड़े ही संतोष की बात है।

यों तो हिंदी साहित्य का इतिहास आज से कई सौ वर्ष पीछे तक जाता है परंतु यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि अभी इस विशाल वाङ्मय का बहुत थोड़ा अंश प्रकाश में आया है। बहुत-सी पुस्तकें राजाओं, रईसों और विद्वानों के निजी पुस्तकालयों में पड़ी हैं। ये तो किसी प्रकार सुरक्षित भी हैं परंतु ऐसी पुस्तकों की भी बहुत बड़ी संख्या है जिनका अस्तित्व भी आज संकट में है। जिन लोगों की वे संपत्ति हैं वे उनके महत्त्व को नहीं जानते और इस बात का डर है कि वे सदा के लिये विलुप्त और विनष्ट हो जायँगी। सभा ने उत्तर प्रदेश की सरकार की सहायता से खोज का जो कार्य अपने ऊपर लिया था उसके द्वारा बहुत उपयोगी काम अब तक हुआ है परंतु जितना काम करना है उसके अंचल का अब तक स्पर्श भी नहीं हो पाया है!

हिंदी के राष्ट्रभाषा घोषित हो जाने से सभा का दायित्व बहुत बढ़ गया है। उसके कार्य की दिशा तो वही है परंतु प्रगति और तीव्र हो जानी चाहिए, अन्यथा आज से दस वर्ष पश्चात् राष्ट्रभाषा पद पर आरूढ़ होकर वह क्षमता के साथ अपना काम न कर सकेगी। उसके वाङ्मय को सभी शास्त्रों के उच्च कोटि के ग्रंथों से भरना है और उसको ऐसा विस्तीर्ण शब्दकोष देना है जिससे गंभीर वैज्ञानिक और दार्शनिक विचारों की व्यंजना की जा सके और प्रशासकीय कार्यों में किसी भी रुकावट का अनुभव न हो। इस काम की आवश्यकता तो सर्व-

सम्मत है। हमको इसमें कोई संदेह नहीं है कि इसका संपादन सफलता के साथ हो सकता है। हिंदी की आत्मा ने कभी ऐसे शब्दों का बहिष्कार नहीं किया जिनको लोकवाणी ने अपना लिया है, चाहे उन शब्दों का उद्गम कहीं भी हुआ हो। प्राचीन भारत के साहित्य से ऐसे बहुत से शब्द लिए जा सकते हैं जिनका व्यवहार आज से मिलती-जुलती अवस्था में होता था। दूसरे प्रदेशों से उपयुक्त शब्दों को लेने में हमको कोई सैद्धांतिक आपत्ति नहीं और नए शब्दों की रचना करने के लिये हमको संस्कृत का प्रबल आश्रय प्राप्त है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि इस काम के लिये पर्याप्त धन व्यय किया जाय और केंद्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों का सहारा मिलता रहे। हमको विश्वास है कि आपके नेतृत्व में इस ओर पूरा ध्यान दिया जायगा।

हिंदी में एक अच्छे कोष और व्याकरण की कमी बहुत खटकती है। सभा ने आज से कई वर्ष पहिले जो हिंदी शब्दसागर प्रकाशित किया था उसका बहुत विस्तृत संस्करण निकालने की आवश्यकता है। व्याकरण की आवश्यकता भी कम नहीं है। कोई जीवित और प्रगतिशील भाषा व्याकरण से बाँधी नहीं जा सकती, परंतु ऐसी भाषा, जिसके विकास का इतिहास कई सौ वर्षों तक गया हो और जिसमें रचे गए ग्रंथरत्नों ने अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की हो, उच्छृंखल भी नहीं छोड़ी जा सकती। इस बात की आवश्यकता है कि उदीयमान लेखकों को, जिनमें से कितने ही स्वभावतः ऐसे प्रदेशों के रहनेवाले होंगे जहाँ हिंदी का अभी थोड़े ही दिनों से प्रचार हुआ है, व्याकरण की सहायता दी जाय जिससे उनकी रचनाएँ इस भाषा की परंपरा से दूर न जा पड़ें। आज व्याकरण की जो कुछ पुस्तकें दीख पड़ती हैं वे अंग्रेजी व्याकरण के अनुरूप लिखी गई हैं। जिस देश ने पाणिनि, पतंजलि और कात्यायन को जन्म दिया हो जिनकी रचना मनुष्य के व्याकरण साहित्य में अद्वितीय मानी जाती हो, उस देश की राष्ट्रभाषा का व्याकरण प्राचीन परंपरा पर ही ढलना चाहिए।

मैंने हिंदी की आवश्यकताओं की ओर थोड़ा सा संकेत किया है। जो हिंदी भाषा की आवश्यकताएँ हैं वे सभा की आवश्यकताएँ हैं। नागरी लिपि के संस्कार की ओर तो देश के प्रशासकों का ध्यान गया है। अभी लखनऊ में उत्तरप्रदेशीय सरकार के प्रयत्न से जो लिपि सुधार-संमेलन हुआ था उसका कार्य प्रत्येक हिंदी-प्रेमी के लिये और विशेषतः सभा के लिये बड़े ही हर्ष का विषय है। हमारा सा[illegible]

वर्षों का प्रयत्न सफलता के पास पहुँचा है। हम आशा करते हैं कि लिपि में जो थोड़ी-सी और कमियाँ रह गई हैं उनकी ओर भी शीघ्र ध्यान दिया जायगा और जो लिपि सर्वसंमति से निश्चित होगी वह न केवल हिंदी लिखने के लिये प्रत्युत अन्य भारतीय भाषाओं को लिखने के लिये भी स्वीकृत होगी।

जहाँ तक भाषा और उसके वाङ्मय को परिपूर्ण करने की बात है, सभा इस काम के लिये पूर्णरूपेण तत्पर है। उसके सारे साधन इस कार्य के लिये राष्ट्र की सेवा में अर्पित हैं। हमारा आपसे विनम्र अनुरोध है कि आप हमारी इस भेंट को स्वीकार करें।

आज से कुछ महीनों पहिले उत्तरप्रदेश के राज्यपाल श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने कहा था कि सभा ने जो काम उठाया था उससे दूसरी भारतीय भाषाओं के कार्यकर्ताओं को भी स्फूर्ति मिली थी। हमारा ऐसा दृढ़ विश्वास है कि सभा के द्वारा भविष्य में भी हिंदी की जो सेवा होगी उससे दूसरी प्रादेशिक भाषाओं को भी लाभ होगा। हमारा ऐसा दृढ़ मत है कि राष्ट्रभाषा की उन्नति प्रादेशिक भाषाओं की पुष्टि का भी साधन होगी।

राष्ट्रपति का उद्घाटन-भाषण

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के हीरक जयंती समारोह का उद्घाटन करते हुए सौर फाल्गुन २२ सं० २०१० को तत्रभवान् राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद ने जो उद्घाटन-भाषण दिया वह अविकल रूप में यहाँ उद्धृत है—

विद्वज्जन, बहिनो और भाइयो,

नागरीप्रचारिणी सभा काशी के हीरक जयंती समारोह के उद्घाटनार्थ आपने मुझे निमंत्रित किया है, इसके लिये मैं आप लोगों का आभारी हूँ। मेरे संबंध में श्री संपूर्णानंद जी ने जो शुभ विचार प्रगट किए हैं वे उनकी उदारता के सूचक हैं। इसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ। मैं अपने-आपको हिंदी का विद्वान् नहीं मानता, किंतु हिंदी भाषा का प्रेमी और सेवक अवश्य हूँ और इसी नाते इस संस्था के हीरक जयंती समारोह में आपके साथ शरीक होने आया हूँ।

देवनागरी लिपि के प्रचार और हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि के लिये नागरीप्रचारिणी सभा ने गत साठ वर्षों में जो कुछ किया है वह किसी से छिपा नहीं; तो भी इसके इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालना अनुचित नहीं होगा।

१--काशी नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना १० मार्च, १८९३ को स्कूल में पढ़नेवाले कतिपय उत्साही छात्रों द्वारा हुई थी। इन छात्रों में सर्वश्री ठाकुर शिवकुमार सिंह, बाबू श्यामसुंदरदास और श्री रामनारायण मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं। यही त्रिमूर्ति सभा की स्थापना से लेकर लगभग ५० वर्ष तक निरंतर किसी न किसी रूप में सभा की सेवा में लीन रही और यह सौभाग्य की बात है कि ठाकुर शिवकुमार सिंह के सत्परामर्श आज भी हमें उपलब्ध हैं।

२--सभा के पहले मंत्री श्री श्यामसुंदरदास हुए। दो आना मासिक चंदे से कार्य प्रारंभ हुआ और स्थापना के प्रथम वर्ष में ही इन मेधावी छात्रों के उद्योग से प्रभावित होकर सर्वश्री राजा रामपाल सिंह, महामना मदनमोहन मालवीय, काँकरौली नरेश, बालकृष्ण लाल, अंबिकाप्रसाद व्यास, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', श्रीधर पाठक, डा० ग्रियर्सन आदि जैसे लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों ने इस सभा का सदस्य होना स्वीकार किया।

३--सभा ने अपने शैशव में ही नागरी लिपि और हिंदी भाषा को सरकारी अदालतों में स्थान दिलाने का आंदोलन खड़ा किया और महामना पं० मदनमोहन मालवीय के सक्रिय सहयोग से सन् १९०० में तत्कालीन उत्तर प्रदेश के सरकारी दफ्तरों और अदालतों में हिंदी भाषा और नागरी लिपि स्वीकृत हुई। इस कार्य के संपादन में जो प्रयत्न सभा के सदस्यों ने किया वह अध्यवसाय, लगन, उत्साह और राष्ट्रभाषा-प्रेम का अनुकरणीय आदर्श है।

४--हिंदी साहित्य को समृद्ध बनाने के लिये दूसरा कार्य सभा ने हिंदी पुस्तकों की खोज का किया। सन् १८९४ में ही सभा के कार्यकर्ताओं का इस ओर ध्यान गया और उन्होंने देश की अन्य संस्थाओं तथा व्यक्तियों से संबंध स्थापित करके कई सहस्र पुस्तकें एकत्र कीं। इनमें अनेक नवीन पुस्तकें भी थीं जो हस्तलिखित रूप में उपेक्षित पड़ी थीं। बाद में युक्त प्रांत की सरकार से आर्थिक सहायता भी खोज संबंधी कार्य के लिये सभा को मिली और सन् १९०० से एक समिति बा० श्यामसुंदरदास के मंत्रित्व में बना दी गई। इस समिति के तत्त्वावधान में आठ वर्ष तक खोज संबंधी रिपोर्ट प्रकाशित होती रही जिसमें हस्तलिखित पुस्तकों का विवरण रहता था।

५--हिंदी पुस्तकों के संग्रह के लिये आर्यभाषा पुस्तकालय की स्थापना सभा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। इस समय भारतवर्ष में हिंदी पुस्तकों का इतना

समृद्ध दूसरा पुस्तकालय नहीं है। लगभग चालीस हजार पुस्तकें इसमें उपस्थित हैं। खोज संबंधी कार्य के लिये प्रतिवर्ष सैकड़ों अनुसंधानकर्ता यहाँ आते हैं।

६—सभा के प्रकाशन चार कोटि के हैं। वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दकोष सभा का महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है। दूसरा प्रकाशन हिंदी शब्दसागर है जिसके निर्माण में सभा ने लगभग एक लाख रुपया व्यय किया। तीसरा हस्तलिखित तथा दुर्लभ पुस्तकों का प्रकाशन है जो साहित्य की अभिवृद्धि में अमित योग देता है। चौथा प्रकाशन मौलिक पुस्तकों का है जिसमें आचार्य रामचंद्र शुक्ल, भगवानदीन, श्यामसुंदरदास आदि विद्वानों की पुस्तकें निकली हैं। दो ग्रंथमालाएँ सभा के तत्त्वावधान में चल रही हैं। इतिहास और पुरातत्त्व संबंधी पुस्तकों का इन मालाओं में प्रकाशन हुआ है।

७—'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' सभा का मुखपत्र है जिसमें गंभीर विषयों पर अनुसंधान तथा विवेचनापूर्ण शैली के निबंध तथा लेख छपते हैं। यह पत्रिका आर्थिक घाटा सहती हुई भी विगत अट्ठावन वर्षों से साहित्य की अभिवृद्धि में योग दे रही है।

८—हिंदी भाषा और साहित्य का देशव्यापी प्रचार तथा नवयुवकों में हिंदी के प्रति अनुराग उत्पन्न करने का जो 'कार्य प्रारंभिक पचीस-तीस वर्षों में सभा द्वारा संपन्न हुआ वह इस देश की अन्य कोई संस्था नहीं कर सकी। इस सभा की सेवा करनेवाले व्यक्तियों में एक ओर जहाँ भारतेंदु-युग से प्रभावित राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी, बदरीनारायण चौधरी आदि थे वहाँ द्विवेदी-युग के प्रतिष्ठित लेखक सर्वश्री आचार्य रामचंद्र शुक्ल, मिश्रबंधु, भगवानदीन, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मदनमोहन मालवीय, गिरिधर शर्मा आदि विद्वानों ने सभा की पूर्ण मनोयोग से सेवा की।

सभा ने ऐसे समय कार्य आरंभ किया था जब हिंदी-प्रचार के लिये अनुकूल वातावरण नहीं था। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में हिंदी-प्रचार का अर्थ अधिकारियों से संघर्ष और विपरीत परिस्थितियों से जूझना था। उस समय प्रोत्साहन के पूर्ण अभाव में नागरी-प्रचारिणी सभा साहित्य-सेवा और प्रचार का कार्य तत्परता से करती रही और इसकी सेवाओं का इतिहास अत्यंत उज्ज्वल और प्रशंसनीय रहा है।

मैंने कई बार पहले भी कहा है, जहाँ अहिंदी-भाषाभाषियों का यह कर्तव्य है कि राष्ट्रीय कार्य के लिये वे हिंदी सीखें, वहाँ हिंदीभाषियों पर भी कम से कम एक क्षेत्रीय भाषा सीखने का दायित्व आता है। इससे केवल अदला-बदली की भावना से अभिप्राय नहीं। ऐसा करने से ही हिंदी तथा दूसरी भारतीय भाषाएँ एक दूसरे के निकट आ सकती हैं। इन भाषाओं और हिंदी के बीच प्रतिस्पर्धा न पहले थी और न अब है।

हिंदी के लिये यह अवश्य गौरव का विषय है कि उसे भारतीय संविधान ने अखिल-भारतीय भाषा का स्थान दिया है। इससे हिंदीभाषियों और हिंदी से संबंध रखनेवाली सभी संस्थाओं का दायित्व बहुत बढ़ गया है। संविधान में हिंदी को यह ऊँचा स्थान दिए जाने का विशेष कारण यह था कि इसके जानने और बोलनेवालों की संख्या भारत की दूसरी भाषाओं के जाननेवालों और बोलनेवालों से कहीं अधिक है। उन भाषाओं का भी अपना गौरवपूर्ण साहित्य है और उनके बोलनेवाले अपनी भाषाओं के साथ प्रेम रखते हैं और उनपर गौरव करते हैं। इसलिये सभी ने हिंदी को जब यह स्थान दिया है तो यह समझकर नहीं कि उनकी अपनी भाषा किसी बात में कम है पर यह समझकर कि राष्ट्रीय काम के लिये हिंदी का ही प्रचार और प्रसार सुगम और सुलभ होगा। हिंदी को अखिल-भारतीय कामों के लिये प्रधानता देते हुए प्रांतीय भाषाओं को वहाँ के कामों के लिये प्रधानता दी गई है। इसलिये यह अनिवार्य है कि जहाँ हिंदी का प्रचार हो, साथ ही साथ प्रांतीय कामों के लिये वहाँ की स्थानीय भाषाओं को भी प्रोत्साहन दिया जाय और वे अपने सीमित क्षेत्र में अपना काम सुचारु रूप से करें। यह कहना भी शायद अनुचित न होगा कि हिंदी का हिंदीभाषी प्रांतों में तो वही स्थान होगा जो किसी भी प्रांतीय भाषा का अपने प्रांत में, पर अन्य-भाषाभाषी प्रांतों में सीमित काम और अखिल-भारतीय क्षेत्र में प्रायः सभी काम हिंदी द्वारा ही किए जायँगे।

हिंदीभाषियों का यह प्रयत्न होना चाहिए कि जिस सद्भावना से अहिंदी-भाषियों ने हिंदी को राष्ट्रीय कामों के लिये स्थान दिया है उसी सद्भावना के साथ वे हिंदी के प्रचार में तत्पर हों। हिंदी की किसी भी प्रांतीय भाषा से होड़ नहीं है। सच पूछिए तो हिंदीभाषियों को अन्य प्रादेशिक भाषाओं के पोषक और समर्थक होना चाहिए जिस तरह से अहिंदीभाषी हिंदी के पोषक और समर्थक होना चाहते

हैं। यदि कहीं भूल से भी हम हिंदीभाषियों के बर्ताव और भाषण से यह आभासित हुआ कि हिंदी अन्य सभी भाषाओं से अधिक समृद्ध, अधिक परिपुष्ट साहित्यवाली या प्राचीन तथा नवीन विचारों और भावों को व्यक्त करने में अधिक शक्तिशाली भाषा है और इसलिये इसको अधिकार है कि अखिल-भारतीय राष्ट्रीय कामों के लिये यह राष्ट्रीय भाषा मानी जाय, तो इसका फल यह होगा कि अन्य-भाषाभाषी हिंदी के प्रति ईर्ष्या करने लगेंगे और जो संविधान चाहता है वह काम पूरा नहीं हो सकेगा और हिंदी उस स्थान को प्राप्त नहीं कर सकेगी जो संविधान ने उसे देने का निश्चय किया है। दूसरे शब्दों में, हमें हिंदी का प्रचार नम्रतापूर्वक करना चाहिए।

मुझे यह कहते हुए बड़ा हर्ष होता है कि इस दिशा में नागरीप्रचारिणी सभा का दृष्टिकोण सदा से व्यापक और उदार रहा है। सभा के पदाधिकारियों तथा कार्यकर्ताओं ने सदा ही अन्य भारतीय भाषाओं का समुचित आदर किया है। यह सभा की परंपराओं के अनुकूल ही है कि हीरक जयंती के उपलक्ष्य में जो प्रकाशन की योजना बनाई गई है, उसमें अन्य भारतीय भाषाओं की साहित्यिक प्रगति के सिंहावलोकन को भी स्थान दिया गया है।

हिंदी चिरकाल से ऐसी भाषा रही है जिसने शब्दों का उनके भिन्न देश अथवा भाषा में उद्‌गम होने के कारण बहिष्कार नहीं किया और सच पूछिए तो सभी जीती-जागती भाषाओं का यह एक गुण है कि वे अपने शब्द-भंडार को बढ़ाने में नहीं हिचकतीं चाहे शब्द किसी भी उद्‌गम के हों। अन्य भाषाओं का उनपर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता क्योंकि सभी जीती-जागती भाषाओं में आदान-प्रदान होता ही रहता है। इसलिये जब हिंदी को हम भारत के लिये एक सार्वभौम भाषा बनाना चाहते हैं तो प्रांतीय भाषाओं के शब्दों और मुहावरों के लिये दरवाजा खुला रखना चाहिए। मैंने कई ऐसे लोगों के लेख देखे हैं जो हिंदीभाषी नहीं हैं और जिन्होंने हिंदी का अभ्यास राष्ट्रीय कामों के लिये ही किया है और उनके लेखों में कुछ ऐसे शब्द और मुहावरे देखने में आए हैं जो अर्थ स्पष्ट कर देते हैं पर जो आधुनिक हिंदी में प्रचलित नहीं हैं। ऐसे शब्दों और मुहावरों को अन्य-भाषाभाषी अकसर व्यवहार में लाया करेंगे और हम हिंदीभाषियों को उनका स्वागत करना चाहिए न कि बहिष्कार। हिंदी सच्चे अर्थ में राष्ट्रीय भाषा तभी होगी जब भारत के सभी निवासी उस भाषा के साथ प्रेम करने लगेंगे और उसकी उन्नति में अपना गौरव मानने लगेंगे। यह भावना तभी उत्पन्न और परिपुष्ट हो सकती है जब वे यह

समझने लगेंगे कि हिंदी में उनकी भी कुछ अपनी देन है और हिंदी पर उनका भी कुछ अधिकार है। मैं समझता हूँ कि इस भावना का भी हमको स्वागत करना चाहिए और इससे नहीं डरना चाहिए कि हिंदी का रूप विकृत हो जायगा। मैं तो यह भी मानता हूँ कि कहीं-कहीं हमारे व्याकरण पर भी अहिंदीभाषियों का प्रभाव पड़ेगा और हमको उससे भी नहीं डरना चाहिए। इसलिये मैं चाहता हूँ कि हिंदीभाषी और हिंदी संस्थाएँ निस्पृह भाव से हिंदी की श्रीवृद्धि में लग जायँ जिससे अन्य-भाषाभाषी भी उसके विभिन्न प्रकार के साहित्य से परिचय पाने के लिये उसे सीखना आवश्यक समझें, जिस तरह आज कोई भी विद्वान् आधुनिक विज्ञान से परिचय प्राप्त करने के लिये यूरोपीय भाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक समझता है। यदि केवल काव्य अथवा ललित कला संबंधी ग्रंथ ही यूरोपीय भाषाओं में होते तो हमको उन भाषाओं को सीखने की शायद आवश्यकता न भी होती, पर विज्ञान से परिचय के लिये उन भाषाओं का जानना अनिवार्य हो गया है। उसी तरह हिंदी इतनी समृद्ध होनी चाहिए कि आधुनिक विद्याओं को प्राप्त करने के लिये उसका जानना केवल पर्याप्त ही नहीं आवश्यक भी हो जाय तथा इस भाषा में मौलिक ग्रंथ भी लिखे जायँ जिनको पढ़ने के लिये हिंदी सीखनी अहिंदीभाषियों के लिये आवश्यक हो जाय। जितनी बड़ी संख्या हिंदी जानने और बोलनेवालों की है उतनी बड़ी संख्या संसार की दो ही तीन भाषाओं के बोलनेवालों की है। इसलिये यदि इतने लोगों में यह भावना उत्पन्न हो जाय कि वे हिंदी को वही स्थान संसार की भाषाओं में उपलब्ध कराना चाहते हैं जो किसी भी भाषा को प्राप्त है और उस उद्देश्य से हिंदीभाषी विभिन्न प्रकार की विद्याओं की प्राप्ति के लिये लग जायँ और हिंदी में विभिन्न विषयों पर मौलिक ग्रंथ लिखने लग जायँ तो केवल भारतवर्ष के ही अहिंदीभाषी नहीं, समस्त संसार के अहिंदीभाषी हिंदी सीखना आवश्यक समझेंगे। पर यदि हिंदी में इस तरह के साहित्य का निर्माण नहीं हुआ तो विदेशों की कौन कहे, इस देश में भी सब लोगों की दृष्टि में हिंदी को वह ऊँचा स्थान नहीं मिल सकेगा, चाहे संविधान के कारण सार्वदेशिक कामों में उसका उपयोग होने भी लग जाय। इसलिये मैं चाहता हूँ कि इस ऊँचे आदर्श को सामने रखकर हिंदीभाषी हिंदी का भंडार भरपूर करने में लग जायँ और जितनी तेजी के साथ और जितनी उच्च कोटि की पुस्तकें हिंदी में लिखी जायँगी उतनी ही उसकी प्रतिष्ठा और सर्वमान्यता बढ़ती जायगी।

हिंदी साहित्य के बहुतेरे ग्रंथ लुप्त होते जा रहे हैं। प्रचलित ग्रंथों के भी अधिकारयुक्त शुद्ध संस्करण हमेशा नहीं मिलते। आपने ऐसे ग्रंथों के शुद्ध संस्करण के प्रकाशन में बहुत काम किया है पर अभी भी बहुत काम बाकी है। मैं चाहूँगा कि इसके अलावा आधुनिक ढंग की पुस्तकें या ऐसी पुस्तकें भी लिखी जायँ जो अपने-अपने विषय में प्रामाणिक समझी जा सकें। विभिन्न विषयों के ज्ञाता और लेखक जो यहाँ मौजूद हैं उनसे मेरी प्रार्थना है कि अपने मौलिक विचारों को वे यथासाध्य हिंदी में ही प्रकाशित किया करें और यदि प्रचारार्थ वे यह आवश्यक समझें कि उनका अन्य भाषाओं में भी प्रकाशित होना आवश्यक है तो वे उनका अनुवाद भी प्रकाशित करें। जो मौलिक ग्रंथ अन्य भाषाओं में किसी भी विषय पर निकलते हैं उनमें से भी चुनकर अच्छे से अच्छे मौलिक ग्रंथों का अनुवाद प्रकाशित होना चाहिए। अंग्रेजी साहित्य का भंडार बहुत भरपूर है तो भी शायद ही कोई मौलिक ग्रंथ किसी भी यूरोपीय भाषा में ऐसा निकलता हो जिसका अनुवाद चंद महीनों के अंदर ही अंग्रेजी में प्रकाशित न होता हो। इस तरह अंग्रेजीभाषियों के लिये किसी दूसरी भाषा को जानना अनिवार्य नहीं है। पर वे अपने ज्ञान को और विस्तृत करने के लिये अन्य भाषाओं को भी सीखते हैं। उसी तरह हिंदी का स्थान भी ऐसा होना चाहिए कि केवल हिंदी जानकर ही हम संसार के विचारों से और गतिविधि से पूरी तरह परिचित हो सकें और इस परिचय-प्राप्ति के लिये सभी अन्य भाषाओं के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हिंदी में सुलभ हो जाने चाहिएँ। जिस तरह से नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी की सेवा आज तक की है उससे ऐसी आशा करना कि वह इस प्रकार के साहित्य के सृजन में महत्त्वपूर्ण काम करेगी, स्वाभाविक है, और मैं चाहूँगा कि विद्वान् तत्परता के साथ इस काम में लग जायँ। संविधान ने जो भार केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों पर हिंदी के संबंध में डाला है, सरकार उसे निभाएगी। विद्वानों का काम इस झगड़े में पड़ना नहीं है। जो लोग राजनीतिक क्षेत्र में काम कर रहे हैं वे जब जैसी आवश्यकता होगी सरकार के साथ मिलजुल कर अथवा दबाव डालकर हिंदी के लिये जो कुछ भी आवश्यक होगा करते और कराते रहेंगे। पर उनका काम तब तक अपूर्ण और अधूरा रहेगा जब तक कि हिंदी का भंडार अपूर्ण और अधूरा रहता है। इसलिये एक प्रकार से हिंदी के प्रेमियों को अपने कामों का बँटवारा कर लेना चाहिए। साहित्यिक लोगों के कामों में राजनीतिक लोगों का दखल देना बेकार ही

नहीं, हानिकर भी हो सकता है, पर उनकी सहायता और सहानुभूति तो आवश्यक है ही।

आपने कई प्रकार के काम अपने हाथ में लेने का निश्चय किया है। मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि उसमें आप सफल हों। दो विषयों के संबंध में मैं आपको सूचना देना चाहता हूँ। आपने शब्दसागर का नया संस्करण निकालने का निश्चय किया है। जबसे पहला संस्करण छपा, हिंदी में बहुत बातों में और हिंदी के अलावा संसार में बहुत बातों में बड़ी प्रगति हुई है। हिंदी भाषा भी इस प्रगति से अपने को वंचित नहीं रख सकती। इसलिये शब्दसागर का रूप भी ऐसा होना चाहिए जो यह प्रगति प्रतिबिंबित कर सके और वैज्ञानिक युग के विद्यार्थी के लिये भी साधारणतः पर्याप्त हो। आपका यह भी निश्चय है कि प्राचीन ग्रंथों के संशोधित संस्करण प्रकाशित किए जायँ। मैं आपके निश्चयों का, विशेषकर इन दो का, स्वागत करता हूँ। भारत सरकार की ओर से शब्दसागर का नया संस्करण तैयार करने के सहायतार्थ एक लाख रुपए की सहायता जो पाँच वर्षों में बीस बीस हजार करके दी जायगी, देने का निश्चय हुआ है। इसी तरह से मौलिक प्राचीन ग्रंथों के प्रकाशन के लिये पचीस हजार रुपए की, पाँच वर्षों में पाँच पाँच हजार करके, सहायता दी जायगी। मैं आशा करता हूँ कि इस सहायता से आपका काम कुछ सुगम हो जायगा और आप इस काम में अग्रसर होंगे।

संप्रति सभा के सामने प्रमुख कार्य ये हैं—

क—प्रामाणिक पारिभाषिक शब्दकोष।

ख—विश्वविद्यालयों के उपयुक्त उच्च कोटि के साहित्य का सृजन।

ग—खोज द्वारा प्राचीन पुस्तकों को प्राप्त करके प्रकाशित करना।

घ—प्रांतीय भाषाओं के गंभीर साहित्य को हिंदी में अनुवाद करके प्रकाशित करना।

ङ—एक अनुसंधान-विभाग स्थापित करके साहित्य, राजनीति, इतिहास आदि के ग्रंथों का पुनरुद्धार और विभिन्न स्थानों पर जो शोध-कार्य हो रहा है उसका केंद्रीकरण और समन्वय।

९—लिपि-सुधार के लिये जो समिति बनी है उसके सुझावों को दृष्टि में रखकर नागरी लिपि को सुव्यवस्थित करने का कार्य नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा करना।

मुद्रण तथा टाइपिंग की आवश्यकताओं को देखते हुए नागरी लिपि में सुधार की ओर जनता और सरकार दोनों का ध्यान गया है। मुझे खेद है कि इस महत्त्वपूर्ण कार्य के संपन्न होने में बिलंब हो रहा है। मैं आशा करता हूँ कि केंद्रीय तथा उत्तरप्रदेशीय सरकारों के प्रयत्नों के फलस्वरूप हिंदी लिपि में जो कमियाँ हैं उनको यथाशीघ्र दूर कर दिया जायगा। इस प्रश्न पर विस्तृत रूप से विचार करने का और विभिन्न क्षेत्रों में रहनेवाले लोगों से विचार-विमर्श कर लेने का यह फल अवश्य होगा कि संशोधित लिपि सर्वसंमति से निश्चित हो सकेगी और वह सभी के लिये मान्य होगी। मेरा विचार है कि अन्य भारतीय भाषाओं के बोलनेवाले भी इन सुधारों से लाभ उठा सकेंगे।

हीरक जयंती के शुभ अवसर पर मैं नागरीप्रचारिणी सभा को हृदय से बधाई देता हूँ। किसी भी सार्वजनिक संस्था के लिये साठ वर्ष का व्यस्त तथा सचेष्ट जीवन गौरवपूर्ण समझना चाहिए। आपकी संस्था ने इस साठ वर्ष की अवधि में बहुत उथल-पुथल देखी है। यद्यपि आपकी संस्था पूर्ण रूप से साहित्यिक है, फिर भी इसकी कार्यप्रणाली पर देश की राजनीति का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। प्रतिकूल परिस्थितियों के होते हुए भी यदि आप भाषा-प्रचार और अनुसंधान का कार्य सुचारु रूप से कर सके, इसका प्रमुख कारण सभा के कार्यकर्ताओं का भाषा-प्रेम और साहित्य के प्रति अनुराग ही कहा जा सकता है। यह सभी स्वीकार करते हैं कि हिंदी भाषा के विकास तथा निर्माण में आपकी सभा ने गौरवपूर्ण भाग लिया है। मुझे पूरी आशा है कि अब परिस्थितियों के अनुकूल हो जाने पर, जब कि हिंदी-प्रचार का कार्य राष्ट्रीय महत्त्व का कार्य बन गया है, नागरीप्रचारिणी सभा और भी उत्साह के साथ कार्य कर सकेगी। हिंदी राष्ट्रभाषा घोषित हो चुकी है, परंतु उसे अभी जनता द्वारा पालन-पोषण और साहित्यिकों द्वारा सेवा की अपेक्षा है। मैं आशा करता हूँ कि नागरीप्रचारिणी सभा तथा अन्य साहित्यिक संस्थाओं की चेष्टा से हिंदी भाषा और साहित्य का भंडार शीघ्र ही बहुत विपुल तथा व्यापक हो सकेगा, जैसा कि इस महान् तथा प्राचीन देश की राष्ट्रभाषा का होना चाहिए।

आपने जो मेरा सम्मान किया है, उसके लिये एक बार फिर मैं आप लोगों के प्रति आभार प्रकट करना चाहता हूँ। मेरी शुभकामनाएँ तथा सद्भावनाएँ आप लोगों के साथ हैं और मुझे विश्वास है कि भाषा-प्रचार और साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में आपके सत्प्रयास सफल होंगे।

समीक्षा

तीर्थंकर वर्धमान—लेखक श्री श्रीचंद्र रामपुरिया, बी० काम०, बी० एल० । प्रकाशक हमीरमल पूनमचंद्र रामपुरिया, सुजानगढ़ । पृ० सं० ५००; मूल्य ५) ।

प्रस्तुत ग्रंथ में निर्ग्रंथ नाथपुत्र श्रमण भगवान् महावीर का जीवनचरित और उनके प्रवचनों का संग्रह है। यह संग्रह श्वेतांबर-परंपरा के मान्य आगमों के आधार पर किया गया है। 'महावीर पहिले ८२ दिन तक देवानंदा ब्राह्मणी के गर्भ में रहे, पीछे तिरासीवें दिन देवों ने गर्भ-परिवर्तन कर उन्हें त्रिशला क्षत्रियाणी के गर्भ में रखा', यह गर्भापहरण का प्रसंग जन्मना जाति न माननेवाली श्रमण-परंपरा के अनुकूल तो है ही नहीं, वैज्ञानिक भी नहीं जँचता। परंपरा में इस घटना का रंच-मात्र भी आभास नहीं है। उनका विवाह तथा उनके पुत्री होने की वार्ता से भी दिगंबर-परंपरा सहमत नहीं है। हरिवंशपुराण से ऐसा आभास अवश्य मिलता है कि यशोदा से उनके विवाह की बात चली थी, पर कुमार वर्धमान कुमार-प्रव्रजित ही हुए थे। आवश्यकनिर्युक्ति से भी उनके कुमार-प्रव्रजित होने का ही समर्थन होता है। भगवान् महावीर का प्रस्तुत जीवनचरित लिखने में आधारभूत ग्रंथ और परंपरा श्वेतांबर संप्रदाय की है. यह उल्लेख स्वयं लेखक ने अपने प्राक्कथन में किया है। और इस आधार पर लेखक प्रस्तुत जीवन लिखने में सफल हुआ है। इसके पहिले मुनि श्री कल्याणविजय जी का 'श्रमण भगवान् महावीर' ग्रंथ संपूर्ण प्राचीन सामग्री से समृद्ध होकर निकल चुका है। उसके बाद इस ग्रंथ में यद्यपि कोई नई बात नहीं मिलती फिर भी अपने ढंग से, अपनी भाषा और योजना से, अपनी दृष्टि का प्रतिपादन करने में कुशल लेखक ने एक नयापन ला ही दिया है। आगमिक प्रवचनों का संग्रह यद्यपि श्री पं० बेचरदास जी द्वारा संपादित 'महावीर-वाणी' में हुआ था पर उनका शिक्षापद, निर्ग्रंथपद, दर्शनपद और क्रांतिपद के रूप में विभाजन रामपुरिया जी का अपना है। भगवान् महावीर की जन्मभूमि के संबंध में जो विचार प्रस्तुत किए गए हैं वे इसलिये विचारणीय हैं कि दिगंबर श्वेतांबर दोनों परंपराओं में महावीर का विदेह कुंडपुर में उत्पन्न होना स्वीकृत है। विदेह देश की राजधानी पहिले मथुरा में थी, पीछे वैशाली में आई। वैशाली भगवान् महावीर का मातृपक्ष था यह निर्विवाद है। वे विदेह जनपद के थे इसमें भी कोई

विवाद नहीं है। मगध के राजतंत्र का विदेह-वैशाली के गणतंत्र से विरोध था, यह भी इतिहाससिद्ध है। मगध और विदेह के बीच में गंगा थी, यह भौगोलिक स्थिति है। वर्तमान में जो बसाढ़ (मुजफ्फरपुर) में वैशालीगढ़ के अवशेष पाए जाते हैं तथा जो मुद्राएँ आदि उपलब्ध हुई हैं उनसे उसके वैशाली होने में कोई संदेह नहीं है। इस बसाढ़ के पास ही वासुकुंड ग्राम अवस्थित है जो बृहत् वैशाली का एक उपनगर या स्वतंत्र नगर भी हो सकता है। इसी के कुंडपुर या क्षत्रियकुंड होने की संभावना साधार भी है और प्राचीन उल्लेखों के अनुकूल भी। राजगृह के पास प्रचलित कुंडलपुर मगध देश के अंतर्गत है अतः वह स्थान तो वैदेहिक वैशालिक महावीर का जन्मस्थान नहीं हो सकता। अस्तु।

सांप्रदायिक और ऐतिहासिक गुत्थियों में मतभेद रखते हुए भी प्रस्तुत ग्रंथ महावीर की जीवन-झाँकी और उनके सांस्कृतिक प्रवचनों का रस देने के लिये उपयोगी है ही। श्री यशपाल जी ने अपनी भूमिका में भगवान् महावीर के आदर्शों का सुंदर खींचा है। ग्रंथ संग्रहणीय है।

तत्त्वसमुच्चय—संपादक डा० हीरालाल जैन। प्रकाशक भारत जैन महामंडल, वर्धा। पृ० २०४; मूल्य ३)।

किसी भी संस्कृति का पूर्ण दर्शन उसके आचार और विचार की परंपराओं में ही हो सकता है। जैन संस्कृति की आचारधारा तथा विचारसरणि में अहिंसा की ही प्राणप्रतिष्ठा है, यह सत्य इस ग्रंथ में संकलित प्राचीन गाथाओं से अच्छी तरह ज्ञात हो सकता है। डा० हीरालाल जी जैन-संस्कृति के अधिकारी विद्वान् ही नहीं हैं, उन्होंने अनेक प्राचीन प्राकृत-संस्कृत और अपभ्रंश के ग्रंथों का आधुनिक पद्धति से शुद्ध संपादन भी किया है। प्रस्तुत ग्रंथ में उन्होंने लोकस्वरूप, गृहस्थधर्म, मुनिधर्म, धर्मांग, कर्मसिद्धांत, स्याद्वाद, नय, निक्षेप आदि सभी सांस्कृतिक विषयों का प्रतिपादन करनेवाली गाथाओं का संकलन करके उनका हिंदी अनुवाद भी दिया है। प्राक्कथन में जैन धर्म, साहित्य और सिद्धांत का विवेचन भी तटस्थ भाव से किया गया है।

पुस्तक कालेजों और विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में रखने योग्य तथा पुस्तकालयों के लिये संग्रहणीय है। छपाई-सफाई अच्छी है। इस सुंदर और समयोपयोगी ग्रंथ को प्रस्तुत करने के लिये लेखक और प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं।

—महेंद्रकुमार जैन

भारतीय शिक्षा—लेखक डा० राजेंद्रप्रसाद; प्रकाशक आत्माराम एंड संस, दिल्ली; १९५३ ई०। ड० डि० सोलहपेजी पृष्ठ संख्या ११६; कागज-छपाई आदि सुंदर। मूल्य ३)

प्रस्तुत पुस्तक में चार खंड हैं—नवीन शिक्षा-पद्धति, प्राचीन शिक्षा-पद्धति, वैज्ञानिक शिक्षा-पद्धति और प्रकीर्ण। इनमें भारत के वर्तमान राष्ट्रपति डा० राजेंद्र-प्रसाद के विभिन्न अवसरों पर दिए गए भारतीय शिक्षा संबंधी अठारह भाषणों तथा एक लेख का संग्रह है। इनसे राजेंद्र बाबू के शिक्षा संबधी विचारों की व्यापकता और उच्चता भली भाँति विदित होती है।

राजेंद्र बाबू भारतीय जनता की जीवन-समस्याओं को गांधी जी की ही भाँति भारतीय जनता से एकाकार होकर देखते हैं। अतः उनके भारतीय शिक्षा संबंधी विचार भी गांधी जी के ही समान हैं। परंतु उन्होंने स्वतंत्र रूप से अनुभव और मनन कर वर्तमान समस्याओं के अनुरूप मौलिक ढंग से इस विषय पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। आधुनिक शिक्षा-पद्धति को वे सदोष मानते हैं। इसके फलस्वरूप भारतीय शिक्षितवर्ग में बेकारी तो बढ़ती ही जाती है, साथ ही शिक्षितों में अपने देश, समाज, भाषा, साहित्य एवं संस्कृति का अभिमान नहीं रह जाता। परिश्रम तथा ग्राम्य जीवन को वे तुच्छ समझते हैं। शिक्षण और परीक्षण की प्रणाली ऐसी है कि शिक्षक और छात्र का गुरु-शिष्य का-सा संबंध नहीं रह जाता, जिसके फलस्वरूप ही छात्रों में अनुशासनहीनता बढ़ रही है। विदेशी भाषा के माध्यम के कारण धन, श्रम और समय का घोर अपव्यय होता है। वर्तमान शिक्षा-पद्धति के स्थान पर राजेंद्र बाबू ऐसी शिक्षा-पद्धति चाहते हैं जिसमें ये दोष न हों, जो एक ऐसे भारतीय समाज के निर्माण में सहायक हो जो सत्य, अहिंसा और सहयोग-भावना के आधार पर प्रतिष्ठित हो और जिसमें कोई एक दूसरे का शोषण न करे, प्रत्येक अपनी जीविका अर्जन करने में समर्थ हो तथा प्रत्येक को मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति की समान सुविधा हो। इस दृष्टि से शिक्षा में किस प्रकार के परिवर्तन अभीष्ट हैं, इस ओर राजेंद्र बाबू ने शिक्षाशास्त्रियों और शिक्षकों का ध्यान आकृष्ट किया है।

शिक्षा-पद्धति में किसी भी प्रकार के परिवर्तन का तत्काल और प्रत्यक्ष प्रभाव देश के शिक्षाशास्त्रियों, शिक्षकों, छात्रों और जनता पर पड़ता है, अतः अभीष्ट परि-वर्तन के मार्ग की कठिनाइयाँ असाधारण हैं। यही कारण है कि गांधी जी, विनोबा

भावे, राजेंद्र बाबू, वल्लभ भाई जैसे महान् नेताओं के दृढ़ विचारों के बावजूद अभी तक आधुनिक शिक्षापद्धति पर उनका तत्त्वतः कोई प्रभाव नहीं पड़ सका है। बुनियादी तालीम के सफल प्रयोग वर्धा और बिहार में अवश्य हुए हैं, पर वे आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं। शिक्षा में उस प्रकार का परिवर्तन तब तक संभव नहीं जब तक शिक्षाशास्त्रियों और शिक्षाधिकारियों की मनोवृत्ति में वैसा परिवर्तन न हो जाय। इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक का शिक्षित-समाज में अधिक से अधिक प्रचार अभीष्ट है। यह प्रत्येक समझदार पाठक को शिक्षा संबंधी समस्याओं पर विचार करने के लिये विवश करेगी।

—सारस्वत

समीक्षार्थ प्राप्त

अद्भुत बालक (पद्य)—ले० श्री जगतनारायण लाल, प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर, थियासाफिकल सोसायटी, बनारस १; सन् १९५३; मू० १॥)

अष्टछाप—संपादक एवं प्रकाशक श्री कंठमणि शास्त्री, संचालक, विद्याविभाग, कांकरोली; द्वि० सं०, सं० २००९; मू० ३)

आँखों में (कविता)—ले० श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी', प्र० आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली; सन् १९५२, मू० २।)

आदर्श पत्रलेखन—ले० श्री यज्ञदत्त शर्मा एम० ए०; प्र० आत्माराम ऐंड संस दिल्ली; मू० ७॥)

आधुनिक कवि पंत (आलोचना)—ले० श्री कृष्णकुमार सिन्हा एम० ए०; प्र० नावेल्टी एंड कंपनी, चौहट्टा, पटना ४; मू० ४)

आपका मुन्ना द्वितीय एवं तृतीय भाग—ले० श्री सावित्री देवी वर्मा; प्र० आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली ६; सन् १९५३; मू० प्रत्येक भाग का ५)

आर्य संस्कृति के मूल तत्त्व—ले० श्री सत्यव्रत सिद्धांतालंकार; प्र० विजयकृष्ण लखनपाल, विद्याविहार, देहरादून; सन् १९५३; मू० ४)

आलोचना, इतिहास तथा सिद्धांत—ले० डा० एस० पी० खत्री; प्र० राजकमल प्रकाशन, बंबई; मू० ११)

इंसान की कहानी—ले० श्री मुल्कराज आनंद; प्र० राजकमल प्रकाशन, बंबई; मू० २॥)

उरुज्योति—ले० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल; प्र० रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर; सं० २०१०; मू० ३)

उर्दू और उसका साहित्य—ले० श्री गोपीनाथ 'अमन'; प्र० राजकमल प्रकाशन, बंबई; मू० २)

एंशंट जैन हीम्स (अंग्रेजी)—संपा० शार्लट क्राउसे; प्र० सिंधिया ओरियंटल इंस्टीट्यूट, उज्जैन; सन् १९५२; मू० ५)

कविवर बिहारी—ले० स्व० श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'; संपा० एवं प्र० श्री रामकृष्ण एम० ए०, शिवाला, बनारस; सन् १९५३; मू० ६)

काव्यमय संगीत विज्ञान—ले० सर्वश्री भद्रसेन कुमार, सोहनलाल गुप्त; प्र० शांति पुस्तक भंडार, कनखल; सन् १९५३; मू० १)

गद्यपथ—ले० श्री सुमित्रानंदन पंत; प्र० साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद; सन् १९५३; मू० ३)

गाँवों की कहानियाँ—ले० श्री रामनिरंजन पांडे; प्र० हिंदी प्रचार सभा, हैदराबाद; सन् १९५४; मू० ॥)

गुरुदक्षिणा (कहानियाँ)—ले० श्री संतराम वत्स्य; प्र० आत्माराम एंड संस, दिल्ली; सन् १९५३; मू० ॥।)

चाबुक (कहानियाँ)—ले० श्री विनायकराव कोरटकर, विद्यालंकार; प्र० हिंदी प्रचार सभा, हैदराबाद; मू० १॥।)

चार के चार (कहानियाँ)—ले० श्री कमल जोशी; प्र० शुभ्रा प्रकाशन, २६ कंट्राक्टर्स एरिया, जमशेदपुर; सन् १९५३; मू० २॥)

चिनगारियाँ—ले० श्री ताराचंद एल० कोठारी, प्र० भारत जैन महामंडल, वर्धा; सन् १९५३; मू० ।=)

जलते तारे (कविता)—ले० श्री रघुवीरशरण 'मित्र'; प्र० भारतीय साहित्य प्रकाशन, २३२ सदर, मेरठ; सं० २०१०; मू० २॥)

तीर्थंकर वर्धमान—ले० श्रीचंद रामपुरिया, बी० काम, बी० एल०; प्र० हमीरमल पूनमचंद रामपुरिया, सुजानगढ़ (बीकानेर); वीर निर्वाण सं० २४८०; मू० ५)

थियासोफी के मूल सिद्धांत, भाग १—ले० श्री जिनराजदास, अनु० श्री रामचंद्र शुक्ल; प्र० आनंद प्रकाशन लि०, बनारस १; सन् १९५४; मू० १॥।)

दक्षिण के महापुरुष—ले० श्री राजकिशोर पांडे; प्र० हिंदी प्रचार सभा, हैदराबाद; मू० ॥)

द्रौपदी विनय—ले० श्री रामनाथ कविया; प्र० बंगाल हिंदी मंडल, ८ रायल एक्सचेंज, कलकत्ता; सं० २०१०; मू० ॥।)

धरती के गीत—ले० श्री जयशंकर त्रिपाठी; कुमुद मुद्रणालय, प्रयाग, सं० २००९; मू० १)

नई मानसिक चिकित्सा—ले० श्री लालजीराम शुक्ल, एम० ए०; प्र० काशी मनोविज्ञान शाला, बनारस; मू० १।)

निबंध संग्रह—ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० श्रीकृष्णलाल; प्र० साहित्यभवन लि०, प्रयाग; सन् १९५३; मू० ५)

नीलम की अंगूठी—ले० श्री विभूतिभूषण मुखोपाध्याय, अनु० एवं प्र० श्री रामकृष्ण, शिवाला, बनारस; सन् १९५३; मू० ४)

परेड ग्राउंड (उपन्यास)—ले० श्री हंसराज 'रहबर'; प्र० आत्माराम एंड संस, दिल्ल; मू० १॥)

पर्दे के पीछे (आठ एकांकी)—ले० श्री उदयशंकर भट्ट; प्र० मसिजीवी प्रकाशन, नई दिल्ली; मू० २॥)

प्रभु यीशुमसीह—ले० श्री जगतनारायण लाल; प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर, बनारस; सन् १९५२; मू० ।=)

प्राचीन भारतीय परंपरा—ले० श्री रांगेय राघव; प्र० आत्माराम एंड संस, दिल्ली ६; सन् २९५३ मू० १२)

बदलती राहें—ले० श्री यज्ञदत्त शर्मा; प्रा० साहित्य प्रकाशन आत्माराम एंड संस, दिल्ली ६; मू० ३)

बापू की कहानियाँ—संग्राहक श्री व्योहार राजेंद्रसिंह; प्र० मानस मंदिर, साहित्य प्रेस, जबलपुर; सन् १९५३; मू० ॥)

बालकों की कहानियाँ—ले० श्री श्रीराम शर्मा; प्र० हिंदी प्रचार सभा, हैदराबाद; मू० ॥)

बालपद—ले० श्री वंशीधर विद्यालंकार; प्र० हिंदीप्रचार सभा, हैदराबाद; मू० ॥)

भगवान महावीर और उनका मुक्तिमार्ग—ले० श्री रिषभदास राँका; प्र० भारत जैन महामंडल, वर्धा; सन् १९५३; मू० ।=)

भारतीय संस्कृति—ले० श्री जगतनारायण लाल; प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर, बनारस १; मू० ॥)

भावी भारत की एक तस्वीर—ले० श्री किशोरलाल मशरूवाला; प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर; सन् १९५३; मू० १)

भिक्षुणी (काव्य)—ले० श्री महेंद्रसिंह 'प्रेमघन'; प्र० कविकुटीर, बिलथरा रोड, बलिया; मू० १॥)

भूगोल के भौतिक आधार—ले० श्री रामस्वरूप वशिष्ठ; प्र० आत्माराम एंड संस दिल्ली ६; सन् १९५३; मू० ६)

भूदान यज्ञ—ले० श्री विनोबा भावे; प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, सन् १९५३; मू० १)

मधु—ले० श्री यज्ञदत्त शर्मा; प्र० आत्माराम एंड संस, दिल्ली ६; मू० ३)

मध्यकालीन हिंदी कवयित्रियाँ—डा० सावित्री सिन्हा; प्र० आत्माराम एंड संस, दिल्ली ६; सन् १९५३; मू० ८)

मनोविज्ञान और जीवन—ले० श्री लालजी राम शुक्ल एम० ए०; प्र० साहित्य सेवक कार्यालय, बनारस; सन् १९५१; मू० ५)

महर्षि वेदव्यास जी—ले० श्री जगतनारायणलाल; प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर, बनारस; सन् १९५१; मू० ।=)

महाकवि भूषण—ले० श्री भगीरथप्रसाद दीक्षित; प्र० साहित्य भवन लि०, प्रयाग; सन् १९५३; मू० २॥)

महावीर वाणी—ले० श्री अ० बेचरदास दोशी; प्र० भारत जैन महामंडल, वर्धा; सन् १९५३; मू० २)

मानस की रामकथा—ले० श्री परशुराम चतुर्वेदी; प्र० किताब महल, इलाहाबाद ३; सन् १९५३; मू० ३॥)

मैं भारतीय हूँ—ले० श्री जगतनारायण लाल; प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर बनारस १; सन् १९५१; मू० ॥)

रंजना (कविता)—ले० श्री अनुरागी; प्रकाशक अभिराम प्रकाशन, नौघरा, कानपुर; मू० ॥।)

रजवाड़ा—ले० श्री देवेशदास, आई० सी० एस०; प्र० आत्माराम एंड संस, दिल्ली ६; सन् १९५३; मू० ५)

राजनैतिक कृष्ण—ले० तथा प्र० विश्वेश्वरदयालु वैद्य, बरालोकपुर, इटावा; सन् १९५२; मू० ४॥)

राजसिंह चरित्र (काव्य)—ले० ठा० केशरीसिंह बारहट; प्र० ओसवाल प्रेस, १८६ क्रॉस स्ट्रीट, कलकत्ता ७; सं० २०१०; मू० २॥)

रासलीला—ले० स्वामी विश्वेश्वरानंद गिरि; अनु० तथा प्र० श्री विश्वनाथ शास्त्री, १०२ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट, कलकत्ता ७; सं० २०१०, मू० ?

वंदना के बोल (कविता) - ले० श्री हरिकृष्ण प्रेमी; प्र० आत्माराम एंड संस, दिल्ली ६; सन् १९५२; मू० २।)

वितस्ता की लहरें (नाटक)—ले० श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र; प्र० आत्माराम एंड संस, दिल्ली ६; सन् १९५३; मू० १॥)

विवेक और साधना—ले० श्री केदारनाथ; प्र० नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद; सन् १९५३; मू० ४)

शब्दों का जीवन—ले० श्री भोलानाथ तिवारी; प्र० राजकमल प्रकाशन, बंबई; मू० २)

शिवालक की घाटियों में—ले० श्री श्रीनिधि सिद्धांतालंकार; प्र० आत्माराम एंड संस, दिल्ली ६; सन् १९५३; मू० ५)

श्री कृष्णचंद्र जी—ले० श्री जगतनारायण लाल; प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर, बनारस १; १९५३; मू० ।=)

श्री गुरु नानकदेव जी, श्री गौतमबुद्ध जी, श्री जगद्गुरु शंकराचार्य—ले० श्री जगतनारायण लाल; प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर, बनारस १; मू० प्रत्येक का ।=)

श्रीमद्वैष्णव सिद्धांत रत्न संग्रह—संकलक तथा प्रकाशक श्री श्यामलाल हकीम, श्री धाम, वृंदावन; सं० २०१०; मू० २)

श्री महात्मा जरथुस्त्र जी—ले० श्री जगतनारायण लाल; प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर, बनारस १; मू० ।=)

श्री मातुःसूक्तिसुधा—अनु० श्री जगन्नाथ वेदालंकार; प्र० श्री अरविंदाश्रम, पांडिचेरी; सन् १९५३, मू० ?

श्री रामानुजाचार्य, श्री वर्धमान महावीर जी—ले० श्री जगतनारायण लाल; प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर, बनारस; मू० प्रत्येक का ।=)

श्रीवृंदावनमहिमामृतम् (प्रथम-द्वितीय शतक, तथा तृतीय-चतुर्थ शतक)—सं० तथा प्र० श्री श्यामलाल हकीम, श्री धाम, वृंदावन; मू० क्रमशः ।।), ।।=)

सच्ची नागरिकता—ले० श्री मनरो लीफ; प्र० राजकमल प्रकाशन लि०, बंबई; १६५३; मू० १॥)

सर्वधर्मसमन्वय—ले० श्री जगतनारायण लाल; प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर, बनारस १; मू० ।=)

सौंदर्यशास्त्र—ले० डा० हरद्वारी लाल शर्मा; प्र० साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद; १६५३; मू० ३)

हजरत मुहम्मद साहब—ले० श्री जगतनारायण लाल; प्र० नारायण प्रकाशन मंदिर, बनारस १; मू० ।=)

हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव—ले० श्री मन्मथराय; प्र० साहित्यभवन लि०, इलाहाबाद; सन् १९५३; मू० २॥)

हमारे गाँवों का पुनर्निर्माण—ले० गांधी जी; प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद; सन् १९५३; मू० १॥)

हिंदी कहानियों की शिल्पविधि का विकास—ले० डा० लक्ष्मीनारायणलाल; प्र० साहित्यभवन लि०, इलाहाबाद; सन् १९५३; मू० १०)

हिंदी काव्य की प्रवृत्तियाँ—ले० श्री प्रभाकर माचवे, आदि; प्र० राजकमल प्रकाशन, बंबई; मू० २)

हिंदी के गौरव ग्रंथ—ले० श्री विपिनविहारी त्रिवेदी आदि; प्र० राजकमल प्रकाशन लि०, बंबई; मू० २)

हिंदी गद्य की प्रवृत्तियाँ—ले० श्री नलिनविलोचन शर्मा आदि; प्र० राजकमल प्रकाशन, बंबई; मू० २)

हिंदी साहित्य और साहित्यकार—ले० श्री सुधाकर पांडेय, एम० कॉम०, साहित्यरत्न; प्र० हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवापी, बनारस; मू० १।)

विविध

वाल्मीकि रामायण के तीन पाठ

नागरीप्रचारिणी पत्रिका वर्ष ५८, अंक १-२, पृष्ठ १ से ३५ तक मेरा उक्त लेख प्रकाशित हुआ है। हाल के अध्ययन के फलस्वरूप मुझे उसमें कुछ संशोधन एवं परिवर्धन करने पड़े हैं, जो निम्नलिखित हैं। कृपया पाठक उन्हें यथास्थान अंकित कर लें। संशोधित और परिवर्धित अंशों में भेद करने के लिये परिवर्धित अंशों के पहले तारक-चिह्न लगा दिए गए हैं।

पृ० ९ सं० ३४—राम वनगमन के पूर्व अपनी माता को अपने पिता दशरथ के हाथों सौंप देते हैं। यह प्रसंग तीनों पाठों में पाया जाता है (दा० ३८।१३-१४); किंतु गौड़ीय तथा पश्चिमोत्तरीय पाठों का एक पूरा सर्ग दाक्षिणात्य पाठ में नहीं है (दशरथ-विलाप, गौ० ३४, प० ३७)।

पृ० १३ सं० ६५ अ—*गौड़ीय पाठ (२३।१८-२५) में इसका वर्णन किया गया है कि राम के निकट जाने के पूर्व शूर्पणखा ने काम उत्पन्न करने के उद्देश्य से एक मोहक रूप धारण कर लिया—

> काममुत्पादयिष्यामि रूपेणान्येन कामिनी।

इस प्रकार का उल्लेख अन्य पाठों में नहीं मिलता।

पृ० १४ सं० ६७ अ—*पश्चिमोत्तरीय पाठ का एक पूरा सर्ग लक्ष्मण-विलाप (प० ७४) अन्य पाठों में नहीं है।

पृ० १४ सं० ६८ अ—*दाक्षिणात्य तथा गौड़ीय पाठों में लक्ष्मण यह आशंका प्रकट करते हैं कि कांचन मृग के रूप में कहीं मारीच न दिखाई दे रहा हो (दा० ४३, गौ० ४९)। लक्ष्मण की इस आशंका का पश्चिमोत्तरीय पाठ में उल्लेख नहीं है।

पृ० १५ सं० ७४ अ—*दाक्षिणात्य पाठ में ही लक्ष्मण कहते हैं कि मैं नूपुरों को छोड़कर सीता के अन्य आभूषणों को पहचानने में असमर्थ हूँ—

> नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले ॥ २२ ॥
> नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्। (किष्किन्धाकांड, सर्ग ६)

पृ० १६ सं० ७८ अ—*गौड़ीय पाठ के अनुसार (गौ० ५।२३-३१) राम सीता के आभूषणों को देखकर राक्षसों को धमकाते हैं। यह प्रसंग अन्य पाठों में नहीं है।

पृ० १६ सं० १०३—दाक्षिणात्य तथा पश्चिमोत्तरीय पाठों में हनुमान क्रमशः मैनाक, सुरसा तथा सिंहिका से मुठभेड़ करते हैं। गौड़ीय पाठ के अनुसार क्रम इस प्रकार है – सुरसा, मैनाक, सिंहिका।

पृ० २५ सं० १३६—गौ० ८९ तथा प० ६१, दोनों में इसका उल्लेख मात्र है कि सुग्रीव ने विभीषण को ग्रहण करने में आपत्ति की। सुग्रीव का पूरा भाषण दा० १७।२०-२५ और १८।४-२१ में दिया गया है।

पृ० २७ सं० १४६ अ—*गौड़ीय (सर्ग १६) तथा पश्चिमोत्तरीय (उत्तर०, सर्ग १५) पाठों में इसका उल्लेख नहीं किया गया है कि शिव रावण को चंद्रहास नामक कृपाण प्रदान करते हैं (दा० १६।४३)।

—कामिल बुल्के, एस०, जे०

सभा के कार्याधिकारी और प्रबंधसमिति के सदस्य

गत सौर १६ वैशाख सं० २०११ को हुए सभा के इकसठवें वार्षिक अधिवेशन में निम्नलिखित सज्जन सभा के कार्याधिकारी और प्रबंध समिति के सदस्य चुने गए—

कार्याधिकारी

सभापति—डा० अमरनाथ झा। उपसभापति—(१) श्री गुरुसेवक उपाध्याय, (२) श्री लक्ष्मणनारायण गर्दे। प्रधान मंत्री—डा० राजबली पांडेय। साहित्य मंत्री—डा० श्रीकृष्ण लाल। अर्थमंत्री—श्री मुरारीलाल केडिया। प्रकाशन मंत्री—श्री कृष्णानंद। प्रचारमंत्री—श्री करुणापति त्रिपाठी। संपत्ति निरीक्षक—श्री शुकदेव सिंह। पुस्तकालय-निरीक्षक—श्री श्रीशचंद्र शर्मा। आयव्यय-निरीक्षक—श्री मिश्र ब्रदर्स, बनारस।

प्रबंध समिति के सदस्य

(संवत् २०११-१३)

काशी—श्री बलदेव उपाध्याय, श्री गोविंदप्रसाद केजरीवाल, श्री सहदेव सिंह, श्री ठाकुर शिवकुमार सिंह, श्री चंद्रबली पांडेय। बंबई—श्री श्रीगोपाल नेवटिया। मध्यप्रदेश—श्री नंददुलारे वाजपेयी। राज्य—श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी। उत्तर प्रदेश—डा० संपूर्णानंद; राज्य—महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंह, श्री शांतिप्रिय आत्माराम। सिंहल—श्री सत्यनारायण। मद्रास—श्री श्रीप्रकाश।

(संवत् २०११-१२)

काशी—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री दिलीपनारायण सिंह, श्री आचार्य नरेंद्रदेव, श्री सुधाकर पांडेय, श्री मोतीसिंह। उत्तरप्रदेश—श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री गोपालचंद्र सिंह। राज्य—श्री मोतीलाल मेनारिया, श्री मेवराज 'मुकुल'। दिल्ली—श्री अशोक। असम—श्री सर्वजीत। मैसूर—श्री ना० नागप्पा। सिंध—(स्थान रिक्त है)। विदेश—श्री ए० जी० शिरफ, श्री रैल्फ टर्नर।

(सं० २०११ के लिये)

काशी—डा० राकेश गुप्त, श्री सिद्धनाथ सिंह, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, श्री प्रतापनारायण सिंह, श्री देवीनारायण। बंगाल—श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या। उत्कल—श्री शिवराम उपाध्याय। उत्तरप्रदेश—डा० उदयनारायण तिवारी, श्री प्रभात मिश्र। राज्य—श्री विद्याधर शास्त्री। पंजाब—श्री जगन्नाथ पुच्छरत। बिहार—श्री शिवपूजन सहाय। ब्रह्मदेश—डा० ओमप्रकाश।

—सहायक मंत्री

'पत्रिका की परिवर्तन-सूची, सं० २०१०

हिंदी

अदिति	पांडिचेरी
आगामी कल	खँडवा
आज (१) दैनिक (२) साप्ताहिक	काशी
आजकल	दिल्ली
आर्थिक समीक्षा	नई दिल्ली
आर्य मार्तंड	अजमेर
आलोचना	इलाहाबाद
कर्मवीर	खँडवा
कल्पना	हैदराबाद (दक्षिण)
कल्पवृक्ष	उज्जैन
कल्याण	गोरखपुर
किशोर	पटना
जनवाणी	काशी
जीवन साहित्य	नई-दिल्ली
जैन सिद्धांत भास्कर	आरा
ज्ञानोदय	काशी
दीदी	प्रयाग
धर्मदूत	सारनाथ
नईधारा	पटना
नया समाज	कलकत्ता
प्राणिशास्त्र	लखनऊ
भारत (१) दैनिक (२) साप्ताहिक	प्रयाग
भारती	नागपुर
भारतीय विद्या	बंबई
मरुभारती	बीकानेर
मध्यभारत संदेश	ग्वालियर
राष्ट्रभारती	वर्धा
राष्ट्रवीणा	अहमदाबाद
लोकमान्य	कलकत्ता
बिशाल भारत	कलकत्ता
विश्ववाणी	प्रयाग
वीणा	इंदौर
वेंकटेश्वर समाचार	बंबई
वैदिक धर्म	औंध
व्रजभारती	मथुरा
शांतिदूत	काशी
शिक्षा	लखनऊ
शोध पत्रिका	उदयपुर
संगीत	हाथरस
सचित्र आयुर्वेद	कलकत्ता

समाज शास्त्र	वनस्थली, जयपुर
सम्मेलन पत्रिका	इलाहाबाद
सरस्वती	इलाहाबाद
सार्वदेशिक	दिल्ली
साहित्य	पटना
साहित्य संदेश	आगरा
सैनिक	आगरा
स्वतंत्र भारत	लखनऊ
हरिजन सेवक	अहमदाबाद

अँगरेजी

इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली	कलकत्ता
ईस्ट ऐंड वेस्ट	रोम (इटली)
एनल्स ऑव ओरिएंटल रिसर्च	मद्रास युनिवर्सिटी, मद्रास
एनल्स ऑव द भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट	पूना
एनल्स ऑव द श्री वेंकटेश्वर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट	तिरुपति
ऐनुअल बिब्लयाग्रफी ऑव इंडियन आर्क्यालाजी	लीडन (हालैंड)
जर्नल ऑव दि इंडियन हिस्ट्री	त्रिवेंद्रम
जर्नल ऑव ओरिएंटल रिसर्च	मद्रास
जर्नल ऑव द बांबे ब्रांच ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी	बंबई
जर्नल ऑव द बांबे युनिवर्सिटी	बंबई
जर्नल ऑव द बिहार रिसर्च सोसायटी	पटना
जर्नल (क्वार्टली) ऑव द मीथिक सोसायटी	बंगलोर
जर्नल ऑव दि आंध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी	राजमहेंद्री
जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी	कलकत्ता
जर्नल ऑव दि ओरियंटल इंस्टिट्यूट	बड़ोदा
थियासाफिस्ट	काशी
दी जैन ऐंटिक्वेरी	आरा
बुलेटिन ऑव द डेकन कालेज रिसर्च इंस्टिट्यूट	पूना
बुलेटिन ऑव द स्कूल ऑव ओरिएंटल ऐंड अफ्रिकन स्टडीज्	लंदन
ब्रह्मविद्या	अद्यार, मद्रास
वाक्	पूना
विश्वभारती क्वार्टली	बोलपुर (पश्चिम बंगाल)
सेल्फ रिअलिजेशन मैगजीन	कैलिफोर्निया (सं० रा० अमेरिका)
हार्वर्ड जर्नल ऑव एशियाटिक स्टडीज	केंब्रिज (मसाचुसेट्स)

अन्य

केसरी (मराठी)	पूना
बुद्धिप्रकाश (गुजराती)	अहमदाबाद
भारत इतिहास संशोधक मंडल पत्रिका (मराठी)	पूना
विश्वभारती (बँगला)	कलकत्ता

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५८, सं० २०१०

संपादक

हजारीप्रसाद द्विवेदी : कृष्णानंद

सहायक संपादक

पुरुषोत्तम

पत्रिका के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

सूचना

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण एवं सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना साधारणतः एक मास के भीतर दी जाती है।

(४) लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग वा उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

(५) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। सभी प्राप्त पुस्तकों की प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है, परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

वार्षिक मूल्य १०) : इस अंक का २॥)

मुद्रक—महताब राय, नागरीप्रचारिणी सभा, नागरी मुद्रणालय, काशी।

वार्षिक विषय-सूची

सभा के नवीन प्रकाशन

भागवत संप्रदाय

ले० श्री बलदेव उपाध्याय, एम० ए०

भारतीय साहित्य और संस्कृति को भागवत अथवा वैष्णव धर्म की महत्त्वपूर्ण देन सर्वविदित है। परंतु इसके मूल तथा इसके भिन्न-भिन्न संप्रदायों के विकास और इतिहास को बतानेवाला कोई खोजपूर्ण ग्रंथ हिंदी में अभी तक नहीं है। इस ग्रंथ में विद्वान् लेखक ने बड़े परिश्रम से सामग्री एकत्र कर वैष्णव धर्म का उद्गम, विकास और प्रसार तथा भिन्न-भिन्न वैष्णव संप्रदायों के मतों की समीक्षा प्रस्तुत की है। पृष्ठ सं० ७००, सजिल्द, मूल्य ६)

भारतेंदु ग्रंथावली, भाग ३

संपादक श्री ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल-एल० बी०

भारतेंदु-ग्रंथावली के प्रथम भाग में भारतेंदु जी के नाटकों, द्वितीय में कविताओं और इस तृतीय भाग में उनकी समस्त गद्य रचनाओं का संकलन है। इस भाग के प्रकाशन से अब भारतेंदु जी का संपूर्ण साहित्य अध्येताओं के लिये प्रस्तुत हो गया है। मूल्य ९)

आदर्श और यथार्थ

ले० श्री पुरुषोत्तमलाल, एम० ए०

इस पुस्तक में आदर्शवाद और यथार्थवाद का विस्तृत विवेचन [illegible] में इनका उचित समन्वय दिखाया गया है और प्रसंगतः काव्य के स्वरूप तथा रस, अलंकार, भाव आदि विषयों पर विचार किया गया है। आरंभ में [illegible] आचार्य केशवप्रसाद मिश्र की विद्वत्तापूर्ण भूमिका है तथा अंत में दो उपयोगी परिशिष्ट हैं। पृ० सं० १७८; सजिल्द, मूल्य २॥)

नंददास ग्रंथावली

संपादक श्री ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल-एल० बी०

अष्टछाप के कवियों में नंददास जी का स्थान बहुत ऊँचा है। इस संग्रह में उनके समस्त उपलब्ध ग्रंथों का प्रामाणिक पाठ आवश्यक पादटिप्पणियों सहित दिया गया है। प्रारंभ में विस्तृत भूमिका और कवि की प्रामाणिक जीवनी भी दी गई है। मूल्य ५)

औद्योगिक ईंधन

ले० डा० दयास्वरूप, प्रभूलाल अग्रवाल, हीरालाल गुप्त

हिंदी में ईंधन-विज्ञान पर यह प्रथम पुस्तक है। उद्योग-धंधों की प्रगति के साथ-साथ औद्योगिक ईंधन के बढ़ते हुए महत्त्व को देखते हुए इस विज्ञान का महत्त्व स्वयं स्पष्ट है। इस पुस्तक में औद्योगिक ईंधन से संबंधित प्रायः समस्त बातों का संक्षेप में समावेश किया गया है। ईंधन-विज्ञान के विद्यार्थियों के लिये पुस्तक बहुत उपयोगी है। साथ ही सामान्य पाठकों के लिये भी ज्ञानप्रद है। ८४ चित्र भी दिए गए हैं। पृ० सं० ३५०; मू० ८

धातु-विज्ञान

ले० डा० दयास्वरूप

यह पुस्तक मुख्यतः धातु-विज्ञान के आरंभिक विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर प्रस्तुत की गई है। इसमें लोहा और इस्पात, ताँबा, एल्यूमिनियम, सीसा, जस्ता, राँगा, गिलट, सोना, चाँदी, मैंगनीज, क्रोमियम और टंग्स्टन—इतनी धातुओं का वर्णन किया गया है। धातुओं के वर्णन के साथ उनके उत्पत्ति-स्थान, शोधन-प्रक्रिया तथा उपयोग आदि सरल भाषा में बतलाए गए हैं। धातु शोधन के यंत्रादि का सचित्र वर्णन करते हुए धातु के कारखानों और उनकी कार्य-पद्धति का भी पता दिया गया है। हिंदी में यह अपने विषय की सर्वप्रथम प्रामाणिक रचना है। पृ० सं० ३०८ से ऊपर; मू० ६)

हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों के त्रैवार्षिक खोज-विवरण

युक्तप्रदेशीय सरकार की सहायता से सभा द्वारा जो हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का कार्य होता है उसके सन् १९०० से १९२५ तक के विवरण उक्त सरकार द्वारा अंग्रेजी में प्रकाशित; १९२६ से ४९ तक के विवरण अबतक अमुद्रित पड़े थे। अब सरकार की सहायता एवं अनुमति से सभा ने उन्हें गत वर्ष से हिंदी में छापना आरंभ किया है। निम्नलिखित विवरण छपकर तैयार हो चुके हैं—

(१) सन् १९२६-२८; संपादक डा० हीरालाल; रायल अठपेजी पृष्ठ सं० ८४८; सजिल्द; मू० २१)

(२) सन् १९२९-३१; संपा० डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल; रा० अठ० पृष्ठ सं० ७०६; सजिल्द, मू० १५)

मुद्रक—महताबराय, नागरीप्रचारिणी सभा, नागरी मुद्रणालय, काशी।